पन्त का काव्य और युग

●

यशदेव

किताबमहल • इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९५१

समर्पण

अमित स्नेहमयी बहिन को

जो मेरी सम्पूर्ण कोमल अनुभूतियों की प्राण है,

सम्पूर्ण सत्प्रवृत्तियों की प्रेरणा है

मेरी काव्य है . . . जीवन है . . . सर्व है . . .

प्रकाशक—किताबमहल, इलाहाबाद

मुद्रक—रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्राक्कथन

जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, इसमें पन्त-काव्य के साथ साथ युग का भी अध्ययन विस्तार से किया गया है। वास्तव में मुझे युग के अध्ययन पर ही अधिक परिश्रम करना पड़ा है और इस पुस्तक में उसी अध्ययन का अधिक महत्व है। युग सम्बन्धी ये निबन्ध एक शृंखला में है अतः इन्हें क्रमश. पढ़ना आवश्यक है।

भूत विज्ञान में आमूल क्रान्ति हो जाने से—जिसका अधिक श्रेय अल्बर्ट आईंस्टीन को है—दर्शन के क्षेत्र में भी क्रान्ति हो गई है। कुछ तो इस कारण से, कुछ स्वयं अपनी चिन्तन-प्रणाली के कारण मेरी विश्व की दार्शनिक व्याख्या, जो नूतन रहस्यवाद में की गई है, ठीक वही नहीं है जो मार्क्स की थी। मार्क्स को, मै समझता हूँ यदि वह देखें तो, प्रसन्नता ही होगी कि विज्ञान ने आगे उन्नति कर के दर्शन में इतनी क्रान्ति ला दी है।

छा० वा० की पृ० भू० निबन्ध में मैंने महादेवी जी को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया है और पन्त जी को आवश्यकता से कम; यह संशोधन अनिवार्य है। इस गलती का अनुभव मुझे प्रूफ देखते हुए हुआ—अतः यहाँ लिख रहा हूँ।

परिशिष्ट लिखने के लिए मुझे बहुत कम समय और बहुत अपर्याप्त सामग्री मिल सकी। यह अध्याय भी मैंने प्रूफ देखते हुए ही लिखा है, अतः इसमें सन्तोषजनक पूर्णता नहीं। तो भी अपने दृष्टिकोण और शब्दों के लिए मै पूर्ण रूप से उत्तरदायी हूँ।

इस पुस्तक से कुछ निबन्धो के अश जनवाणी, हंस, नयी चेतना तथा साहित्य सन्देश मे प्रकाशित हुए थे। हंस जनवरी में 'प्र० वा० सा० से' शीर्षक निबन्ध मे—जो यहाँ 'प्रगतिवाद की पृ० भू० मे' का तृतीय भाग है, मेरे नाम के साथ श्री प्रेमसागर शास्त्री का नाम भी प्रकाशित हुआ था। वहाँ उनका नाम मैंने इसीलिए दे दिया था क्योकि उनके भी बहुत कुछ वही विचार थे, जो मैने वहाँ रखे थे। हम दोनों पिछले पाच वर्षो से भी अधिक समय से साथ साथ रहे है, साथ ही अनुभव किया है और साथ ही अध्ययन, यद्यपि अब मै दर्शन की ओर अधिक झुक गया हूं और वे कथा साहित्य की ओर। उनके साथ बहस करते हुए मुझे जो लाभ हुए उनके लिए मुझे उनका आभारी होना चाहिए, किन्तु वे मेरे इतने समीप है कि आभार प्रदर्शन विचित्र-सा लगता है।

अस्तु, अपनी यह प्रथम पुस्तक पाठकों के हाथ में देते हुए मैं आशा करता हूँ कि वे इसका उचित स्वागत करेंगे।

लाइन बाजार
फरीदकोट (पैपसू)
७।७।५१

यशदेव

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन—

१. स्थापना १–२५
(१) भाव और विचार १–७
(२) काव्य की परिभाषा ७–२५
२. छायावाद की पृष्ठभूमि मे २६–६६
(१) सामाजिक विकास सूत्र २६–३६
(२) छायावाद की सामाजिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि ३६–५०
(३) छायावाद की काव्यगत पृष्ठभूमि ५०–६६
३. छायावादी कवि पन्त के विचार और प्रवृत्तियाँ ६७–७९
४. पन्त का छायावादी काव्य ८०–१५५
एक विहगम् दृष्टि ८०–८३
वीणा: वीणा का कवि आध्यात्मिक है ८३–८५
वीणा की प्रार्थना परक कविताएँ ८६–८८
वीणा मे असंगति दोष ८८–९०
ग्रथि : ग्रथि की भाव धारा ९०–९३
ग्रंथि का काव्य सौन्दर्य ९३–९६
पल्लव : पल्लव का सिंहावलोकन ९७–९९
पल्लव में प्रकृति चित्र ९९–१०८
पल्लव का काव्यसौन्दर्य-'परिवर्त्तन' १०८–११२
पल्लव का काव्य-सौन्दर्य—अन्य कविताएँ ११२–११७

पल्लव में असंगतियाँ और छिछलापन :—
उछ्वास कविता ११७–१२५
पल्लव मे असंगतियाँ और छिछलापन —
अन्य कविताएँ १२५–१२८
गुंजन : साधारण दृष्टिपात १२८–१२९
गुजन में सुख-दुख समन्वय का काव्य १२९–१३३
गुजन मे प्रेम -काव्य १३३–१३९
गुजन में प्रकृति सौन्दर्य का काव्य १३९–१४८
गुजन की शेष कविताएँ १४८–१५५
५. युगान्त—एक श्रृंखला १५६–१६३
युगान्त की विचार धारा १५६–१६०
युगान्त का काव्य सौन्दर्य १६०–१६३
६. प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि मे १६४–२०१
(१) प्रगतिवाद की राजनैतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि १६४–१७५
(२) विषय प्रधानवाद (Objectivism) समर्पित १७६–१८७
(३) प्रगतिवादी आलोचक और काव्य १८७–२०१
७. प्रगतिवादी पन्त के विचार २०२–२११
८ प्रगतिवादी पन्त का काव्य सिंहावलोकन २१२–२१८
युगवाणी में काव्य-सौन्दर्य २१४–२१९
ग्राम्या में काव्य-सौन्दर्य २२०–२३८
९. नूतन रहस्यवाद २३९–२७९
(१) भूतविज्ञानवाद, सोद्देश्यतावाद, हेतुवाद, शून्यवाद और ब्रह्मवाद २३९–२५०
(२) विश्व की दार्शनिक व्याख्या २५१–२६८

(३) समाज निर्माण और अस्तित्व रक्षा की प्रवृत्ति .— ''
तर्क सम्मत समाज (Rational Society) २६२–२७५
नू० रहस्यवादी मनोविज्ञान—एक भ्रान्ति २७५–२७९
१०. नूतन रहस्यवादी पन्त के विचार २८०–२९५
११. नूतन रहस्यवादी पन्त का काव्य सिंहावलोकन २९६–३६५
स्वर्णकिरण . एक सामान्य दृष्टि २९८–३११
स्वर्णकिरण में शारीरिक सौन्दर्य का काव्य ३११–३१५
स्वर्णकिरण की कुछ फुटकल कविताएँ ३१५–३१९
स्वर्णकिरण : 'स्वर्णोदय' ३१९–३२६
स्वर्णकिरण : —अशोक वन ३२७–३३०
स्वर्णधूलि ३३०–३४७
उत्तरा ३४८–३६१
युगान्तर ३६२–३६५
उपसंहार ३६६–३७५
परिशिष्ट (पन्त के आलोचक) ३७६–३९५

स्थापना

मानव-विकास के सूत्र खोजते हुए हम सहज ही उस प्राणी के पास पहुँच जाते हैं जो मनुष्य का आकार तो ग्रहण कर रहा था किन्तु अपनी क्रियाओं और उनकी प्रेरणाओं का सजग-चेता न बन सका था, उसमें काम, क्रोध, भय, विस्मय इत्यादि की प्रवृत्ति तो थी किन्तु यह प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया मात्र थी। इस प्रवृत्ति का जन्म प्रतिक्रियाओं के रूप में हुआ था या यह प्रतिक्रियाओं की साक्षी बनी,—अर्थात् काम विरोधीलिंगीकी प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ या प्रथमतः काम की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, यह विषय विवादास्पद है। क्योंकि चेतन को जड का गुणात्मक परिवर्तन स्वीकार करके इस प्रवृत्ति को भी उसका अनिवार्य गुण स्वीकार नहीं किया जा सकता। चेतना तो द्रष्टा है प्रवृत्ति नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह प्रवृत्ति कोई अलौकिक प्राप्ति है, यहा तो केवल प्रतिक्रिया और उस (प्रवृत्ति) का संबध-ज्ञान ही अभीष्ट है। यह स्वय चेतना का विकास है। विज्ञान से जड या मात्रा के मूल तत्व तथा चेतन के उसका गुणात्मक परिवर्तन सिद्ध हो जाने पर कुछ आध्यात्मवादी विचारक अब उसका किसी सूद्दिष्ट बिन्दु की ओर प्रयाण मानने लगे हैं।* उनकी धारणा है "यदि जड़ से जीवन की सृष्टि हो सकती है—जैसा कि विकासवाद का बुनियादी सिद्धात है—तो इस क्रिया की अगली सीढियाँ भी बहुत स्वाभाविक जान पड़ती हैं। जड से जीवित, जीवित में चैतन्य, चैतन्य से प्रेरणायुक्त अथवा सोद्देश्य

* विशेष नूतनरहस्यवाद-अध्याय में।

. . . यह सिद्धांततः असभव तो नही है कि विकास-क्रिया आरभ से ही सोद्देश्य रही हो—कम से कम इस अर्थ मे कि आगे चलकर सोद्देश्य हो जाना उसकी गति मे निहित था* ।" किन्तु यह एक भ्रमात्मक धारणा है । यदि जड का प्रारभ से ही सोद्देश्य विकास मान लिया जाए तो उसके किसी चेतन नियता को भी स्वीकार करना आवश्यक हो जाएगा जो उसके विकास की गति और दिशा का निर्धारण कर सके, क्योकि जड़ का सोद्देश्य होना संभव नही । यदि अज्ञेय जी यह संभावना करते है कि जड से जीवन की सृष्टि हुई, 'मान ली जाए' तो उसके साथ ही दूसरी सभावना कि "उसकी गति-विधि सोद्देश्य भी रही" की सभावना नही कर सकते । इससे स्वतः दूसरा सिद्धांत भी उत्पन्न होता है कि चेतन का निरुद्देश्य होना भी असभव है । यह ठीक है, किन्तु स्पष्ट ही मनुष्येतर प्राणियो में सोद्देश्यता का अत्यन्ताभाव है । वास्तव मे चेतन जड का विकासमात्र होने से उसकी अपनी क्रियाओ का साक्षीमात्र है । चेतना का अर्थ किसी उपलब्धि की चेतना ही नही है । सोद्देश्यता की चेतना सामाजिक मनुष्य मे ही उपलब्ध है जो उसको सामाजिक वरदान है । इसका अर्थ यह नही कि समाज के बिना मनुष्य वही होता जो प्रवृत्तिभूत अन्य पशु होते है, प्रारभ से ही भालुओं के साथ रहने वाला मनुष्य भालू की मानसिक स्थिति मे नहीं हो सकता, किन्तु इस अवस्था मे अपनी प्रवृत्तियो का स्वतन्त्र भावन भी उसको उपलब्ध नही हो सकता था ।** अपनी विशेष विकसितावस्था के कारण ही वह समाज बनाने मे स्वतन्त्र हो सका है, नही तो हाथी-हिरण या कीट-पतंग इत्यादि भी समूह में रहते हुए समाज बना सकते थे । पर यह भी सत्य है कि भालू के साथ रह कर वह दिल्ली के नागरिक की मानसिक शक्ति,

* त्रिशंकु पृ० ८८ ।

** विशेष प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि—२ में देखें ।

भावना-स्मृति इत्यादि भी प्राप्त नही कर सकता था। उस अवस्था मे वह अधिक विकसित पशुमात्र होता, जैसे अजगर से बन्दर।

अत: स्पष्ट ही हमारे चेतना-विकास मे समाज ही मूल कारण है—अतएव सोद्देश्यता भी किसी अलौकिक प्रेरणा का परिणाम नही हो सकती।

समाज, जैसा कि अनेक समझते है, इकाइयो की समूह-स्थिति नही; यदि ऐसा होता तब तो कोई भी झुड 'समाज' सज्ञा पा जाता। समाज वास्तव मे सजीव व्यक्ति-समष्टियो की रासायनिक अन्विति है। व्यक्ति, जैसा कि हम पहले कह आए है, इकाई नही—उस रासायनिक समष्टि का अश है अत: अपनी वैयक्तिक स्थिति मे भी समष्टि ही है। अपनी उन्नत से उन्नततर कल्पना में और गभीर से गंभीरतम चिन्तन में भी, वह समाज से बाहर कही नहीं जा सकता। विज्ञान या समाज शास्त्र स्पष्ट ही वाह्य प्रकृति के साथ हमारे सामूहिक संघर्ष के परिणाम है इसे स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नही हो सकती। किन्तु प्रेम की सूक्ष्मतम भावात्मक स्थिति मे, भक्ति की पावनतम एकात्मलीनता मे और व्यथा की चरम आनन्दावस्था मे भी व्यक्ति सामाजिक परिवृत्ति मे ही घिरा रहने को बाध्य है, यह अनेक कोमल स्वभाव के 'सहृदय' व्यक्ति सुनना पसन्द नही कर सकते। वास्तव मे व्यक्ति की यह भावात्मक स्थिति उसकी उस वितर्कात्मक स्थिति से-जिसमे विज्ञान का ग्रहण होता है—सर्वथा भिन्न है, क्योकि यह भाव-स्थिति प्रवृत्ति के सयमन का परिणाम है, दूसरे शब्दो मे हमारे अन्तर्सघर्ष की उद्भूति है। किन्तु वितर्क और भावना के बीच यह कोई दृढ़ भित्ति भेद नही। विचार, जो हमारे वाह्य सघर्ष का वरदान और साथ ही उसके परिणामो और प्रतिक्रियाओं के संयोजक और सग्राहक है, वही हमारी प्रवृत्तियो के भी निर्देशक है। विचार के बिना हमारा प्रवृत्तियो का भावन असभव था। अनेक बार, और प्राय:, हमारी प्रवृत्तिया (Instincts) भी हमारे विचारो को प्रभावित

करने में सफल होती है। अत. बाह्य अतर को और अन्तर बाह्य को निरन्तर प्रभावित करते चलते है, और समानान्तर पर ही विकसित होते है।

अत: काव्य और कलाएँ व्यक्ति का विक्षिप्त क्रन्दन नही, मानसिक भूमि पर सजग योग-दान है। काडवैल के विचारो में——

In poetry itself this takes the form of man entering into emotional communion with his fellow-men by retiring into himself. Hence when the bourgeoise poet supposes that he expresses his individuality and flies from reality by entering into a world of art in his inmost soul, he is in fact merely passing from the social world of rational reality to the social world of emotional commonness ?*

"काव्य में व्यक्ति अपनी परिवृत्ति के साथ अनुभूति की साधारण भाव-भूमि पर अन्तर की ओर लौटता है। इसीलिए जब पूजीवादी कवि कल्पना करता है कि वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की अभिव्यक्ति कर रहा है और इस दृश्य जगत से कही दूर सौदर्य और कला के अखिलानन्द आकाश मे अपने पख चुडला रहा है, उस समय वह वास्तव में, केवल सामाजिक यथार्थ की वितर्कात्मक (बौद्धिक) भूमि से सामाजिक अनुभूति की भाव-भूमि में प्रवेश करता है।" बस इतना ही।

हमारी भाव-स्थिति, चाहे वह कितनी भी सूक्ष्म और कोमल क्यों न हो, यदि वह सामाजिक चेतना न होती तो, हमें स्वभावत: उसके सघर्ष मे भी आना होता, क्योकि हम निरन्तर प्रकृति से संघर्ष कर रहे हैं; और तब उसका काव्य का विषय होना असंभव हो जाता।

* Illusion and Reality, p. 106

भावनाओ को हमने 'मूलत.' प्रवृत्ति कहा है और प्रवृत्ति सामाजिक नही होती---यह भी हम पीछे देख आए हैं, तब फिर प्रवृत्ति क्या है ?

प्रवृत्ति वास्तव मे चेतन का स्वाभाविक प्रवर्तन है । जैसे बाह्य प्रकृति को परिवर्तित कर हम बिजली इत्यादि बनाते है उसी प्रकार अन्त. प्रवृत्ति का प्रवर्तन कलाओ मे भी संभव है । मनुष्य की पाशवावस्था मे अत: प्रकृति मे सुख-दुख या हर्ष-विषाद की स्थिति केवल प्रतिक्रियात्मक स्थूल प्रक्रिया होती थी और अतएव वह क्षणिक भी---जैसा कि आज भी हम पशुओ मे पाते है । प्रतिक्रिया के कारण के न होने पर वह उसका भावन नही कर सकता और न वह प्रतिक्रिया न होने देने मे ही स्वतन्त्र है । भावन की यह शक्ति सामाजिक प्राप्ति है, जैसा कि आगे हम देखेगे, अत. व्यक्ति के सुख-दुख भी सामाजिक अधिनियम से ही सयोजित होगे । "डा० भगवानदास ने सुख-दुख को आत्मा की मात्रा माना है"* और सुधांशु जी ने भी इसका समर्थन किया है, किन्तु सुख और दुख वास्तव में आत्मा की मात्रा नही मात्रा (जड) की गुण-स्थिति है और असामाजिक प्राणी मे वह केवल स्नायविक प्रतिक्रिया मात्र ।

समाज व्यक्ति का निर्माण करता है, किन्तु समाज स्वयं व्यक्तियो की सजीव अन्विति है, अतः व्यक्ति भी समाज का निर्माण करता है । यह उभयविध निर्माण इतना समवेत और संपृक्त है कि इसे पृथक् करना सहज नही । अनेक बार व्यक्ति समाज को अपने विरोधी पक्ष मे देखता है, उसकी भावनाएं और विचार उस 'परिधि' में जैसे घुटन का अनुभव करते हैं, उस अवस्था मे व्यक्ति विद्रोह भी करता है; किन्तु ऐसी स्थिति या तो सामाजिक-विकास में अवरोध उत्पन्न हो जाने पर ही होती है या व्यक्तित्व के असाधारण किन्तु असंबद्ध विकास के सभव हो जाने पर । किन्तु यह

* जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत ।

विद्रोह ही व्यक्ति के जीवन मे सामाजिक आवश्यकता की अनिवार्यता को प्रमाणित भी करता है । विद्रोह का कारण सदैव 'अपनी' भावनाओ या विचारो के विकास मे समाज का बाधक बनना ही होता है । स्वभावत यदि समाज उसमे बाधक न बने तो वह विद्रोह नही उठ सकता । इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति समाज को तोडने का प्रयास अपने अनुकूल बनाने के लिए ही करता है । किन्तु यदि उसके पास केवल ध्वंस ही है तो या तो वह स्वय उसमे पलायन करेगा या नष्ट हो जाएगा । वह समाज को कुछ समय तक क्षुब्ध भी कर सकता है (यद्यपि 'समाज' की ही सहायता से) किन्तु अपने अनुकूल नही । यदि उस (व्यक्ति) के पास उस (समाज) की शीर्ण रूढियों को स्थानान्तरित करने के लिए कोई निश्चित कार्य-क्रम भी है तब वह असफल होकर भी सामाजिक-स्वीकृति पा जाएगा । कुछेक के विचार मे विद्रोही होना भी किसी के महान व्यक्तित्व का एक अनिवार्य विशेषण है, वे कहते है "महान् लेखको को भी अनिवार्य-रूप से विद्रोह-सत्व होना चाहिए" ।* यह एक मधुर आदर्श है जिसके मूल में पूजीवादी समाज की वह अनिश्चित और विशृंखलित योजना है, जो निरन्तर व्यक्ति और समाज मे एक तीव्र सघर्ष के रूप मे अभिव्यक्ति पा रही है । पर किसी भी लेखक का विद्रोह-सत्व होना उसके निर्माण-गर्भ होने पर ही उपयुक्त कहा जा सकेगा; इसीलिए पुराने विप्लव राग आज अपनी पृष्ठ-भूमि के साथ ही विरोध का विषय बने है । इसी प्रकार

Who says I am Wrong ?

—डी० एच० लारेंस,

जैसी कविताए तब विक्षिप्त के क्रन्दन से अधिक कुछ नही समझी जा सकती यदि लेखक के पास Right का आदर्श नही । पूजीवाद के कारण

* त्रिशंकु पृ० ५२ ।

ही आज समाज एकदम विशृंखलित और व्यक्ति पूर्णरूपेण निराश है। टी० एस इलियट चाय के प्यालों में खाण्ड के समान अपने जीवन को खुरते देखता है और 'नवीन' महानाश देखना चाहता है। कुछ ऐसे भी हैं जो 'प्रेयसी' के अधरों मे अपने प्राणों को सुला देना चाहते हैं।

इसका यह अर्थ नही कि प्रेम काव्य नही होना चाहिए, किन्तु प्रज्वलित लालसा प्रेम नही—कदापि नही। यह सत्य है कि काव्य का भावात्मक संसार साधारण विधि-निषेध के न केवल अनुकूल ही नही होता, कभी कभी प्रतिकूल भी होता है। शकुन्तला मे कवि दुष्यन्त और शकुन्तला के 'प्रतिषिद्ध' प्रेम को अपने नाटक का विषय बनाता है, मेघदूत मे निर्वासित यक्ष को महान वरदानो से धन्य करता है, किन्तु इन दोनो ही स्थानों पर हम न तो दुष्यन्त को ही शकुन्तला का धर्षण कर बाद को उसे वञ्चित करते देखते है या उसके अधरो मे अपने 'सन्तप्त' प्राणो को मदिरा पिलाते हुए पाते हैं और न यक्ष को ही कोई षडयन्त्र करते और बादलों में अपनी भुजाए तुड़ाते। दोनों ही स्थानो पर और विशेषत: शकुन्तला में महाकवि जीवन को सघर्षो (आन्तरिक) में निखरते दिखाता है—विस्मृति खोजते नही, यही उसकी सार्थकता है। यदि कोई काव्य को दृप्तवासनाओं का प्राकृतिक Natural (असामाजिक) उपभोग समझता है तो वह गलत समझता है। कला की भूमि पर हम प्रवृत्तियो का परिष्कार करते हैं, प्रकृति Nature पर विजय पाते हैं—उसको दिशा देकर ,जिससे हमारे जीवन को आनन्दमय आधार मिल सके; बस यही सौदर्य की सामाजिक साधना है।

(२)

तो काव्य क्या है ?—हमे अपनी इस विवेचना के पश्चात् देखना चाहिए। महादेवी जी के विचार मे "सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य

उसका साधन है।"* किन्तु स्पष्ट ही काव्य का यह लक्षण न होकर विशेषण है, अत: इस वाक्य को निरापत्तिक बनाने के लिए हम इसे इस प्रकार रख देते हैं "सत्योन्मुख सौन्दर्य काव्य है।" इसे और भी अधिक ठीक शब्दो में रखते हुए हम कहेगे "सत्योन्मुख सौन्दर्यानुभूति की शब्दात्मक अभिव्यक्ति काव्य है।" किन्तु यह लक्षण कहा तक उपयुक्त है ? इसे समझने के लिए हमें सत्य और सौन्दर्य का अर्थ समझ लेना होगा। दुर्भाग्य-वश महादेवी जी ने इनकी कोई परिभाषा नही दी और न कोई स्पष्ट व्याख्या ही की है, तो भी हम उनके 'जो कुछ भी है' के आधार पर यदि अनुमान लगाए तो सौंदर्य से उनका तात्पर्य रूपमात्रा से है और सत्य वे सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्ता को मानती है। किन्तु यह समझ लेने पर भी कुछ प्रश्न रह जाते है, क्या रूप (सौन्दर्य) विपयी सापेक्ष्य है या निरपेक्ष्य—अथवा यह विषयी की ही द्वैत-स्थिति है ? यदि इतना आगे न भी जाएं तो भी उनके लक्षण को ठीक स्वीकार कर लेने म अनेक कठिनाइया है।

क्योकि सौंदर्य कोई स्वत-प्रमाण तत्व नही, वह विषय (रूप) के साथ विषयी (व्यक्ति) का भावात्मक सबध है और सत्य विषय के साथ व्यक्ति का वितर्कात्मक संबध, अत: महादेवी जी से हमारा मतभेद आधार से ही है।

किसी वस्तु को सुन्दर या असुन्दर समझने के लिए हमारा उसके साथ भावात्मक योग अनिवार्य है, क्योंकि वस्तु (विषय) के बिना रूप की सत्ता संभव नहीं और व्यक्ति-विषय-के बिना अनुभूति की। सौन्दर्य बोध है इससे वह उपचेतन मन की क्रिया नही क्योंकि बोध आन्तरिक चेतना की वस्तु के साथ स्पष्ट और क्रियात्मक स्थिति का ज्ञापक है फलत: सौन्दर्य-बोध चेतन मन का ही व्यापार हो सकता है। चेतन मन Conscious

* दीपशिखा की भूमिका, पृ० १।

mind उपचेतन-प्रवृत्ति Instinctive mind पर नियन्त्रण और विजय का परिणाम है। क्योकि यह सघर्ष और विजय वैयक्तिक नही सामाजिक है अतएव सौन्दर्य-बोध भी सामाजिक वरदान ही है। यदि सौदर्य को प्रवृत्ति Instinct मान लिया जाय तो इसे हमे पशुओ मे भी स्वीकार करना होगा।

इस प्रकार सत्य को भी हम किसी अखण्ड और अपरिवर्तनीय स्थिति के रूप मे नही देख सकते। सत्य का शब्दार्थ विद्यमानता है और सामान्यत यही समझा भी जाता है, किन्तु केवल विद्यमानता ही सत्य नही और न सभी विद्यमानताएं ही सत्य है। यदि केवल विद्यमानता को सत्य मान लिया जाय तो निरन्तर होनेवाला तीव्र परिवर्तन न तो हमारे विचारों का ग्राह्य होगा और न भावो का गम्य, और यह तीव्र परिवर्तन ही प्रारभिक विद्यमानता यावर्तित्व-है। यदि सभी विद्यमानताओ को हम सत्य मानले तो विक्षिप्त का प्रलाप ओर स्वप्न सचरण भी सत्य समझा जाना चाहिए। विक्षिप्त की वुद्धि या भावना मे कोई विद्यमानता सत्य हो सकती है और इसी प्रकार स्वप्न का सुख-दुख भी स्वप्नस्थ व्यक्ति के लिए सत्य ही है, किन्तु यह व्यक्ति की उपचेतन स्थिति ही है, उसका समाज से (व्यक्ति की चेतन स्थिति से) कोई सबंध नही, यही कारण है कि वह सत्य नही समझा जाता। अत. सत्य विद्यमानता को नही कहा जा सकता क्योकि हमे उसकी चेतना नही हो सकती। परिणामत., विद्यमानता का क्या हो सकता है, यही सत्य है; क्योकि विद्यमानता हमे सामाजिक परिवृत्ति में परिचय देती है, और वह पिछले के आधार पर हुई' होती है।

सत्य और सौन्दर्य की इस परिभाषा के अनुसार महादेवी जी का काव्य का लक्षण ठीक नही जान पड़ता, क्योकि अन्तर्यथार्थ और वाह्य यथार्थ (Perceptional truth & conceptional feeling) बिम्ब-प्रतिबिम्बरूप मे एक दूसरे को इस तरह प्रभावित करते रहने है कि उनकी सपृक्तता को

भिन्न नही किया जा सकता। इस तरह न तो कोई अखण्ड-सत्य ही है और न 'स्वतन्त्र' सौन्दर्य। यदि सत्य और सौदर्य की महादेवी जी की परिभाषा भी मान ली जाय तो भी यह लक्षण अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनो ही दोषों से दूषित है। अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, मेघदूत, रघुवश, लहर, आँसू, उत्तररामचरित और इसी प्रकार की अन्य अनेक महान कृतिया किसी भी पारमार्थिक सत्य के—यदि वह सौदर्य से परे है तो —अनुसंधान के लिए कहा से बेचैन है ? इसी प्रकार अनेक अन्य कलाएं, जहा पूर्ण सत्य के अनुसधान का उपक्रम है, भी इसी लक्षण के अन्तर्गत आ सकती है। महात्मा बुद्ध या विष्णु की मूर्ति का निर्माण कलाकार 'पूर्णसत्य' की खोज के लिए कर सकता है। सत्य की खोज या उसकी ओर उन्मुखता किसी काव्य का लक्षण हो सकती है उसी प्रकार जैसे कोई अपनी प्रेयसी, या स्रोत के सौन्दर्य से अनुप्राणित हो सकता है, अतः काव्य का पूर्ण लक्षण यह नही हो सकता। काव्य की प्रेरणा तो सौन्दर्यानुभूति है, वह चाहे अपनी प्रेयसी की आँखों से हो या असीम प्रिय से अथवा भविष्यत का निर्माण करते कोटि कोटि दृढ-हस्तो से।

अज्ञेय जी के विचार मं "कला-सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।" अपनी इस स्थापना को स्पष्ट करने के लिए वे एक ऐसे मनुष्य की कल्पना करते है जो विकलाग होने से अपने अहेर जीवी साथियो के साथ न जा सकने के कारण तिरस्कार का विषय बना हुआ है और अपनी उस अनुभूति को साथियों की आँखो मे गलत प्रमाणित करने के लिए गुफा की भित्ति पर एक सुन्दर चित्र का निर्माण करता है। वे कहते है "हमारे कल्पित 'कमजोर' प्राणी नं हमारे कल्पित समाज के जीवन मे भाग लेना कठिन पाकर, अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित

कर दिया है—उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है—सौन्दर्य बोध ।"*

इसका अर्थ यह हुआ कि सौन्दर्य-बोध व्यक्ति के उन अवकाश-क्षणो की प्रसूति है जो असमर्थता-ज्ञान (Inferiority complex) से विकल है; दूसरे शब्दो मे वह सामूहिक श्रम के उपभोग-काल मे सामूहिक आनन्दानुभूति के आवेग की उपभुक्ति नही, या सौदर्य-बोध सामाजिक श्रम मे जन्म न लेकर असामाजिक अवकाश के क्षणो मे, जो अपनी असमर्थता और निर्बलता से पीडित है,—जन्म लेता है। किन्तु ऐसा नही है। एकान्त मे भित्ति-चित्र बनानेवाला विकलाग व्यक्ति भित्ति चित्र कैसे बनाने लगा ? पहले हमे यह देख लेना चाहिए ।

हिरण का चित्र बनाने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति (चित्रकार) का उसके साथ अनुभूति-मूलक योग भी हो। अनुभूति के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी प्रतिक्रियाओ की, जो हिरण को देखकर उत्पन्न हुई थी, आवृत्ति करे-अर्थात् स्मरण करे। स्मृति या आवृत्ति सदा प्रभावरूप होती है, शरीर रूप नही, क्योकि दूसरी अवस्था मे तो उसी हिरण को पुनः आँखो के आगे लाना चाहिए और उसकी प्रतिक्रिया सब द्रष्टाओ पर प्रतिबिम्बात्मक या प्रवृत्ति-मूलक होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। अनुभूति या आवृत्ति सदैव भाषा के माध्यम से ही सभव है चाहे बाह्य अभिव्यक्ति उसकी किसी रूपमे भी क्यो न हो। यदि भाषा न हो तो हम कोई आवृत्ति नही कर सकते। भाषा समाज की दुहिता है, जिसे उसने प्रकृति के साथ सामूहिक सघर्ष में पाया है, अतः अनुभूति और उस की अभिव्यक्ति दोनो ही सामाजिक है।

* त्रिशंकु पृ०, २६ ।

किन्तु प्रश्न का यह सपूर्ण उत्तर नही, क्योकि व्यक्ति अनुभूति की शक्ति समाज से पाकर भी उसका स्वतन्त्र उपयोग कर सकता है, जैसे हिरणो को देख कर समाज ने स्वतन्त्र रूप से उसकी प्रभावात्मक आवृत्ति करनी सीखी ।

यह हम पहिले ही कह चुके हे कि व्यक्ति अन्विति ह, अत अनुभूति की स्वतन्त्रता का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता; जहा तक कला की उत्पत्ति का सबध हे, उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति सर्वप्रथम गायन और नृत्य मे ही सभव है जो सामूहिक उपभोग के क्षणो का स्वाभाविक उल्लास है । चित्रकला की उत्पत्ति की सभावनाए भी इसी के समीप हमें खोजनी होगी । प्राचीन भित्ति चित्रों से इसी बात का समर्थन होता है । कला को वैयक्तिक अपर्याप्तता की अनुभूति को गलत प्रमाणित करने का प्रयास कहना कितना उपहासास्पद है, क्योंकि भावना उन क्षणों में वह योग दे ही नही सकती जो कलात्मक बोध या सौंदर्य चेतना का प्राण है । यदि कला को वैयक्तिक अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह मान ही लिया जाय तो उन आदिम व्यक्तियो को-जो अहेर के कठिन सघर्ष मे विजयी होकर आए हे और उसी स्वहस्त-उपार्जित वस्तु का जो अब उपभोग करेंगे—उस सृजन के प्रति कोई आकर्षण नही होना चाहिए, अत. कला का आदि स्रोत अपर्याप्त की व्यथा नही पर्याप्तता का आनन्द है, इसे हमारी प्राचीन कलाओं और साहित्य के नमूने सिद्ध करने को पर्याप्त हैं। नृतत्व शास्त्रीय खोजे भी प्रमाणित करती हे कि सभ्य पूर्व मनुष्य अन्न या अन्य कोई जीवन-रक्षा की वस्तु पाकर कितना आनन्द विभोर होता है और कैसे पर्याप्त मांस पा लेने पर नाचता और गाता है । कला को 'अपर्याप्तता' का विद्रोह कहना तो न केवल कलाकार के प्रति ही नकारात्मक दृष्टिकोण है प्रत्युत कला और समाज के प्रति भी ।

अनेक विचारक कलाओ के मूल मे सयत और उन्नत काम को ही अभिव्यक्ति पाते देखते हैं—वे तो आगे बढकर मनुष्य की प्रत्येक क्रिया और अनुभूति पर इसी को लागू करते है। इन मे एक और फ्रायड के अनुयायी हैं और दूसरी ओर पश्चिम की प्रत्येक नवीन उद्भावना को वेदो मे खोज लाने वाले हमारे अध्यात्म-प्राण 'ऋषि'। फ्रायड्वादियों से कुछ दूर तक सहमत होता हुआ भी मै उनसे पूर्णत सहमत नही हो सका हूँ, और उनकी प्रेरणा से तो मे घृणा भी करता हूँ।

मै पीछे स्पष्ट कर आया हूँ कि हमारी चेतना का मूल स्रोत प्रवृत्ति Instinct हे। उसकी अभिव्यक्ति पशुओ मे काम क्रोध, भूख, प्यास इत्यादि मे होती है, मे नही समझता क्रोध, भूख और प्यास के भूल मे काम प्रवृत्ति कैसे होती है? इसी प्रकार "मा बच्चे को दूध पिला कर भी इसी प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करती है" इत्यादि वाक्य भी मेरी समझ मे नही आए। हम अपनी प्रवृत्तियो की परीक्षा के लिए पशुओ के पास ही लौट सकते हं। यहा भी हमे किसी पशु को ले लेना चाहिये। गाय अपने बछड़े को दूध पिलाते समय ऐसी किसी प्रवृत्ति का प्रदर्शन नही करती, सम्भवत कोई भी मनोवैज्ञानिक उस को sublimated नही कह सकता, क्योकि sublimation (उन्नयन) की चेतना गाय में नही हो सकती। श्री इलाचन्द्र जी सम्भवतः हमे मनोविज्ञान की इन गुत्थियो में न उलझने की सलाह देंगे और हम उसे स्वीकार कर ही लेते हैं किन्तु हमें इसके सामाजिक पहलू पर तो कुछ विचार कर ही लेना चाहिए।

हमारी कोई भी भावना, विचार या क्रिया हमारी उन प्रवृत्तियो से अप्रभावित नही होती और न हो ही सकती है जो हमे प्रकृति की देन है, या हमारा शरीर-धर्म है। वह प्रवृत्ति काम, क्रोध, भूख, प्यास कुछ भी हो सकती है। किन्तु यह भी सत्य है कि हमने इनको नवीन दिशा में प्रव-

तित Mould किया है। प्रवृत्तियो का यह दमन नही। इसको स्वीकार करते हुए ही इन मनोवैज्ञानिको ने मन के चेतन, उपचेतन और अर्द्धचतन इत्यादि भेद किए है। कितु इनके विचार मे उपचेतन मन जो प्रवृत्तियो का सग्राहक है या जिसमें सम्पूर्ण 'दमित' वासनाए आश्रय पाती है और चेतन मन को अधिगत करने की प्रतीक्षा मे रहती हैं, की गुत्थी सुलझाना ही एक मात्र 'पुरुषार्थ' है। यह सब बडा मनोवैज्ञानिक हो सकता है, किन्तु जो इस का रूप कलाओ या विचारो मे अभिव्यक्ति पा रहा है, वह नितान्त कुत्सित है। मध्यम वर्ग के पराजित लोग, जिनमे अपनी श्रद्धा पर से भी विश्वास उठ गया रहता है, जो 'प्राकृतिकता' को केवल इसी लिए पसन्द करते है कि मनुष्यता का बोझ उठाने की अब उनमें हिम्मत नही रहती, इस दर्शन को सहज ही समझ लेते है। किन्तु अपनी ही रूढियो से चोट खा खा कर वे या तो जीवन से ही विमुख हो जाते है या उसी मे नरक की सृष्टि करने लगते है। वे इतने 'मनोवैज्ञानिक' हो उठते है कि उनका प्रत्येक पात्र उपचेतन मन के किन्ही अज्ञात संकेतो पर नाचता हुआ वीभत्स काम-तृप्ति का आदर्श लेकर चलता है। इन मनोवैज्ञानिको की सबसे बडी कमी इनका समाज पृथक्कृत मनोविज्ञान है, जो भावनाओ का स्रोत खोजते खोजते प्रवृत्तियां Instincts पर तो पहुंच जाता है किन्तु स्वय भावनाओ की सामाजिक यथार्थता को भुला देता है। इसी से इस (Neurological Psychology) स्नायविक मनोविज्ञान का प्रभाव हमारी समाज और साहित्य पर संक्रामक रोग सा हुआ।

फ्रायड को वेदों मे सिद्ध करने वाले हमारे कुछ 'देश-भक्त' "काममेवाय पुरुषः" इत्यादि ब्रह्म-वाक्यो को उद्धृत करके यह सिद्ध करने पर तुले हुए है कि हम प्रागैतिहासिक काल से ही इस विज्ञान के ज्ञाता है। वे कहते है "काव्य के रस का आनन्द भी और कुछ

नही, जो है वह काम की ही प्रेरणा है"*, किन्तु सौभाग्य से हमारे इतिहास मे ऐसे आन्दोलन का कभी सूत्रपात नही हुआ, कभी इसकी चेतना भी नही हुई। इसी पुस्तक से उद्धरण देकर हम इसे सिद्ध करेगे। जिन विद्यारण्यस्वामी का उद्धरण देकर वे अपने मत को पुष्ट करते है, वे लिखते है "स्वय प्रकाश ब्रह्मानन्द ही विषयानन्द तथा वासनानन्द को उत्पन्न करता है।"** इससे स्पष्ट है कि जहा फ्रायड का प्रेम, भक्ति आदि प्रवृत्ति का उन्नयन है वहा हमारे दर्शन और धर्म का काम ब्रह्मानन्द का सासारिक सीमाओं मे, सृष्टि संचालन और पोषण के लिए, अभिव्यंजन। एक ओर पृजीवाद की श्रृखलाओ मे पीडित मध्यमवर्गीय बुद्धि-जीवी का स्वतन्त्रता पाने का प्रयास है और दूसरी ओर सामूहिक श्रम से पुष्ट वैदिक या औपनिषदिक ऋषि का आनन्दानुभव। उसका काम न तो फ्रायड की वासना का पर्याय है और न बाद की भारतीय दार्शनिक परिभाषाओ का, वह स्वस्थ जीवन-प्रवाह का स्रोत है। अत लेखक के विविध विचारों से हम किसी प्रकार का सिद्धांत स्थिर नही कर सकते। क्योकि उन्होंने बिल्कुल भी स्पष्ट नही किया कि वे काव्य मे काम का क्या स्वरूप मानते है।

इन तीन लक्षणो की समीक्षा के पश्चात काव्य के विषय में हमारा दृष्टिकोण बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है; काव्य के अनेकानेक लक्षणो की इन्ही आधारो पर हम सहज ही विवेचना और आलोचना कर सकते है, क्योकि वे भी लगभग इन्ही से मिलते जुलते है। अस्तु, हमे अब एक अपना लक्षण भी बनाना चाहिए, जो हमारे इन विचारो का सकारात्मक और समन्वित आधार हो।

* जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत पृ० ११३।

** जीवन के तत्व और काव्य सिद्धांत पृ० ९२।

मनुष्य जीवन की मूल प्रेरणा ओर प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए हम पीछे देख आए हैं कि मनुष्य प्रकृति के साथ न केवल बाह्य रूप में ही बधा है, प्रत्युत अन्तर का भावात्मक संबध भी बाह्य को प्रभावित करता है। अत जगत-जीवन के साथ उसकी यह दुहरी सबध-स्थिति है। प्रकृति के साथ बाह्य सघर्ष उसके विचार जगत का निर्माण करता है और यही सघर्ष विचारों के माध्यम से हमारे भाव जगत का। हमारे 'विचारों' की उत्पत्ति, अथवा वितर्क की उद्‌भावना का मूल बाह्य प्रकृति के साथ हमारा सघर्ष ही है और अन्तर्जगत या भावजगत के निर्माण का स्रोत हमारी प्रवृत्ति। कला मनुष्य के प्रवृत्ति के साथ परिणत विचारो संघर्ष में ही जन्म ग्रहण करती है। सघर्ष के सामूहिक होने से व्यक्ति की भावात्मक और विचारात्मक स्थिति भी सामूहिक ही होगी। व्यक्ति के स्वय समष्टि होने से और अपने प्रकृतिगत तथा सामाजिक स्थिति गत विशेष भी होने से कोई भी प्रक्रिया न तो टाइप ही होती है और न 'विलक्षण' ही। अतएव हमारा भावात्मक जगत बाह्य प्रवाह को दर्पण के रूप में ही ग्रहण नही करता वह इसे एक विशेष' बिन्दु पर ही प्राप्त करता है और तब अभिव्यक्ति की पेरणा होने पर बाह्य जगत के साथ अपने सबंध के आधार पर उसे व्यक्त करता है। बाह्य यथार्थ के साथ अन्तर्यथार्थ का यह सबध भी कम उलझन पूर्ण नही, क्योंकि समष्टि-व्यक्ति जिन अनेक समष्टि व्यक्तियों के साथ बाह्य प्रकृति के सघर्ष मे आता है, स्वयं उन (व्यक्तियो) के संघर्ष में भी उसे आना होता है; फिर बाह्य यथार्थ को वह केवल स्वीकार ही नही करता अन्तर्यथार्थ के आधार पर, जो स्वयं सबध विपर्यय मे उसके आधार पर निर्मित हुआ है —उसे गढ़ता भी है। अन्तर्यथार्थ का यह सघर्ष एक और बड़ी मनोरजक उलझन हमारे सम्मुख लाता है। प्रवृत्ति, जिसको संयत कर हम कलाओ में अभिव्यक्त करते है, उसका संघर्ष हमारी चेतना, जो समष्टि की देन है, से भी चला करता है, इसमें न केवल यह चेतना ही

प्रवृत्ति को बदलती है प्रत्युत प्रवृत्ति भी चेतना को परिवर्तित करती है। अधिक उपयुक्त शब्दों में इकाई व्यक्ति और समष्टि व्यक्ति मे भी परस्पर संघर्ष चलता है; इसमे समष्टि व्यक्ति की विजय ही अभीष्ट होती है इकाई व्यक्ति की नही—जैसा कि प्राकृतिकतावादी Naturalist कहते है।

काव्य व्यक्ति की इसी भावात्मक स्थिति मे जन्म ग्रहण करता है। इसका अर्थ यह कदापि नही कि व्यक्ति या समूह काव्य निर्माण मे सामाजिक सबंधों की वितर्कना करता है, ऐसा होने पर कोई भी अभिव्यक्ति काव्य की संज्ञा नही पा सकती; किन्तु इसका अर्थ यह भी नही कि व्यक्ति उसमे उपचेतन मन के सूत्र जोड़ता है। काव्य की कोई भी अभिव्यक्ति उपचेतन की प्रक्रिया नही होती, हा उपचेतन मन जागृत होकर संघर्ष मे अवश्य आता है। इसे हम एक उदाहरण देकर स्पष्ट करेगे।

"दो चक्की पीसने वाली ग्राम युवतिया आर्थिक रूपेण निर्धन है; उनका कोई उद्दिष्ट प्रिय नही, वे केवल देखती और सुनती है, और अपनी अपनी परिवृत्ति की सजीव अंश-भागिनी है। चक्की मे वे अपना आटा न पीसकर किसी दूसरे का पीस रही है—उन्होने श्रम बेचा है। चक्की चलाते हुए वे अचानक एक प्रेमगीत चक्की की लय पर छेड देती है, जिसमे वे अपने किसी प्रिय को खिझाती भी है और रिझाती भी, यह प्रेम गीत उनके उस श्रम की थकान को कम करता है और विक्षत हृदय को सतुष्टि देता है।"

इस उदाहरण मे यदि हम गम्भीरता से झाँके तो अपनी उपर्युक्त स्थापना को सहज ही घटित पाएंगे। काव्य निर्माण के इन क्षणों में व्यक्ति एक स्वप्न ससार मे होता है अवश्य, किन्तु उसके चारो ओर के व्यक्तियो की स्थिति, वातावरण मे व्याप्त भावधारा, भाषा में अनुप्राणित सामूहिक अनुभूति इत्यादि भी उसको वहाँ बडी दूर तक प्रभावित करते है। उसकी स्वप्न स्थिति भी प्रवृत्तियों के संसार मे लौटना नहीं, वितर्कात्मक

स्थिति से भावात्मक स्थिति की ओर लौटना है जहा बाह्य धमनियों मे रक्त बन चुका है और जहा अन्तर बाह्य को अपने अनुकूल बनाने की चाह में उसका अनुकूल भावन करता है। इसे ध्यान में रखते हुए हम सहज ही देख सकते है कि क्यों वे ग्राम युवतिया निर्धन होने पर भी अपने प्रिय को सोने के थाल में खिला सकी और क्यों किसी उद्दिष्ट प्रिय के न होने पर भी प्रेम गीत सहज भावना से गा सकी। यह समाज या परिस्थितियो से पलायन नही, क्योकि पलायन विरोध की शक्ति न रहने पर ही होता है, वहां तो विरोध का प्रश्न ही नही। वह केवल अपनी परिवृत्ति के मानसिक प्रतिफ़लन का ही परिणाम है; उस समय उनको अपनी व्यथा का ज्ञान नही, वे विस्मृत हो गई है, की नही गईं। फिर यहां उनके श्रम-विक्रय तथा निर्धनता की प्रकृति और मिल-मजदूरो के श्रम-विक्रय के स्वभाव को भी भूलना नही चाहिए। यदि यहा यह समझना कठिन जान पड़े तो किसी भी कबालिया गाने वाले किसान को मजदूर बने देखकर इसे सहज ही समझा जा सकता है।

ग्रामगीत प्राय: सामूहिक उपभोग या विश्राम काल—अवकाश नहीं—की उपज होते है; कभी कभी श्रम-काल में भी उनका जन्म होता है; इसका कारण उनकी अवर्ग-विभक्त अर्थ-प्रणाली, प्राकृतिक-परिवृत्ति क्रम-विकास की सीमा और इनके समानान्तर पर चलने वाला मानसिक और बौद्धिक विकास है। ग्रामीण व्यक्ति न केवल समाज से पृथक सोच सकने का आदी ही नही प्रत्युत् सामाजिक उपयोग और उपभोग के आदर्श के कारण बाह्य के अलंकरण की आवश्यकता भी उसे नहीं रहती, अत. उसकी अभिव्यक्ति सीधी और भावना अनगढ़ किन्तु सशक्त रहती है। कला के सामूहिक तथा अव्यवसायिनी होने से उसे न तो कला-व्यवसायी के समान भावनाओ को गैस देना पड़ता है और न अन्तर की कमी को पौडर-लिपिस्टिक में छिपाने का प्रयास ही करना पडता है। अन्तर का यह

खोखलापन और बाह्य का अलकरण पूजीवादी समाज, और अतएव साहित्य का भी, सर्वप्रमुख और सार्वत्रिक रूप है।

इसका अर्थ यह नही कि व्यक्तिवादी समाज के कलाकार का काव्य-विधान स्वस्थ और सबल नही हो सकता, या काव्य निर्माण ही नही हो सकता, अब तक व्यक्ति समाज से पृथक भी समाज-निर्माण का अभ्यास कर चुका होता है और अतएव 'व्यक्ति' की सीमाओ में भी सोच सकता है, किन्तु व्यक्ति समाज से बाहर कही जा भी सके तो न ? हा, समाज के कल्पित विरोध मे खडा होकर अपनी असमर्थताओ पर वह बाल अवश्य नोच सकता है। व्यक्तित्व की अधिक स्पष्टता का अर्थ यह कदापि नही होना चाहिये कि वह समाज को प्रति विरोधी समझ बैठे और विप्लव या पलायन मे प्रवास करे, वह केवल समाज के प्रति विद्रोह कर एक अधिक स्वस्थ समाज-रचना का उपक्रम कर सकता है; किन्तु इसके लिए उसे परिस्थितियों के बीच रह कर अपनी भावुकता की परख करनी होगी। ग्राम-युवति मधुर प्रेम-गीत गा कसती है और हम उस गीत को भी महान् साहित्य में स्थान देगे—किन्तु महादेवी जी के अलौकिक प्रेमगीतो को ही नही, लौकिक प्रेम काव्यो को भी—यदि वे लिखे—क्षम्य नही समझा जा सकता। इसका अर्थ यह नही कि वे बलात् ऐसे काव्य का निर्माण करे जो युग परिस्थितियो की आवश्यकता पूरी करे, प्रत्युत उन्हें अपनी अनुभूति को स्वभावत. उस ओर प्रवृत्त करना चाहिए; उनकी भावुकता यदि कोटि कोटि मनुष्यो के सघर्ष से अनुप्राणित नही होती तो समझना चाहिए यहा कोई बडा दोष है।

हम कविता को तर्क के हाथो सौपना नही चाहते, किन्तु भावना केवल एकान्त मे आँसू बहाना भी तो नही। इसका अर्थ यह भी नही कि प्रेमगीत लिखे नही जाने चाहिए, किन्तु उनका ही मुख्य उद्देश्य हो उठना और कविता को प्रेम का ही पर्याय समझ लेना भी तो किसी प्रकार उपयुक्त नही समझा

जा सकता। प्रेमगीतों में भी वितर्कात्मक स्थिति हो सकती है, और आज हमारे कलागीत प्राय: इसी रोग से पीडित है। भावना का आवेग, जो आदर्शो का निर्माण करता है और सौदर्य की उद्भावना करता है, आज सूख चला है, और कवि लिप्साओ को सौदर्य समझकर उनकी कल्पित उद्भावनाए करता है। अत. इन प्रेमगीतो को केवल प्रेयसी के नाम के कारण काव्य नही कहा जा सकता।

काव्य की शाश्वतता-अशाश्वतता संबंधी विवाद भी काफी पुराना है। यह प्रश्न हमारे सम्मुख एक नवीन दृष्टिकोण लाएगा। छायावादी आलोचक काव्य की शाश्वतता के संबंध में बहुत सतर्क है और प्रगतिवादी उसकी परिवर्तनशीलता के लिए। वास्तव में काव्य न तो उस तरह शाश्वत ही है जैसा आध्यात्मवादियों का विचार है और न वैसा परिवर्तनशील जैसे प्रगतिवादी कहते है। महादेवी जी के अनुसार "मूलतत्व न जीवन के कभी बदले है और न काव्य के, कारण, वे उस शाश्वत चेतना से संबद्ध है जिसके तत्वत: एक रहने पर ही जीवन की अनेकरूपता निर्भर है।"* इस वाक्य को हम दो भागों में बाटते है; प्रथम "मूलतत्व न जीवन के कभी बदले है और न काव्य के"। इसे स्वीकार कर लेने मे हमे कोई आपत्ति नही हो सकती, जैसा कि हमारी पिछली स्थापनाओं से स्पष्ट है, आगे हम इसे और भी स्पष्ट करेंगे, किन्तु वाक्य का दूसरा अंश, जो वास्तव में पहले का आधारभूत है और व्याख्या भी अवैज्ञानिक और अतर्कसम्मत है। पहले वाक्य से सहमत होने का अर्थ यह नहीं कि जीवन अनादि और अनन्त स्वतन्त्रतत्व है, प्रत्युत् निरन्तर प्रवहमान और सापेक्ष्य है। इस प्रवहमान के मूल मे किसी स्थायी और अपरिवर्तनशील चेतन, अखिलानन्द सन्दोह तत्व की कल्पना किसी की व्यक्तिगत अनुभूति तो हो सकती है, तर्क सम्मत संभा-

* विवेचनात्मक गद्य, पृ० ४९।

वना नही। यह सत्य है कि लक्ष्य कोटि मनुष्य इसे सामाजिक धारणा के रूप मे भी अपनाए रहे है और इससे प्रेरणा भी पाई है। किन्तु इसी आधार पर इसे सत्य नही कहा जा सकता, क्योकि स्वर्ग-नरक और देव-अवतारो की अलौकिक कल्पनाएँ भी तो कोटि कोटि मनुष्यो के मन मे सत्य बनी रही। अस्तु, उस शाश्वत चेतना का स्वरूप निश्चय करते समय हमारे सम्मुख प्रश्नों की झडी लग जाती है जिनका समाधान कम से कम मुझे कही नही मिला। यदि अपरिवर्तनशील और शाश्वत चेतना ही मूलतत्व है तो इस अशाश्वत और अचेतनत्व की उत्पत्ति कहा से हुई ? चेतना को तो किसी वस्तु की अनुभूति होनी ही चाहिए, किन्तु आत्म-स्थिति के रूप में वह किसका भावन करती रही ? अनुभूति अभावात्मक या भावात्मक ही हो सकती है किन्तु किसी दूसरे तत्व के अभाव मे अभाव किसका और भाव किसका* ? इत्यादि अनेक ऐसे ही प्रश्न किए जा सकते है। काव्य की अनुभूति के शाश्वत होने का अर्थ सार्वत्रिक भी होना चाहिए, क्योकि कोई भी ससीम वस्तु शाश्वत नही हो सकती, किन्तु काव्य की अनुभूति सार्वत्रिक और सार्वकालिक नही है; एक समय मे इस अनुभूति का कही पता न था। अत: शाश्वतता संबंधी ये बाते नितान्त उपहासास्पद सी प्रतीत होती है।

काव्य को बाह्य पदार्थो की स्थूलता मे खोजने वाले काव्य की शाश्वतता का खण्डन-युग परिबन्धो की सीमाओ मे बाधकर करते है। किन्तु इसका उत्तर उनके पास कोई नही कि कालिदास और उससे भी दूर वैदिक ऋषियो का उषा वर्णन हमे आज भी अच्छा क्यो लगता है; कालिदास के मेघदूत में, जब कि आज न तो कोई अलकापुरी है न कोई शापदाता सामंत, हमे आज भी इतना रस क्यो मिलता है ? इसका उत्तर देते हुए श्री राम-

* विशेष नूतन रहस्यवाद में।

विलास शर्मा ने लिखा है "हमे बीते युग की रचना इसलिए अच्छी लगती है कि उसके निर्माण मे उन्ही तत्वो का सयोग है जो हमारे युग के अत्यधिक निकट है। × × × बीते युग की रचना के अच्छे लगने के दो कारण हो सकते है, एक तो उसमें हम वह अर्थ ढूंढ लेते है जो हम ढूँढना चाहते है परन्तु जो उसमे है नही, दूसरे हम उसमें वही अर्थ पाते है जो उस युग को भी अभीष्ट था।* कितने छिछले तर्क और निर्धन विचार इन वाक्यो मे रखे गये है। तब तो आर्यसमाजियो की पिछले इतिहास की प्रत्येक व्याख्या 'आज' के 'अनुकूल' होती है और वास्तव में वहा वही उसका अर्थ नही होता। इसी प्रकार सनातन धर्मी वही अर्थ लगाते है जो वास्तव मे उनका भी होता है जिनका अर्थ वे लगाते है और उनका अपना मत भी वही होता है! तब शायद आपको आपत्ति होगी कि यह धर्म का क्षेत्र है, काव्य का नही यद्यपि उद्धृत वाक्यो मे इतिहास, युग-परिस्थितिया आदि ही कही गई है और सारा निबन्ध भी बस ऊपरी समस्याओ का समाधान ही (काव्य का कर्तव्य) निर्धारित करता है। खैर, तो भी क्या श्री रामविलास जी तुलसीदास जी की केवल उन्ही पक्तियो को साहित्य समझते है जो उन्होंने उद्धृत की है? "राम को गुलाम नाम राम बोला राम राख्यो" जैसी शुद्ध भक्ति की पक्तियों की भौतिकवादी शर्माजी क्या युगानुकूल व्याख्या करेंगे'? 'अंखिया तो झाई परी'" इत्यादि दोहो को वे तब क्या आज कहेगे? कबीर के क्या वे दोहे साहित्य का शृंगार होगे जिनमें वे शूद्रो को भी मनुष्य बताते है या वे जिनमे वे आत्म-विस्मृत हो भक्ति के गीत गाते है? न जाने क्यो रामविलासजी से गहरी पकड़ वाले आलोचक भी कभी कभी ऐसी अनुत्तरदायित्वपूर्ण

* संस्कृति और साहित्य, पृ० २०४।

बातें लिख जाते हैं ? स्पष्ट ही काव्य इन आधारो पर शाश्वत या अशाश्वत नही ।

काव्य का मूलतत्व भावानुभूति है और यह अनुभूति प्रवृत्तियो का सामाजीकरण; जैसा कि हम पीछे भी कह आए है। चेतनातत्व मे विकास या ह्रास हो सकता है—वह मिट भी सकता है, किन्तु जब तक वह है उसमे प्रवृत्ति भी है, जो काम क्रोधादि के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति करती है। यह प्रवृत्ति 'इस' चेतना का नित्य धर्म है, हम यू भी कह सकते है कि चेतना के ये अनिवार्य गुण है। विचार, जो चेतना का बाह्य का ग्रहण मात्र है, या द्रष्टा का दर्शकत्वमात्र, वास्तविक स्थिति समाज के द्वारा ही ग्रहण करता है, क्योंकि भाषा इत्यादि के अभाव मे इसका (चेतना का) यह ग्रहण व्यापार प्रवृत्तियो को जगाकर स्वयं निष्क्रिय हो जाता है। सामाजिक मनुष्य इन्ही विचारो के माध्यम से प्रवृत्तियो को परिवर्तित कर भिन्न रूप मे नियोजित तो करता है किन्तु इन्हें मिटा नही सकता। विचार तो शुद्ध परिवृत्ति की ही देन है अत युगानुकूल विचार बदलकर अनुभूतियो को प्रभावित करते रहते है—यही अनुभूतियों पर युगानुकूलता का प्रभाव है, किन्तु काव्य विचारो को निष्क्रिय कर भावनाओ को प्रभावित करता है, या मनुष्य विचार-पूर्वक रसानुभूति के लिए विचारो को निष्क्रिय कर देता है। अतः जो काव्य जितनी अधिक गभीरता से हमारी भावनाओ को पकडेगा और वितर्क को बचाएगा उतना ही अधिक प्रभाव हम पर वह छोडेगा—शाश्वतता का यही रहस्य है।

किन्तु केवल शाश्वतता ही अच्छे काव्य का गुण नही, क्योकि सभव है वह अपनी मादक प्रभावात्मकता के द्वारा किन्ही ऐसे तत्वो का समावेश समाज मे कर दे जो असामाजिक हो, क्योकि विचारो को भावावेग भी तो बनाता बिगाडता है, और इस प्रकार मनुष्य अपना ही सिर नोचने लगता है।

अपनी ऊपर की विवेचनाओ मे हमने देखा कि कला भाव-प्रवेग की मन.स्थिति मे जन्म ग्रहण करती है। ये प्रवेग अपने वातावरण और भाषा की प्रकृति से इस प्रकार निर्धारित होते है कि उनसे इन्हे सहज ही पृथक नही किया जा सकता। भाषा हमारे मूर्त विधान का एकमात्र साधन है, इसके बिना भावनाओ की सत्ता असभव है। भावनाओ के प्रवेगात्मक और समूर्त होने से भाषा स्वय उनके एक अग के रूप मे आती है, अतएव भाषा काव्य का अभिन्न अग है, अतएव काव्य की भाषा को बदल कर उसमें अभिव्यंजित अनुभूतियो को उसी सजीवता के साथ उसमे रख देना सभव नही। यह स्थिति कितनी प्रवेगात्मक होती है यह इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय किसी कारण से अनुभूतियो के अभिव्यक्ति न पा सकने पर, जब.पुन उन्हे व्यजित करने का प्रयास किया जाता है तो वह बौद्धिक व्यायाम से अधिक कुछ महत्व नही रखता। कला को काव्य का बाह्य रूप कहना इसलिए नितान्त असगत है। कला भी एक बोध है। जो स्वयं सौंदर्य बोध का एक अग है, पर्याय भी उसे कह सकते है। बाह्य-रूप और अन्तर्भाव काव्य मे जहा पृथक देखे जा सकते है वहा वह काव्य की संज्ञा नहीं पा सकता और उसे जो भी कह ले।

स्वय सौंदर्य क्या है? मेरे विचार में, जैसा कि मै पीछे भी कह आया हूँ, वस्तु के साथ व्यक्ति का भावात्मक योग सौदर्य है। वस्तु स्वय सुन्दर है या हमारी अनुभूति उसे सुन्दर बनाती है, यह इस प्रकार विभाजित नहीं किया जा सकता। वस्तु को यदि केवल रंग-हीन आकृति मान लिया जाय तो हमे उस से आनन्दानुभूति क्यो हुई? किन्तु यदि वस्तु में ही सौन्दर्य को सन्निहित मान लिया जाए तो वह वस्तु सदैव हमें सुन्दर लगनी चाहिए और सभी को सुन्दर लगनी चाहिए। किन्तु दोनो ही बातें नहीं होती। एक विशेष मानसिक स्थिति मे हम जिस वस्तु को सुन्दर मान लेते है उसी को दूसरी मानसिक स्थिति में असुन्दर भी मान सकते है। सौन्दर्यानुभूति

आकृति के बिना सभव नही, यह तो स्पष्ट ही है किन्तु आकृति को सौदर्य नही कहा जा सकता, वह रंगहीन रेखाओ की विशेष स्थिति मात्र है, सौन्दर्य बोध विषयी मे ही संभव है। आनन्दानुभूति मानसिक प्रक्रिया है—विषय तो केवल उसका आधार बनता है; किन्तु स्मरण रहे यह बोध विषय की आकृति से निरपेक्ष कोई स्वत: सिद्ध सत्य नही।

सौन्दर्यानुभूति कला की जननी है, किन्तु प्रत्येक कलात्मक बोध सौन्दर्यानुभूति नही। कला भाव-प्रवेग है, किन्तु प्रत्येक अभिव्यक्त भाव-प्रवेग भी कला नही। भाव-प्रवेग जब सृजन-सौन्दर्य से अनुप्राणित होता है, तभी वह काव्य या कलात्मक बोध का पर्याय होगा, अत: सौदर्य यहा भी अपनी अभिव्यक्ति किसी दूसरे रूप मे कर रहा है, किन्तु वह सौदर्य की साधारण परिभाषा मे नही बंध सकता। इस प्रकार "काव्य सृजन-सौन्दर्य से अनुप्राणित भाव प्रवेग की लय सीमा मे शब्दात्मक अभिव्यक्ति है।"

छायावाद की पृष्ठभूमि में

वैज्ञानिक विकास के साथ ही पूंजीवाद भी अस्तित्व में आया, अतः ये दोनों पर्याय ही समझे जाते रहे। इससे पूर्व सामन्तवादी युग में उत्पादन के साधन अत्यंत सीमित थे। सपूर्ण अर्थ-प्रणाली कृषि-प्रधान थी किन्तु साथ ही साथ राज-दरबारों का ऐश्वर्य और उनका आदर्शीकरण भी उस युग के सांस्कृतिक निर्माण में बडे महत्वपूर्ण बने थे। मनुष्य प्रकृति को बहुत दूर तक समझ चुका था, ज्योतिष और सूर्य-चन्द-तारागओं का गति-क्रम, देश और काल का समन्वय ओर व्यवस्था, वैद्यिक और गृह-निर्माण कला इत्यादि अनेक ऐसे विषयों की ओर भी वह बढ़ रहा था जो आत्म विश्वास और अन्वेषक प्रवृत्ति के निदर्शक है। किन्तु इस सब के पीछे कार्य-शील आर्थिक-शक्तियों से वह सर्वथा अनभिज्ञ था। राजा और उसके विस्तृत दरबार उसके लिए ईश्वरीय-विधान थे और स्वयं सम्राट संपूर्ण समाज को अपनी इच्छा से शासित समझता था; समाज उसका निर्माण किस प्रकार कर रहा है और अर्थ-व्यवस्था कैसे उसका भी नियन्त्रण करती है, यह सब उसको पता न था; यही कारण है कि सामन्तवादी समाज क्रमशः असमर्थ और पंगु होता जाता है। संपूर्ण भूगोल का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि बड़ी बडी सभ्यताओं पर स्थापित साम्राज्यों को बर्बर ध्वस्त करते रहे; शायद ही कभी ऐसा हुआ हो कि ये सभ्यताएं विजयी हुई हों। राजा की 'इच्छा' ही उस समय के एकेश्वरवाद, बहुदेववाद और अवतारवाद इत्यादि की प्राण है, अर्थात् उस समय का सपूर्ण धर्म राजा और जनता के वर्गों पर आधारित संबंधों का ही प्रतिबिंब है।

अर्थ-व्यवस्था के कृषि-प्रधान होने से उस युग की संस्कृति मथर, सघन और निष्ठा प्रधान थी; साथ ही साथ उसमे राजदरबार का वह ऐश्वर्य विलास भी था जो उसको 'सुनागरिकता' देता है। किन्तु इसका एक पहलू और भी है; उस युग की कला प्राय. राजदरबार को ही केन्द्रित कर विकसित हुई। इधर लोकगीत भी मौखिक परम्परा में विकसित होते रहे और वास्तव में वे कही अधिक हमारे जातीय जीवन के प्रतिबिम्ब को प्रतिभासित करते है, क्योंकि वे उस वर्ग की अनुभूति को अभिव्यक्त करते है, जो राजन्य वर्ग के आश्रय मे नही उत्पन्न हुआ और इसीलिए उस वर्ग का ठीक चित्र भी, उसकी सामाजिक स्थिति के अनुसार अकित कर सका। अनेक बार तो लोकगीत और सामन्ती काव्य की ये दोनो सरणिया सर्वथा पृथक् विकास करती हुई भी प्रतीत हुई, जैसे हमारा अपभ्रश और सस्कृत साहित्य, किन्तु दोनो का सर्वथा अछूते रह सकना सभव न था। यह भिन्नता सामन्तवाद के विकास---या पतन---के साथ अधिक बढी क्योकि दरबार अधिक से अधिक निश्चित और शक्तिशाली होता गया और अतएव सकुचित भी। यह अन्तर हम भारतीय इतिहास मे रामायण के पश्चात् कालिदास और कालिदास के पश्चात बाणभट्ट मे स्पष्ट देख सकते है। पाचवी ईस्वी शताब्दि से अठारहवी ईसवी शताब्दि तक यह अन्तर निरन्तर बढता ही जाता है और लगभग विपरीत दिशाओ की ओर उन्मुख होता है।

सामन्तवर्ग और ब्राह्मणवर्ग, जो उस युग की विचारधारा के केन्द्र प्रतीत होते है, वास्तव मे कृषि-प्रधान उत्पादन और संस्कृति के कारण ही। धर्म-धारणा और निष्ठा का कृषि के साथ जैसे अनिवार्य संबध है, क्योकि उत्पादन के साधन अविकसित तथा दरबार के सर्वोपरि अतिविधान के रूप मे होने से, उसके लिए यह समझ सकना सहज नही होता कि उसकी परिवृत्ति का निर्धारण किन आधारो पर हो रहा है। इस वर्ष वर्षा होती है और दूसरे वर्ष सूखा पडता है, राजा फिर भी अपना कर ले लेता है,

कृषक देखता है कि इसमे राजा भी असमर्थ है, अत. वह एक और राजा की कल्पना करता है जो सर्व का निर्धारण करता है। इसका अर्थ यह नही कि देववाद का उदय दरबार के साथ साथ होता है, इस (Animism) को अविकसित जातियो मे भी देखा जाता है, किन्तु इसकी प्रकृति मे एक बड़ा अन्तर है। अत. ईश्वर और देवताओ की उत्पत्ति ब्राह्मणो और सामन्तो के षड्यन्त्र से नही हुई, जैसा कि अनेक विचारक कहते है, क्योकि ब्राह्मण और सामन्त स्वय उस समाज की ही उत्पत्ति थे जो देववाद की जनक है। यदि ऐसा न होता तो बौद्ध धर्म के पनपने का प्रश्न ही उत्पन्न नही हो सकता था जो ईश्वर और देवताओ को कोई स्थान नही देता। वास्तव मे बौद्ध धर्म के पतन का कारण ही यह है कि वह युग इतना विकसित नही हुआ था कि ईश्वर के बिना इस विश्व की कोई संगति बिठा सकता। यही कारण है कि महात्मा बुद्ध शीघ्र ही ईश्वर के आसन पर आ बैठे। यह ठीक है कि धर्म की आड में दरबार ने षड्यन्त्र किये और धर्म के कारण भी प्रजा उस जड़ता में फँसी रही, किन्तु राजा और धर्म इन दोनो को उत्पन्न करने वाली आर्थिक शक्तियां है, अत. इसका स्थानीय कुछ और भी हो सकता था, इसकी कल्पना नही की जा सकती। इसलिए यह भी नही कहा जा सकता कि धार्मिक जनता षड्यन्त्र के कारण धर्म में विश्वास करती थी या राजा धर्म के कारण षड्यन्त्र करने में सफल हो सका।

पूर्व जन्म को भी इस प्रकार दरबार का षड्यन्त्र नही कहा जा सकता, इसका कारण भी वही है जो धर्म का। Malinowski अपनी नृतत्व शास्त्रीय खोजों के आधार पर लिखता है—

In these rites there is expressed the dogma of continuity after death, as well as the moral attitude towards the departed. × × × The belief in immor-

tality × × × makes him realize more clearly his own future life".*

"इन धार्मिक उत्सवों मे मृत्यु के पश्चात भी जीवन की निरन्तरता का सिद्धान्त ही अभिव्यक्ति पाता है । अमरता मे विश्वास वास्तव में उसके भावी जीवन की कल्पना को अधिक निश्चितता देता है । (जो उसकी आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति का परिणाम है) मैलिनोवस्की के परिणामो से यद्यपि मै सर्वत्र सहमत नही हूँ किन्तु उसकी स्थापनाओ से—जो उसकी खोजो पर आधारित है—मै असहमत होने का कोई कारण नही समझता ।

इस प्रकार यह कहना अधिक सगत प्रतीत नहीं होता कि धर्म दरबारो का षड्यन्त्र है । मनुष्य जब चेतन (सामाजिक) अवस्था मे आया उसी समय धर्म की उत्पत्ति हुई । इसका कारण उसकी बाह्य शक्तियों के प्रति विराट भावना की चेतना थी । बाह्य के संघर्ष में वह निरन्तर आ रहा था किन्तु उसकी प्रकृति को ठीक प्रकार से समझ न सका था, 'आज' जो वह करता 'कल' वही करने मे अपने को असमर्थ पाता, 'आज' जो वह विजित समझता 'कल' वही विजयी हो उठता; जीवन-मृत्यु-यौवन-जरा—परिवर्तन और स्थिति यह सब उसके लिए एक अज्ञात रहस्य था । 'काल' को वह समझकर भी उसके नियन्ता की कल्पना बिना नही रह सकता था । इसी से धार्मिक भावना का उदय हुआ । पारलौकिकता और अति-प्राकृतिकता में यह विश्वास केवल इन्ही स्थितियो मे ही नही देखा जाता; समाज और उसकी नैतिक मर्यादा भी अतिविधान के रूप मे ही उसको ज्ञात थी, वह समाज को Godhead या अति प्राकृतिक अति विधान के रूप मे ही देखता था; इसका अर्थ यह नही कि वह प्रकृति को बिल्कुल

* Magic, Science and Religion, p. 43, 16.

भी समझता नही था, यदि ऐसा होता तो कोई भी विकास सभव न होता। जैसा कि Malinowski ने लिखा है—

"Methods of indicating the main points of compass arrangements of stars × × × (and other ले०) accomplishments are known to the simplest savage.*

But even with all their systematic knowledge, methodically applied, they are still at the mercy of powerful and incalculable tides.*

"एक साधारण तम पूर्व सभ्य को भी तारक-मंडल (और अन्य प्राकृतिक वस्तुओ और क्रियाओ) की गतिविधि और स्थिति के नियम ज्ञात थे।

किन्तु इस संपूर्ण ज्ञान के बावजूद, जो उसने वैज्ञानिक ढग से क्रियान्वित किया था, वह अनिश्चित और अधिक शक्तिशाली लहरों की दया पर रहने को बाध्य था।"

इस प्रकार वह निरन्तर सघर्ष करता है और उनसे परिणाम निकालने का प्रयास भी करता है (नही तो उसका बौद्धिक विकास न हो पाता) किन्तु पूर्णतः न समझ सकने से वह उनके पीछे किसी शक्ति की, जो उसको संघर्ष मे पराजित करती है, कल्पना भी करता है। इसके लिए यह आवश्यक नही कि उसने उन शक्तियो के नामरूप की कल्पना भी प्रारंभ से ही कर ली हो, किन्तु यह तो निश्चित ही है कि देवो की कल्पना के मूल में यही भावना काम कर रही होगी।

धर्म को हम सामाजिक अनुभूति के रूप मे स्थान पाते देखते है—क्योकि धर्म सामाजिक भय और सामाजिक श्रद्धा का ही दूसरा नाम है।

* Magic, Science and Religion, p. 13, 16.

मैलिनोवस्की इसे वैयक्तिक अनुभूति बताता है, किन्तु वह स्वय ही यह भी स्वीकार करता है कि—

The bond of union between the recently dead and the survivors is maintained, a fact of immense importance for the continuity of culture and for the safe keeping of tradition *

"मृत व्यक्ति और जीवितो में एक संबंध बना रहता है, एक यथार्थ के रूप में, जिसके द्वारा वे सस्कृति और परम्पराओं की निरन्तरता को स्थिर रख सकें।"

मैलिनोवस्की की स्थापनाओ से यही परिणाम निकलता है, किन्तु वह बलात् इसे वैयक्तिक बनाता है। वह स्वीकार करता है कि 'इस प्रकार की अनुभूति व्यक्ति समाज के बिना कर ही न सकता था' किन्तु, लगता है, उसका दिल इन परिणामो पर ठहरना नही चाहता।

इसके विपरीत काडवैल सामाजिकता के अधिक उत्साह मे कहता है—

The dead and the not dead are two great divisions of primitive society which seem almost to stand each other in the relation of the exploited to exploiting classes.**

"सभ्य—पूर्व समाज में मृत और जीवित हमारे सम्मुख उनदो विरोधी वर्गों के समान आते है जिनका संबंध शोषक और शोषित का होता है।"

किन्तु यह तथ्य की बहुत अधिक खीचातानी है। वर्ग-संघर्ष शाश्वत सत्य तो है ही नही और न सर्वव्यापी ही है—अतः उसकी सर्वत्र खोज उपयुक्त नहीं। वास्तव में मैलिनोवस्की व्यक्तिगत अनुभूति पर अधिक

* Magic, Science and Religion, p. 43

** Further Studies in a Dying Culture, p. 33.

बल देते हुए भी पर्याप्त उदारता से तथ्य को दिखाने का प्रयास करता है जब कि काडवैल पूर्वनिश्चित दृष्टिकोण से विभाजन करता चलता है। खैर, सामन्तवादी युग मे भी हम धर्म को व्यक्तिगत अनुभूति के रूप मे नही देखते, उस युग में भी वह सामाजिक ही है। धर्म, बाह्य यथार्थ का सामूहिक अन्तर्भावन है और अन्तर की सामूहिक कल्याणाकाक्षा। वेदों के यज्ञो से लेकर आज के मन्दिरो तक से यही प्रमाणित होता है।

किन्तु सामन्तवाद और सभ्य-पूर्व समाज के धर्म मे एक बड़ा अन्तर होता है। प्रारम्भिक युग में जहा धर्म प्रकृति के साथ सघर्ष मे विजय के अस्त्र रूप मे प्रयुक्त होता है या पराजय की वेदना को अस्थायी बनाने के लिए वहां सामन्तयुग में यह एक स्थायी वृत्ति और रूढ़ि का अतिविधान होकर आता है। दूसरे शब्दो में सामाजिक-सघर्ष की प्रकृति को दृष्टि से बचाने के लिए इसका प्रयोग होता है। इसका अर्थ यह नही कि उसमें तब कुछ प्रेरणा ही नही होती, किन्तु प्रेरणा तब इसकी स्थायी वृत्ति नही होती; वह एक ओर पराजित भावना का 'सहारा' होता है और दूसरी ओर स्वार्थ-पूर्ति का साधन।

धर्म की इस प्रकृति को सामन्तवादी संस्कृति की भी प्रकृति कहा जा सकता है। उस युग के उत्पादन के साधन सीमित होने से देश सीमित और काल अलस-गति था, नवीन प्रयोगो मे इतनी कुशलता न थी, शाखा-प्रशाखाओ का इतना विस्तार नही हुआ था और सबसे बढकर व्यक्ति, समाज से पृथक सोचने का इतना अभ्यस्त न था। अत: धर्म भी सामाजिकता की इसी अनुभूति और प्रकृति का प्रतिरूप था।

पूजीवाद के उदय के साथ साथ इस सब मे आमूल परिवर्तन हुआ। 'पूंजीवाद के उदय का कारण विज्ञान था। उत्पादक शक्ति के एकदम इतनी समृद्ध हो जाने से आवश्यक था कि पुरातन उत्पादन संबंधों पर आधारित संस्कृति निराधार होती और नवीन सस्कृति जन्म ग्रहण करती।

उत्पादन और वितरण पर किसी भी प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण के अभाव से, शक्तिशाली साधनो ने कुछ व्यक्तियो के हाथों को अत्यधिक बलिष्ठ बना दिया। दूसरे, विज्ञान ने प्रकृति को इतनी स्पष्टता से हमारे सम्मुख खोल दिया कि अब बहुदेवो और अधिनायक ईश्वरो मे विश्वास सभव न था। इसके अतिरिक्त बढती हुई प्रजातन्त्र की भावना—जिसको मध्यम वर्ग से प्रेरणा मिली थी—ने भी इसको समाप्त करने मे सहायता पहुँचाई। किन्तु मध्यम वर्ग उसी समय तक अधिक बलिष्ठ था जब तक विज्ञान प्राथमिक अवस्था मे था, विज्ञान की अधिक उन्नति के पश्चात् यह निर्बल पडता गया। और आज तो यह अपना अस्तित्व ही खो रहा है। अतएव प्रजातन्त्र के भी पैर उखड रहे है।

किसी सामाजिक आदर्श के अभाव मे और आर्थिक प्रतियोगिता के बढ जाने से प्रजातन्त्र का अर्थ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य हो गया और इस आन्दोलन ने उतना ही जोर पकडा जितना स्वय प्रतियोगिता की कटुता ने। इस अवस्था में व्यक्ति सामाजिक रूप में सोच ही नही सकता था, उसके सम्मुख तो केवल सस्ते श्रम, सस्ते कच्चे माल और अधिक लाभ का आदर्श था, क्योकि प्रतियोगिता में विजयी होने के लिए यह आवश्यक है, नही तो नष्ट हो जाना अवश्यंभावी रहेगा। दूसरी ओर सामन्तवाद से प्रताडित कृषक और पूँजीवाद से निरस्त गृह-शिल्पी अब सर्व-हारा बन कर आया। वह अपना श्रम बेचकर केवल निर्जीवता ही पा सकता था। अब उसे कृषक के समान वर्षा के लिए यज्ञ की आवश्यकता न थी, श्रम के परतन्त्र होने से प्रकृति के साथ संघर्ष का भी कोई अर्थ न था, अतएव उपचार भी अनावश्यक था; उसके पास पैतृक कहने को भी कुछ न था जिसके लिए वह पितरों के श्राद्ध और अपनी भावी की सोचता और इस प्रकार अपनी निर्जीव ही सही—संस्कृति से सजीव संपर्क बनाए रख सकता; अपना कहने को भी उसके पास कुछ न बचा था जिसके उपयोग के आनन्द में स्वाभा-

विक उदारता से वह औरो के साथ मिलकर गीत गाता, उसकी कोई गृहस्थी भी न थी—क्योंकि उसकी पत्नी केवल तृप्ति का साधन और बच्चे आकस्मिक अभिशाप थे—जिनके लिए वह कौटुम्बिक और जातीय मानापमान और 'नैतिकता' का कायल होता। तीसरा मध्यम वर्ग था जिसने सामाजिकता का संपूर्ण बोझ उठा रखा था और जो पूजीवाद के शक्ति केन्द्रीकरण के कारण निम्न या सर्वहारा वर्ग में विघटित हो रहा था (है)। वह भूत को छोड न सका और वर्तमान को समझने की शक्ति भी नही पाई—क्योंकि उसको सदैव विश्वास रहा कि 'ईमानदारी' के द्वारा शायद वह भी इसी प्रकार लूट का अधिकार पा जाए जैसे उच्चवर्ग। इसीलिए यह सपूर्ण उतार चढाव और प्रताडना उसके लिए रहस्य बनी रही। उसकी अधिक असंतुष्ट नई पनीरी ने व्यक्तिवाद, स्वतन्त्रता, पाप-पुण्य की व्यर्थता इत्यादि के नारे लगाने प्रारभ किए क्योंकि उसने तीव्र प्रतिवर्तन में स्पष्ट देखा कि जो आज सत्य है वह कल सत्य नहीं रहा। दूसरे व्यक्तिवाद स्वयं नैतिकता का विरोधी है अत. उसने अपनी पुरानी पीढ़ी का उपहास करना प्रारभ किया और सारे दिन की थकावट और रुपये के अभाव में अपनी व्यर्थता की कटुता को वह 'प्राकृतिकतावाद' में विस्मृत करने लगा। किन्तु आगे क्या हो यह आदर्श उसके पास न था और उसकी विशेष स्थिति के कारण यह स्वाभाविक ही था। इतना ही नही, वह जिस जागृति के नारे लगाता था उसे स्वयं अपने गले के नीचे नही उतार सका था। उसने 'नवीन' की आहट पाते ही स्वागत को दौडने की विव्हलता तो पाई किन्तु इसके लिए न तो उसने पुरातन की ओर देखा और न भविष्यत की ओर। बाज़ार की अनिश्चितता और व्यक्तियों के उसमे उत्थान-पतन ने उसे एकदम किकर्तव्यविमूढ़ बना दिया था; उसने एक नवीन आध्यात्मिकता का जो बर्कले के प्रत्ययवाद, स्पिनोजा के निसर्गवाद और हेगल के विज्ञानवाद में मूर्त्त हुई—पल्ला पकड़ा अवश्य किन्तु इससे उसकी निराशा घटी नही।

तो भी पहिले पहिल इस क्रान्ति ने एक विचित्र स्फूर्ति का संचार समाज मे किया, बाद की निराशा भी एकदम मृत्यु नही थी, उसने महान् साहित्यि को, वैज्ञानिको और अन्वेषको को प्रेरणा दी। उल्लिखित दार्शनिकों के मतवादो का आधार निराशा नही उल्लास ही अधिक है। यह अध्यात्म-वाद दार्शनिक क्षेत्र मे प्रजातन्त्र का ही प्रतिफलन है जो उस युग की क्राति का सबसे बडा आदर्श था। शेली, वर्डस्वर्थ, बायरन, कीट्स, गेटे तथा ह्विटमैन इत्यादि इस आशा-निराशा के सम्मिश्रण के अच्छे उदाहरण है।

इस युग ने पिछली रूढियो और धारणाओ को उखाड फेका और व्यक्तिवाद तथा प्रजातन्त्रवाद की स्थापना की; यह परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना सकने की प्रेरणा से ही; किन्तु बाद की विकसितावस्था में प्राकृतिकतावाद और फ़ायडियनिज्म इत्यादि भी सिद्धांत निकले, किन्तु यह नवीन आदर्शो की स्थापना न थी प्रत्युत परिस्थितियों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण था—पलायन था। बुद्धिवाद ज्ञान का पर्याय नही होता और यदि सम्मुख कोई आदर्श नही केवल पुरातन की अस्वीकृति है तो वह एक ओर समाज को विशृंखलित और दूसरी ओर व्यक्ति को अस्थिर तथा तृपित करता है। व्यक्तिवाद और प्राकृतिकतावाद इस ज्वाला के अच्छे उदाहरण है। संपूर्ण पूजीवादी युग समाज को आत्मा की उन्मुक्तता पर बंधन समझता रहा; उसके विचार में जगल के जीव-जन्तु आत्मभाव की उस असीम और उन्मुक्त स्थिति के अधिक समीप है, क्योकि उन पर कोई सामाजिक दायित्व नही। इस सामाजिक 'बन्धन' के विरुद्ध पहिली प्रतिक्रिया वर्डस्वर्थ की The world is too much with us ओर Three years she grew के कुछ पद्य है जिनमे आध्यात्मिक कवि एक पवित्र संसार की कल्पना को मूर्त पाता है, किन्तु बाद मे जब पूँजीवाद अपने पूर्ण यान्त्रिक रूप मे आया और उसने मनुष्य को अर्थ का जड़ दास बना देना चाहा उस समय 'स्वतन्त्रता' भी अतृप्ति के

विश्रृंखलित प्रदर्शन का पर्याय हो गयी । दोनो ही पलायन-वृत्ति के निदर्शन हैं और उन्होने पूँजीवादी विकृति के साथ ही साथ अपना रूप परिवर्तन किया है । वास्तव में संपूर्ण रोमैंटिक काव्य के आधार मे पलायन के 'वर्डस्वर्थी' रूप को देखा जा सकता है । शेली और कीट्स इत्यादि कवियों मे निराशा अधिक थी और ये सब ससार मे दूर . . . कही बहुत दूर जाने को बेचैन थे, जहा शायद वे तृप्ति पा सकते —

Upwards,
Towards the peaks
Towards the stars
Towards the vast silence.

इस प्रकार की निराशा अन्त मे चार्ल्स बोदेलेयर, डी० एच० लारेस, अचल और पन्त की कुत्सित प्यास मे अपनी तृप्ति खोजती है । प्राकृतिकतावाद की लहर, जो व्यक्तिवाद की अगली सीढी है, वास्तव मे सामाजिक उत्तरदायित्व से पलायन तथा पूजीवाद के अन्तर्विरोधों से बचाव है, क्योकि इन अन्तर्विरोधो के कारण और प्रकृति से वे अनभिज्ञ नही । फ्रायड के अनुयायी विचारक तथा आज अमरीका में इसे क्रियात्मक रूप देने वाले वे लोग, जो नग्न रहते है, हमारे कथन को प्रमाणित करने को पर्याप्त है ।

× × × ×

पूजीवाद के साथ ही ये विचार धाराएँ भी हमारे देश मे आई । सर्वप्रथम १७ वी शताब्दी मे अंग्रेजो का आगमन यहाँ हुआ । उस समय की हमारी आर्थिक और राजनैतिक अवस्था किसी भी प्रकार पिछड़ी हुई न थी । हमारा व्यापार न केवल एशिया प्रत्युत यूरोप तक व्यापक था । यन्त्र युग से पूर्व जितनी उन्नति की जा चुकी थी उसमें हमारा स्थान सर्वप्रमुख था ।

किन्तु यूरोप और अमरीका मे उस समय नवीन शक्तियो का उदय हो चुका था। एलिजाबेथ के युग मे एक नवीन स्फूर्ति इगलैण्ड में आई थी। इसके कुछ ही काल पश्चात् फ्रास में बैस्टील की जेल तोड़कर एक नवीन राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन का सूत्रपात किया गया था, जिसने न केवल फ्रास प्रत्युत् सपूर्ण यूरोप को प्रेरणा दी। इसी समय अमरीका भी अंग्रेजी साम्राज्य के चगुल से निकलकर आगे बढा और उसने दसेक वर्षों मे ही इतनी प्रगति की कि वह किसी की भी प्रतिस्पर्धा कर सकता था। थोडे ही दिनों बाद औद्योगिक क्राति का युग प्रारंभ हुआ जिसने क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया और मिटती शक्तियो को अन्तिम चोट दी।

किन्तु हमारे यहा दासता और रूढिप्रियता अधिक से अधिक बढ रही थी, सामन्तवाद के अभिशाप जितने क्रूर इस समय हुए उतने कभी न हुए थे, ओर हमारा समाज इस वास्तविकता से परिचित न था। उसने इसका कारण व्यवस्था नहीं व्यक्तियो को समझा। नवीन आवश्यकताओ को, जो बढते मध्यवर्ग के कारण हमारे देश मे भी उत्पन्न हो रही थी, समझा नही जा सका; इसी से सब ओर एक उदासी और दिग्भ्रान्ति का वातावरण छा गया था। अत. किसी क्रांति की सभावना उस काल मे नही की जा सकती थी; उस पराजित मनोवृत्ति के युग मे घुटने टेक देना ही अनिवार्य था।

पूजीवाद प्रजातन्त्र ओर समानता के आदर्श लेकर आया था, किन्तु इस समानता का अर्थ स्वतन्त्र प्रतियोगिता के लिए समान अवसर था। पूंजी के 'स्वतन्त्र' आयात और प्रवृद्धि के लिए सस्ता कच्चा माल, और तैयार माल के विक्रय के लिए खुला बाजार आवश्यक शर्त है। ईस्ट इडियन कपनी यही करती थी। हमारे समृद्ध गृह-शिल्प और व्यापार को, जो यूरोप के भी बाज़ारों को जीत रहा था, चौपट कर देना आवश्यक था और यही

किया भी गया। इस प्रकार पूँजीवाद से हमारा परिचय अनुकूल और स्वाभाविक परिस्थितियों में नही हुआ।

पूँजीवाद शोषण के लिए क्रूर से क्रूरतम हो उठता है, वास्तव मे उसका यह संपूर्ण कला-भवन, संस्कृति और सभ्यता इसी आधार पर खडी है; इसी से उसके द्वारा वह सब कुछ हुआ, जो हो सकता था। इससे एक निराश्रय-भावना का आ जाना स्वाभाविक ही था किन्तु इस यथार्थ के साथ हवा में शैक्सपीयर और मिल्टन तथा शैली और कालरिज के गीत भी आए जिन्हे हमने अन्य वस्तुओ के साथ ही दास की सी स्वाभाविक 'गौरव' भावना से ग्रहण किया; किन्तु यह एक पहलू मात्र है। पूँजीवाद से पराजित हमारे देश की भूमि उस विचारधारा के लिए अनुर्वरा न थी, जो कालेजों के माध्यम से हमारे यहां तैयार हो रही थी। मध्यमवर्ग अब पुन संगठित हो रहा था और उसके ही घरो मे नवीन युग का प्रतिनिधि क्लर्क वर्ग भी उत्पन्न हो रहा था। इन नवीन रगरूटो को एक मास के पश्चात मिलने वाले वेतन ने जहा जमा खर्च के फिक्र से एकदम मुक्त कर दिया वहा विदेशी वेषभूषा और शब्दावली ने अपने ही समाज के लिए अपरिचित। पूँजीवादी विचारधारा से उसने विद्रोह का पाठ तो सीखा था किन्तु अपनी विशेष परिस्थितियो के कारण वह नवनिर्माण का कोई आदर्श न बना सका, क्योकि इस विशेष और सूद्दिष्ट शिक्षा ने अपने भूत और वर्तमान के प्रति इतनी असगत घृणा जगाई कि भविष्य स्वयं तिरोहित हो गया। वह जीवन को सामाजिक नही वैयक्तिक घेरे मे देखने का अभ्यस्त हो चुका था; और कालिजो के लापरवाह वातावरण ने, एक सूक्ष्म आध्यात्मिक जाली ने, जो बर्कले, हेगल के दर्शन और शैली के मधुर दुःखात्मक आनन्द से बुनी गई थी, और सरकारी नौकरी की आशा ने उसके सम्मुख जीवन इतना सुनहला स्वप्न बना दिया कि उसका टूट जाना ही संभव था। यह एक सर्वसुलभ स्थिति थी। क्लर्की उसको समाज के प्रति अनुत्तरदायी और

अपने में अपूर्त काम ही बना सकती थी, क्योंकि उस के कार्य का जीवन से और समाज से कोई सीधा सबंध न था; वह केवल 'विदेशी' होने का गौरव पाने के लिए ही वहां आया था। इसलिए इस वर्ग मे हम निरन्तर निराशा, उच्छृंखलता, प्रदर्शन तथा असतुलन पाते है।

ऐसे समय मे व्यक्तिवाद तथा प्राकृतिकवाद को पुष्पित-पल्लवित होने के लिए काफी अवसर था। अत' ये विचारधाराएँ केवल हमारी पराजित मनोवृत्ति ही नही आर्थिक परिस्थितियो के कारण भी आईं, किन्तु नितान्त अस्वाभाविक और अस्वस्थरूप मे, क्योकि पूँजीवाद के अधिक उत्पादन और ऐश्वर्य से हम वचित ही रहे। हमारे यहां कोई बडा मज़दूर वर्ग भीनथा और न मिले ही अत.बाहर कामाल हमारे गृह-शिल्प को ध्वस्त कर रहा था। इसलिए हमे पूँजीवाद के केवल अभिशाप ही मिल सके। किन्तु यह भूलना नही चाहिए कि हमारा मध्यम वर्ग इस नवीनता की ओर अधिक आकृष्ट नही हुआ, इस कार्य को तो विद्यार्थी और क्लर्क वर्ग ने ही सभाला। अत.यूरोप की विचारधारा को हम नितान्त अस्वस्थ भूमि पर ग्रहण कर सके। इस समय यद्यपि कुछ धार्मिक आन्दोलन भी चले और इतिहास को वर्तमान के लिए प्रेरक बनाने के लिए उसकी ओर गौरव से भी देखा गया, जो पादरियों और मैक्समूलर इत्यादि के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी; किन्तु यह व्यापारी मध्यम वर्ग तक ही अधिक सीमित रहा; क्लर्क वर्ग काफी बाद मे इस ओर झुका अवश्य किन्तु अपने विशेष घेरे को छोड-कर नही। ओर फिर ब्रह्मसमाज और देवसमाज इत्यादि तो यूरोप से आई नवीन विचारधारा को 'भारतीय' कहकर ग्रहण कर रहे थे। विवेका-नन्द ने अंग्रेजों को भारतीय दर्शन का उतना पाठ नही पढ़ाया जितना अज्ञात रूप से हमें उनकी (यूरोप की) विचारधारा की ओर आकृष्ट किया। इसे हम टैगोर के उन निबन्धो में जहा वे कबीर और उपनिषदो के गीत गाते है, स्पष्ट देख सकते है। वास्तव में युग की गति उसी दिशा में होने से

यह स्वाभाविक ही था। इतिहास से भी हम उसी की पुष्टि कर रहे थे जो 'नवीन' था। आध्यात्मिक व्यक्तिवाद की लहर यहां इतनी व्यापकता से आई कि बाद के राष्ट्रीय आन्दोलन भी इसको क्षीण नही बना सके, इसी से हमारा साहित्य राष्ट्रीयता से प्रायः दूर ही रहा, और जो कविताएं कभी लिखी भी गई वे इतनी निर्जीव और अनुभूति रहित थी कि उनका मिट जाना ही स्वाभाविक था। वह सब जैसे कर्तव्य समझ कर लिखा गया था, अनुभूति का स्वाभाविक प्रवेग वहां न था। पन्त की ज्योत्स्ना और प्रसाद की कामना इत्यादि नाटिकाएं, जो भविष्य के सुन्दर सृजन की कामना से लिखी गई थी, भी राष्ट्रीय भावना से एकदम रहित थी; उनमें वही मानवता, आध्यात्मिकता और प्राकृतिकतावादी प्रवृत्ति बोलती है जो पूँजीवाद की देन थी।

पूजीवादी शोषण ने और हमारी यथार्थ के प्रति अजागरूकता ने हमें सर्वत· व्याप्त कर उस लोक मे छोड़ दिया था, जहाँ या तो नितान्त अज्ञता है या व्यथा और पीडा। शेक्सपीयर और मिल्टन से हमने वीरता और धार्मिक महत्ता के सन्देश सुने, शेली के स्काईलार्क से (spontaneous songs) स्वतः प्रवाह गीतो का माधुर्य सीखा और कीट्स से वेदना की मधुरता पाई किन्तु यह सब हम अपने वातावरण और परिस्थितियो में ही ग्रहण कर सकते थे। यह भावानुभूति, जो एक स्वतंत्र और प्रगतिशील राष्ट्र मे उत्पन्न हुई थी, हमारे पराजित और निराश वातावरण में आते ही कुम्हला गई।

हमारे लेखक के सम्मुख अनेक समस्याएँ थीं, उसे न केवल पूजीवादी (और वह भी भारतीय) सम्पादको और प्रकाशकों के ही भृकुटि भंगों के संकेतों पर अपना पथ निश्चित् करना था प्रत्युत् अपने पाठकों को, जो मुश्किल से १ प्रतिशत थे और विभिन्न वर्गो और स्थितियों के थे, भी प्रसन्न करना था। उसके पाठकों में अधिकांश वे क्लर्क और 'रोगी' लोग

थे जो 'अवकाश' क्षणो की निराशा और अतृप्ति को शान्त करने के लिए साहित्य का उपयोग कर सकते थे, अर्थात् साहित्य अब सामूहिक कर्म से दूर एकान्त की निष्कर्मण्यता का, जो कर्म-क्षणो के जीवन के अवरोध के कारण अतृप्त और निर्जीव थी, साथी बनने को बाध्य था। यह अतृप्ति कितनी भीषण और वीभत्स होती है इसे सहज ही आज के उपन्यास, कहानी, चल-चित्र और काव्यों मे देखा जा सकता है।

इन परिस्थितियो मे घिरा हुआ कवि या तो विद्रोह के स्वर तीव्र कर सकता था या निराशा और व्यथा के गीत गा सकता था। किन्तु विद्रोह के लिए परिस्थितियो के प्रति जिस जागरूक चेतना की तथा जीवन के प्रति महत्व और कर्मण्यता की भावना अभीष्ट है उसका स्रोत सर्वथा सूखा था, क्योंकि कवि स्वयं उस मिट्टी की उपज था जो निराशा और पराजय को जन्म दे रही थी। सर्वहारा वर्ग, जो पूँजीवादी सस्थाओ का सक्रिय विरोधी है और नवीन भविष्य का निर्माण कर सकता है, वह अभी हमारे देश मे उत्पन्न ही न हुआ था। अत. कवि अपनी परिस्थितियो से विद्रोह कर उन्ही से पुन घिरने को बाध्य था। हमारी इस अर्थ व्यवस्था का दूसरे देशो से कही मेल न था; फिर भी दूसरे देशो की ओर खुली आँखो से देखते हुए और अपनी प्रगति की इच्छा रखते हुए हम उन्ही परिणामो पर पहुँच सकते थे जिन पर सोवियत रूस, और अपनी गतिविधि को उन्हीं सिद्धान्तो की ओर उन्मुख कर सकते थे; किन्तु हमारी ऐतिहासिक और राजनैतिक स्थिति इसके अनुकूल न थी। इस अवस्था में विद्रोह विध्वंस ही अपने साथ ले सकता था जिसमे व्यक्ति अपने दृप्त अहं को सन्तुष्ट करता है।

व्यक्ति स्वातंत्र्य, प्राकृतिकतावाद और समता के आदर्श, जो पूजीवाद के साथ ही नवीन प्रेरणा और उत्साह से आए और आज जो विकृति और माया दीख रहे है, पहिले पहिल ऐसे ही न थे। इन आदर्शो ने वास्तव में

सामन्तवाद की संकुचिततम सीमाओ से व्यक्ति को बाहर निकाला और संसार को खुली आँखों से देखने और अनुभव करने का निमत्रण दिया। स्त्री-स्वातत्र्य, जो सम्पूर्ण इतिहास को अज्ञात रहा, इसी युग की देन थी।

"१७वी शताब्दि के इंगलैण्ड में स्त्री के लिए कोई भी सामाजिक अधिकार और स्थिति न थी। अमरीका मे भी साधारणत. यही अवस्था थी। औपनिवेशिक सरकार के दिनो मे यह विधान था कि 'प्रत्येक स्त्री का कर्त्तव्य है कि वह अपने पति की सेवा करे और उसकी आज्ञाओ का पालन करे।"* इतना ही नही वह बाधित थी कि

On her marriage her property vested in her husband and even such earnings as she might acquire by her own labour, belonged to her husband.*

"अपने विवाह पर वह अपनी सम्पत्ति अपने पति के अधिकार में देने को बाध्य थी, और ऐसी कमाई भी, जिसे उसने स्वय अपने हाथो से कमाया है, उसके पति की ही समझी जाती थी।"

इन बाधाओ से लड़ने के लिए नवीन युग को बडा सघर्ष करना पड़ा और वह विजयी रहा, क्योकि युग-परिस्थितियाँ उसके अनुकूल थी, किन्तु पूजीवादी अर्थ-तंत्र में वास्तविक स्वतत्रता सम्भव हो ही नही सकती; सामन्तवाद मे धार्मिक पराधीनता थी (जो मूलतः आर्थिक ही थी) और पूजीवाद में आर्थिक, अत. स्त्री ने पुरुष की उन्मुक्त उडानो मे काल्पनिक स्वाधीनता तो पाई किन्तु वास्तव मे उसकी स्वतंत्रता का कोई अर्थ न था। तो भी सामन्तवाद से कही अधिक उसे यहाँ अवसर थे।

खैर, जो भी स्वतत्रता उसे मिली हो, हमारे यहाँ यह सब आकाश-मार्ग से आया, क्योकि उत्पादन के साधन तो आज भी हमारे आधुनिक युग के

* Society, p. 250.

नही और अस्सी प्रतिशत से अधिक लोग सामन्तवादी युग मे ही रह रहे है। अभी तक हिन्दू कोड बिल की 'स्वतत्रताओ' को भी हम आशकित दृष्टि से देख रहे है; अत. हमारे यहाँ उस सम्पूर्ण विकृति का विकृतितर हो उठना ही स्वाभाविक था।

उन्नीसवी शताब्दि के यूरोप में प्रायः सभी विचारधाराएँ हेगल के विज्ञानवाद और स्पिनोजा के निसर्गवाद से प्रभावित थी। अध्यात्मवाद की इस लहर ने चिन्तन और अनुभूति दोनो ही क्षेत्रो में एक विशेष सूक्ष्म और रहस्यभाव का पुट दिया। प्रकृति का सौन्दर्य किसी विराट् सूक्ष्म-सत्ता की भावना से सजीव हो उठा। उसके लिए आँसू और वर्षा मे अब विशेष अन्तर न था, वह इन दोनो ही के पीछे किसी अजान हृदय की वेदना को विव्हल देखता था।

हेगल की उस विचारधारा का, जो ब्रह्म को विश्वातीत न मान कर स्वय विश्व की प्राणभृत सत्ता मानती थी, पूजीवादी युग के लिए सहज ग्राह्य हो उठना स्वाभाविक ही था, और उसके बुद्धितत्व पर अधिक बल देने से तो उसका सिद्धान्त और भी अधिक प्रेषणीय हो सका। उसने कहा :—

The real is rational and the rational is real.

'यथार्थ' और तर्क के विषय मे हम पीछे लिख आए है कि वे किस प्रकार समाज-सापेक्ष है, किन्तु हेगल तो बुद्धितत्व को मूलतत्व समझता है। वह जीव को मूलत चित्त मानता है और वह चित्त जैसा है, वैसी ही जीव की प्रकृति भी होगी। किन्तु यह बात ठीक नही, जैसा कि हम पीछे दिखला आए है, हमारी चेतना सामाजिक प्रतिबिब है, किन्तु इस प्रतिबिब को व्यक्ति निष्क्रिय रूप मे ग्रहण नही करता, इसमे उसका स्नायविक-विकास भी बडा प्रभाव डालता है, क्योकि चित् का विकास मूलत. उस पर निर्भर है। किन्तु स्नायविक विकास भी प्राकृतिक परिस्थितियो का सापेक्ष्य है। अतः हेगल की विचारधारा से हम मूलत ही सहमत नही।

जो भी हो, उक्त वाक्य मे उस युग का आत्म-विश्वास, स्वातंत्र्य भावना और बुद्धि के प्रति उत्साह मूर्त हो उठा है। किन्तु स्वतंत्रता का यह उल्लास वास्तविक न था, उसमे स्वयं एक अन्तर्विरोध था। पूंजीवाद ने सामन्तवादी बधनो को तोड कर विज्ञान की विजय-वाहिनी से जो विजय की घोषणा की थी, वह स्वयं दलदल मे फॅस गयी थी। स्वतंत्र व्यापार और तीव्र प्रतियोगिता ने जिस व्यक्तिवाद को जन्म दिया था तथा प्रजातत्र के आदर्श ने जिस स्वातन्त्र्य भावना को उत्पन्न किया था उसका सामाजिक सम्बन्धो से कही मेल न था, क्योकि व्यक्ति अर्थतत्र की भयानक और अनिश्चित तथा क्रूर मशीन मे कही भी अपने आप को निश्चित और स्वतत्र अनुभव नही कर सकता था; किन्तु इसका कारण वह स्वतत्रता की कमी को ही समझता रहा जिस स्वतत्रता ने उसको उस अवस्था मे ला पटका था, और उस बधन का दोषी उस समाज को जिसके कारण वह नैतिकता इत्यादि के अप्राकृतिक 'बधनो' मे 'बॉध' दिया गया था। किन्तु उसकी स्वतत्रता का अर्थ एक श्रेणी या वर्ग की स्वतत्रता था, क्योकि सर्वहारा की पराधीनता पर ही तो उसकी स्वतत्रता का भवन खड़ा था। साधारण तथा निम्न मध्यम वर्ग भी अपने आपको स्वतत्र अनुभव कर सकता था, क्योकि उसी के सिर पर अन्त में पूजीपति के लाभ का दायित्व था। फिर भी यह वर्ग प्रत्यक्ष बधनो के अभाव में, नवीन युग की विचार-धारा को अपनाता रहा और वास्तविक स्वतत्रता न होने से निराशा को जन्म देता रहा। वह अपना प्रतियोगी उच्च वर्ग को समझता था अत: उसकी महूलियते न पाकर उसका निराश होना स्वाभाविक ही था।

इसीलिए उस युग का कवि और विचारक प्रत्यक्ष बन्धनों पर मानसिक स्वातंत्र्य का पर्दा डाल कर अपनी उस भावना को रस देता रहा। किसी सामाजिक उद्देश्य और आदर्श के अभाव में बुद्धिवादी विकृतियो की ही सृष्टि कर सकता है, किन्तु उस युग की आशा और विश्वास से अनुप्राणित

परिवृत्ति ने उसको उसकी निराशा को स्वप्न लोक मे निर्वासित कर दिया, क्योकि वह आशा और विश्वास एक वर्ग की ही निधि था। यही कारण है कि वह स्वयं ब्रह्म की ओर उन्मुख न होकर ब्रह्म की सीमा हो रहा था, उसका ब्रह्म उसकी काल्पनिक स्वतत्रता का प्रतीक था, जहाँ यह विश्व उसके चित् से निर्धारित होता है, इस प्रकार वह स्वय विश्व-नियन्ता हो सका। उसके विचार मे यह 'सम्पूर्ण' उसकी ही आत्माभिव्यक्ति था—यही हेगल का दर्शन है। वह सभी सीमाओ को असीम की ओर उन्मुख देखता था, किन्तु शकर के समान सीमाओ को माया नही समझता था और न असीम को पृथक् और त्रिगुणातीत तत्व। वास्तव में यह अहं का ही वृहदीकरण था।

बुद्धिवाद के प्रसार का कारण विज्ञान को बताया जाता है—यह ठीक भी है, किन्तु पूंजीवादी युग में, जब कि सर्वहारा मशीन बन गया रहता है और पूजीपति के लिए आर्थिक प्रतियोगिता ही प्रमुख हो गई रहती है—भावना को स्थान नहीं हो सकता। विज्ञान अप्रत्यक्ष शक्तियो को समाप्त करने के कारण बुद्धिवाद का जनक तो है—किन्तु यह बुद्धिवाद भावना को समाप्त नही कर देता। इससे हम अज्ञता-सुलभ श्रद्धा को छोड़ कर ज्ञानपूर्वक अपनी भावनाओ को नियोजित करते हैं। श्रद्धा, सत्य के प्रति भावात्मक प्रवृत्ति है, 'सम्भवत' सत्य को विज्ञान ओझल नही करता, प्रत्युत् निश्चयात्मकता ही देता है, अतः विज्ञान को श्रद्धा का विरोधी नही कहा जा सकता। वैज्ञानिक बुद्धिवाद मानवता के युग मे एक अद्वितीय घटना होता, क्योंकि इससे हमारी श्रद्धा को दृष्टि भी मिलती है, और इस प्रकार श्रद्धा और बुद्धिवाद पृथक् न रह कर 'ज्ञान' का गौरव पाता। किन्तु पूंजीवाद ने बुद्धिवाद को तर्क विशिष्ट बना दिया, क्योकि उसका सत्य 'गौरवशाली' न था—इसी से श्रद्धा को वहाँ कोई स्थान न हो सकता था। पूंजीवाद के कारण विज्ञान से प्राप्त अभिज्ञाता को हीन

दिशा ही मिली। अत बुद्धिवाद का विकृत-रूप ही हमारे सम्मुख आया और आज, जब कि पूजीवाद अपने अन्तिम चरण मे है, उसकी विकृति शत मुखों से ध्वनित हो रही है। कलाए सस्ते मनोरजन के लिए वेश्या-वृत्ति करने को बाध्य हो गई है और बुद्धि वितृष्णा उत्पन्न करने को मजबूर। गम्भीर और महान 'दर्शन' तथा स्वतः प्रवाह शिव-सौन्दर्य को आज कोई स्थान नही, क्योंकि आज इतनी सजीवता ही शेष नही जो चिन्तन और सयम का भार सह सके, आज तो विस्मृति की आवश्यकता है। इसका कारण वह श्रम-विक्रय है जो श्रमिक के पास अपना कहने को कुछ भी नही छोड़ता और उसकी कलात्मक चेतना को निर्जीव बना देता है, और वह प्रतियोगिता जो पूजीपति के मन को भावना-शून्य और बुद्धि को अमानवीय बना देती है, क्योंकि उसका वातावरण ही ऐसा होता है, जिससे वह अपने विचार जगत का निर्माण करता है और भाव जगत का निर्धारण। उस अवस्था मे उसकी जीवन की प्यास तथा अपूर्त, अनभिव्यक्त, अनिर्धारित प्रवृत्तियाँ (Instincts) तृप्ति के लिए बेचैन हो उठती है। क्योंकि वह बाह्य परिवृत्ति के साथ अन्तर की ओर लौट नही सकता (उसकी परिवृत्ति है अर्थ की जड दासता)और क्योंकि वह प्रवृत्ति (Instinct) का आन्तरिक परिवृत्ति से, जो कि सामाजिकता का वरदान (अभिशाप) है, कोई सामजस्य नही बिठा पाता, अत. उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि वह प्रवृत्ति की प्यास बुझाने के लिए अन्तर और बाह्य परिवृत्ति से छुटकारा पाए, विस्मृति खोजे। श्रद्धा या विश्वास और भावना को हमारी परिवृत्ति के शिव और सौन्दर्य से पृथक् नही किया जा सकता किन्तु बुद्धि परिवृत्ति की दुहिता हो कर भी किसी सिद्धान्त विशेष के आधार पर उससे निर्लिप्त हो सकती है। यह ठीक है कि वह भी परिवृत्ति की ही देन है, किन्तु यह परिवृत्ति के आधार पर परिवृत्ति की अस्वीकृति भी है क्योंकि भावना को उसके विषय से पृथक् नही किया जा सकता और बुद्धि

उससे पृथक् भी हो सकती है। अतएव बुद्धि व्यक्तिवाद से समर्थित होकर पारलौकिकता और लौकिकता दोनो से ही निषेध कर सकती है, और व्यक्तिवाद की जनक सामाजिक परिवृत्ति के आधार पर समाज का निषेध कर वीभत्स-तृप्ति मे निर्वासित हो सकती है। भावना परिवृत्ति का प्रवृत्तीकरण है, अत भावना भी अच्छी और बुरी हो सकती है, किन्तु भावना शून्य मे नही हो सकती, वह स्थिति मे आने के लिए अपने विषय से अनिवार्य रूप से बँधी है। प्रेम या श्रद्धा सुन्दर या सत्य का भावन है; अनुभूत एक ही सौन्दर्य या सत्य व्यक्ति को सभी सत्यों और सौन्दर्यो के प्रति संवेदनशील बना देगा और उसकी यह संवेदना जितनी ही बलवती होगी वह उतना ही अधिक परिष्कृत और महान् बन जायगा, उसकी प्रवृत्ति उतनी ही अधिक अप्राकृतिक, अवैयक्तिक और मानवीय होगी। घृणा और क्रोध इत्यादि भी भावनाएँ है किन्तु ये मूलतः निषेधात्मक और अस्थाई है, मनुष्य स्वयं इनको देर तक स्थायी नही रखना चाहता (जो सामाजिक शिव का ही वरदान है)। यदि ये कुछ स्थायिता बना भी ले तो भी ये अपकारक-सामाजिक है ये बुद्धिवाद के समान शून्य मे निर्वासित नही कर सकती। अतः बुद्धिवाद तर्क विशिष्ट होने से जीवन और मनुष्यता के प्रति निषेध के रूप में ही आया।

किन्तु वे लोग जो न तो सर्वहारा थे और न पूजीपति, जिन पर परम्पराओं का भार था और नवीन से असमर्थता-सुलभ डाह, जो पूजीवाद की रहस्यमय प्रक्रिया को न समझ सकने से अन्तर्विरोधो मे उलझ रहे थे, जो न तो अपनी परिवृत्ति से सन्तुष्ट थे और न नवीन को ही स्वीकार कर सके थे, वे या तो सूनेपन की ओर लौट रहे थे या हलचल में अपने आप को खो रहे थे। इनमें भावना थी किन्तु कोई दृष्टि-बिन्दु न था, इसी से इनकी अनुभूति आत्म-केन्द्रित हो 'विषय' की ओर प्रवृत्त होती थी, इनकी अनुभूति में इसीलिए सर्वत्र अहं-व्यक्ति-प्रधान है और वह 'विषयो' को

उसी माध्यम से इकाई रूप में—निरपेक्ष—देखता है और उसी निरपेक्ष सौन्दर्य या निरपेक्ष सत्य को अपनी कल्पना में असीम और शाश्वत बना लेता है। उनकी प्रेयसी नारीत्व की गरिमा और मंजुलता की प्रतीक होते होते स्वतन्त्र तत्व के रूप में आ उपस्थित होने लगती है, निराश्रय भावना विश्व-व्यथा का संगीत बन जाती है और अनन्त विरह आत्मा की गहराइयों में पर्यवसित होने लगता है।

इसका अर्थ यह नही कि उस युग का इंगलिश साहित्य निकृष्ट और बेजान है, सम्भवत: इंगलिश साहित्य का स्वर्ण युग ही इस काल को कह सकते है—किन्तु हमारी उपर्युक्त विशेषताएँ इसमे विद्यमान है इससे निषेध नही किया जा सकता। इसका क्या कारण है कि इन कमियो को लेकर भी यह साहित्य प्रभावशाली है—?—तब प्रश्न उत्पन्न होता है !

इसके उत्तर के लिए हमें एक और प्रश्न करना होगा। इलियट का काव्य, जो जीवन से निषेध करता है, इतना प्रभावशाली क्यो है ? बच्चन और अचल का साहित्य इतना 'सरस' क्यो है ? *

पीछे साहित्य की शाश्वतता का कारण देखते हुए हम बतला आए है कि "काव्य का मूल तत्व भावानुभूति है और यह अनुभूति प्रवृत्तियों Instincts का समाजीकरण है", भावात्मकता जहाँ है वही काव्य है; अत: इलियट और बच्चन तथा अचल के पद्य भी, जहाँ भावानुभूति है काव्य है; किन्तु केवल 'काव्यत्व' ही प्रेषणीय नही हो सकता । अनुभूति को विचारधारा भी प्रभावित करती है। वर्तमान समाज में यह विचारधारा विद्यमान थी जो इनके काव्य मे है—अत: ये इतने अधिक प्रेषणीय हो सके, जिस दिन यह विचारधारा नहीं रहेगी उस दिन भी अपनी अनुभूति

* यहां इलियट, बच्चन और अंचल में किसी समता का दिखाना अभीष्ट नहीं ।

की गहराई के कारण ये काफी प्रभावशाली रहेंगे, किन्तु कुछ विशेषणो के साथ; मिट भी सकते है, किन्तु अपनी इसी बडी कमी के कारण ये सत् काव्य---महत् काव्य---नही कहे जा सकते। यही रोमैटिक काव्य के लिए भी सत्य है–अन्तर केवल कम और अधिक का है। मनुष्य मे एक विशेषता है कि वह शिव का ही स्वागत करेगा---अशिव का नही, जो कवि अपनी वैयक्तिक आशा और निराशा को जितना आत्म केन्द्रित करता जाएगा उसकी अनुभूति उतनी ही निष्प्राण और क्षयशील होगी। फिर जिस निराशा, पराजय और नश्वरता को इन्होने अपनी अनुभूति का विषय बनाया उससे किसी महान् सृजन की आशा ही व्यर्थ है। सभ्य-पूर्व का मृत्यु से भय, सामन्त युगीन धर्म की नश्वरता की ओर निरन्तर जागरूकता इस जीवन को अधिक पूर्ण बनाने की प्रेरणा ही देती थी, किन्तु इलियट की जीवन की नश्वरता के प्रति पराजय भावना जीवन से पलायन है।

तो भी शेली और बायरन का काव्य पर्याप्त सजीव और सप्राण है, उसमें पराजय भावना अपनी सीमा पर नही पहुँची। शेक्सपीयर के बहादुर और जीवन के साथ खेलने वाले पात्रो को यद्यपि हम वहाँ नही पा सकते; इस युग में जो एक विशेष 'समझदारी' और जीवन से निराशा उत्पन्न हो गई है, वह इसको निर्बल बना देती है,तो भी इनमें अभी उत्साह है, जीवन है और उसके प्रति आनन्द और उल्लास की भावना है।

× × × ×

ये विचार और अनुभूतियाँ हमारे देश में भी आकाश मार्ग से आईं और हमने इनका स्वागत किया---क्योंकि हमारे यहाँ जो आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थी उसमें राज दरबारों का साहित्य स्थान नहीं पा सकता था। अंग्रेजी साम्राज्य के साथ एक विशेष राष्ट्रीयता और प्रजातंत्रवाद की जो लहर आई वह यूरोप की भूमि की ही उपज थी। हमारी भूमि इसके लिए तैयार थी किन्तु बिल्कुल भिन्न आधारों के साथ।

हमारे यहाँ न तो वैज्ञानिक समृद्धि का युग आया था और न हम अपने स्वाभाविक विकास के लिए स्वतत्र थे; हमे तो केवल पूजीवाद से शोषण और दूसरी सस्कृति से 'जबरदस्ती की दोस्ती' मिली। इसकी प्रतिक्रिया हुई अवश्य, जिसे हम 'चर्खे' के आन्दोलन में विशेष रूप से देखते है, किन्तु यह सरक्षण सम्भव नही हो सकता था, क्योंकि हम पीछे की ओर देख रहे थे। इस सब के कारण हमारी सास्कृतिक भूमि दृढ और निश्चित नही हो सकती थी; अतएव हमारे साहित्य मे निराशा और क्षरणशील प्रवृत्तियां अधिक है।

२

छायावाद विचारधाराओ की इसी परिवृत्ति के साथ आया। तत्कालीन सुधार-आन्दोलनो से समर्थित द्विवेदी युग के निरन्तर विरोध करने पर भी इसे रोका नही जा सका। सुधार-आन्दोलनों का मुख्य कारण दूसरी संस्कृति के संघर्ष में आई हुई अपनी सस्कृति के प्रति संरक्षण की भावना भी थी, इसी से उन दिनो इस देश के सर्वाधिक प्राचीन और सभ्य तथा आर्यो का ही देश होने पर बल दिया जाता था। इतना ही नही, आज की प्रत्येक नवीन खोज को भी पुरातन-ग्रथो मे लिखित प्रमाणित किया जाता था। इसके लिए सामाजिक आदर्श, श्रद्धा और उत्साह आवश्यक है, किन्तु पराजित सस्कृति और विशृखलित अर्थ तंत्र इस संघर्ष मे अधिक देर नही ठहरने दे सकते। नवीन परिस्थितियाँ जिन विचार-धाराओं को निमंत्रण दे रही थी, यह उनके प्रति प्रतिक्रिया मात्र थी ; वे 'नवीन' स्वीकार करने को तैयार तो थे—किन्तु पुरातन से अनुमति लेकर, अतएव हमारा समाज अतीत को सराहता हुआ भी अपना न सका। द्विवेदी युग भी इन्ही परिस्थितियो मे आया था अतः उसके लिए भी यही सत्य है। वह युग, जो कभी कभी पुरातन को अस्वीकार करता प्रतीत होता है, वास्तव में विशेष-पुरातन को ही, क्योकि इसमें (मध्य-युग में) देश

निरन्तर पराजित होता रहा: सघर्ष के लिए प्रेरणा तो स्वर्ण-युगों से ही मिल सकती है।

द्विवेदी युग के शीघ्र ही पश्चात् छायावाद ने जन्म लिया। प्रसाद तो द्विवेदी युग के मध्यान्ह में ही काव्य-क्षेत्र में आ गए थे और इन्दु मे प्रकाशित होने वाली उनकी छायावादी कृतियाँ सरस्वती क प्रकोप के बावजूद पसन्द की जा रही थी। कुछ ही समय के पश्चात् आने वाले निराला के स्वच्छन्द छन्द और पन्त की कोमल-कान्त पदावली तथा सूक्ष्म भाव गुफन शैली ने एक नवीन आन्दोलन सा खडा कर दिया। निराला जी की प्रथम मुक्तक रचना 'जुही की कली' इतनी प्रसिद्ध हुई कि और किसी भी कविता को इतनी प्रसिद्धि का श्रेय देना कठिन सा प्रतीत होता है।

बहुत से आलोचक छायावाद को द्विवेदी युग के स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह बतलाते है। यह वाक्य बहुत ही प्रसिद्ध हुआ, किन्तु यह बहुत ही उपहासास्पद है! यदि बात इतनी ही आसान होती तब तो मौज हो जाती, क्योंकि इसका अर्थ है कि काव्य आत्मा की आख मिचौनी की क्रीडा का उद्गीथ मात्र है जिसका अपनी परिस्थितियो से कोई सीधा सम्बन्ध नही। यदि यह सम्भावना कर ही ली जाए तो द्विवेदी युग किस सूक्ष्म के विरुद्ध विद्रोह था? रीतिकालीन काव्य किस स्थूल से तंग आया था? यदि उसे भक्ति की प्रतिक्रिया मान लिया जाए तो सस्कृत के रीति काल को किस प्रशान्त काव्य की प्रतिक्रिया कहा जाएगा?

यह ठीक है कि युग-विकास क्रिया-प्रतिक्रिया रूप में हुआ करता है, किन्तु यह परिवर्तन आधारभूत आर्थिक और 'सामाजिक' परिस्थितियों मे पहले होता है, पीछे (उनके आधार पर) साहित्य में। ग्राम्य-साहित्य मे यह परिवर्तन प्राय. न के बराबर होता है; बाहर से परिवर्तित धर्म और दर्शन की धारा भी यदि वहाँ पहुंचती है तो उसको परिवर्तित न कर स्वय उसके अनुसार ही परिवर्तित हो जाती है; इसका कारण क्या ग्राम्य जीवन

मे स्थूल और सूक्ष्म का कुठित होना है ? स्पष्ट ही इसका उत्तर नकारात्मक होगा, क्योकि इसका कारण वहाँ की आर्थिक परिस्थितियो का बहुत ही धीमी चाल से बदलना है। वहाँ का अर्थ-तन्त्र बदलते ही सब कुछ एकदम बदल जाएगा। अत छायावाद पर भी यही नियम लागू होगा।

किन्तु छायावाद को द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया या विकास कुछ भी नही कहा जा सकता। द्विवेदी युग जहाँ प्रधानतः अपनी सस्कृति के प्रति संरक्षण-भावना का परिणाम था, वहाँ छायावाद आर्थिक और राजनैतिक कारणो से निराशा और वेदना की अभिव्यक्ति। छायावाद में सास्कृतिक संघर्ष समाप्त (पराजित होकर) हो चुका था।

छायावाद का उदय प्रथम महायुद्ध के बीच में ही हो गया था, यद्यपि इसका पूर्ण विकास पश्चात हुआ। इस समय सम्पूर्ण ससार ही संक्रान्ति काल मे से गुजर रहा था किन्तु हमारे ऊपर युद्ध का प्रत्यक्ष प्रभाव न होने पर भी बहुत अधिक घातक प्रभाव पडा, आर्थिक परिस्थितियाँ अत्यधिक निराशाजनक हो गईं।

इसका अर्थ यह नही कि छायावाद का उदय निराशाजनक परिस्थितियों के कारण ही हुआ, यह विशेष विचारधारा तो यूरोप मे पहिले ही उत्पन्न हो चुकी थी। वास्तव में यह विचारधारा और ये परिस्थितियाँ दोनो मिल कर ही छायावाद को जन्म दे सकी।

कुछ आलोचक छायावाद के उदय का श्रेय रवीन्द्रनाथ ठाकुर को देते हैं। इससे एकदम निषेध तो नही किया जा सकता, किन्तु इसे मूल भी नहीं माना जा सकता। श्री रवीन्द्रनाथ के कारण छायावाद को जल्दी प्रतिष्ठा मिली और यह एक बडी बात थी, किन्तु वे हमारे साहित्यकों की प्रेरणा थे, यह एकदम सत्य नहीं।

रवीन्द्रनाथ यूरोपीय विचारधारा के भारत में प्रभावशाली प्रवर्तक थे। यूरोपीय विचारधारा का उन पर इतना गहरा प्रभाव था कि वे

भारतीय धर्म और दर्शन की व्याख्या भी प्राय: उसी केन्द्र से करते थे। हेगल के दर्शन और शेली की अनुभूति ने उन्हे सर्वत: छा लिया था, उन्होने उपनिषदो और अन्य प्राचीन ग्रथो को जिस दृष्टिकोण से देखा उसमें भी इसकी गध स्पष्ट है। उनके गीत भी इगलिश टाइप के ही अधिक है।

छायावादी कवि भी पश्चिमीय विचारधारा से प्रभावित होकर ही छायावादी काव्यसृजन कर सके थे किन्तु वे अपनी परिवृत्ति मे से ही उसे ग्रहण करते रहे। अत. उनके काव्य में भारतीय प्रवृत्तियाँ और तत्कालीन परिवृत्ति सहज ही देखी जा सकती है। प्रसाद का भारतीय धर्म-दर्शन और इतिहास का इतना ठोस अध्ययन था कि वे हेगल-दर्शन को उस प्रकार से नही अपना सकते थे; उन्होने अपने दर्शन का नवीन से मेल भर बिठाया। उनके प्रारम्भिक या अन्तिम किसी भी काव्य पर रवीन्द्र का प्रभाव नही देखा जा सकता।

निराला पर इधर उधर से प्रभाव ढूँढे जा सकते है, किन्तु उनकी प्रतिभा इतनी प्रखर और व्यक्तित्व ऐसा सशक्त है कि उनसे किसी से प्रभावित होने की आशा करना ही व्यर्थ है। उनका भारतीय दर्शन का अध्ययन गहन था, किन्तु वह भी उनके अपने अहम् से ही प्रसूत होता प्रतीत होता है। न तो वे ही किसी का अनुकरण कर सकते है और न अन्य कोई उनका।

पन्तजी पर रवीन्द्र और शेली का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। वास्तव में उसे प्रभाव न कह कर नकल कहना चाहिए, क्योंकि उनमें पद्य के पद्य अनूदित मिलेंगे, यहाँ तक कि अनेक बार तो शब्द भी इंगलिश शब्दों की छाया प्रतीत होते हैं। कही कही वे कालिदास का भी नवीन संस्करण प्रस्तुत करना चाहते है, किन्तु वे भी रवीन्द्र के ही माध्यम से। इसका कारण अनुभूति की निर्बलता ही है, और कुछ नही। किन्तु पन्तजी की इस कमी को छायावाद की कमी नही कहा जा सकता।

इनके पश्चात् शुभश्री महादेवी जी काव्य क्षेत्र में आईं और उन्होंने अपने मधुर गीतो से अपूर्व मजुलता हमारे साहित्य को दी। आचार्य हजारी प्रसाद के अनुसार रवीन्द्र का प्रभाव केवल उन्ही पर हिन्दी साहित्य में देखा जा सकता है। किन्तु मै इससे सहमत नही। उनके काव्य में जो आध्यात्मिक वातावरण है उसे देखते हुए द्विवेदी जी की बात संगत प्रतीत होती है, किन्तु उनके गीतो की उठान और टेक, एक विशेष माधुर्य और मजुलता एकदम हमारे ग्राम-गीतों की सी है। दूसरे, उनके गीतों में घटना और बाह्य दृश्य का नितान्त अभाव होता है, वहाँ केवल प्रभाव ही देखा जा सकता है, जब कि रवीन्द्र के गीतो में यह बात नही। ऐसा प्रतीत होता है जैसे उनका मन किसी प्राप्ति के लिए मचल उठता है, जिसका कोई दृष्टि बिन्दु नही, और दृश्य जगत मे सन्तुष्टि न पाकर वे किसी काल्पनिक सौन्दर्य, सत्य और महत् की ओर निवेदित होता है। इसे पलायन भी कहा जा सकता है और अपने प्रति महत्व भावना भी। रवीन्द्र में भी यह आत्म-निवेदन है किन्तु वह—जिसके प्रति निवेदन है—अधिक अलौकिक है जब कि महादेवी जी की कल्पना अधिक 'लौकिक'—मूर्त। रवीन्द्र मे वैभव और 'सलज्जता' अधिक है और महादेवीजी मे मंजुलता और माधुर्य। वेदना का कारण उन्होने यामा में जो लिखा है, उससे मैं सहमत नही हो सका अतएव १० मई ५० की एक भेंट मे मैंने उनसे पुन: इस विषय में पूछा तो उन्होंने इसे विषम-युग स्थिति का कारण बताया। उन्होने कहा, "परिस्थिति से कोई अछूता कैसे बच सकता है?" मै इससे प्राय: सहमत हूँ। किन्तु परिस्थितियाँ तभी वेदना और निराशा उत्पन्न कर सकती है जब व्यक्ति उनके प्रति जागरूक न हो और कारणों को न जानता हो। यह तो एकदम नही कहा जा सकता कि वे अजागरूक है किन्तु यह सत्य है कि युग परिस्थिति के प्रति वे निष्क्रिय है, और इसीलिए वे अपना सुलझाव परिस्थितियों के परिवर्तन में नही, किसी अपरिवर्तित आध्या-

त्मिक सत्ता में खोजती हैं। कल्पित महत् व्यक्तित्व के प्रति आत्म-निवेदन के ये दोनों ही कारण कहे जा सकते हैं, किन्तु वेदना का कारण मुख्यतः दूसरा ही है। उनकी कल्पनाशीलता भी वेदना का कारण है, क्योंकि कल्पित महत् व्यक्तित्व से प्रेम अन्तत यथार्थ नही। मीरा या कबीर का आत्म-निवेदन भाव-विन्हलता से ही प्रसूत था, अतः उनका प्रिय भी 'यथार्थ' ही था; किन्तु महादेवी जी की पहिली पहुँच बौद्धिक है, यद्यपि उनकी वह मानसिक स्थिति भी जो उस कल्पना को प्रेरित करती है, इसके लिए कम उत्तरदायी नही। किन्तु वह मन स्थिति —झिझक, निराशा और कुतूहल तथा पराजय भावना——अन्ततः व्यक्तित्व की कमजोरी है, यद्यपि हृदय की मार्मिक व्यथाएं किन्हीं तर्कों को नही मानती। वास्तव में व्यक्तित्व की साधना एकान्त की कल्पनाशीलता में स्वस्थ विकास नही पा सकती।

रवीन्द्र के 'उल्लास' का कारण, जैसा कि बहुत लोग कहते है, उनकी आध्यात्मिकता नही उनकी परिवृत्ति है। छायावादी कवि जनता मे से ही एक थे; वे उससे निराश थे और दूर भागने का प्रयास करते थे, किन्तु अपने प्रत्येक कार्य के समर्थन के लिए और अपने जीवन के लिए वे उसी की ओर देखते थे। वे प्रथम साधारण होकर असाधारण बने थे। इसके विपरीत ठाकुर जनता को दूर से अपने समृद्ध प्रासाद से निहार भर लेते थे— "करोड़ों पुरजोश बाहे कभी कुछ कर देने के लिए बेचैन और कभी विवश सी कुछ मागने के लिए फैली हुई;" उनका हृदय दोनो ही कल्पनाओ से उल्लसित हो उठता था, क्योकि उसकी पीडा और उल्लास से उनका कोई सीधा संपर्क न था। अपने समर्थन के लिए वे प्रायः 'संसार' की ओर देखते, कुछ बड़े आदमियो का ससार... .यही कारण है कि उनका प्रत्येक कार्य अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर होता था और यदि वे राष्ट्र के लिए कुछ करते थे तो बस यही कि वे उसके 'महान'

सांस्कृतिक प्रतिनिधि के रूप मे उन 'बडे आदमियो' के संसार को ललकारते थे ।

छायावादी कवि हमारी जनता के साथ ही दबे पिसे थे; व्यक्तिवाद इत्यादि विचारधाराएं भी उन्होंने उसी माध्यम से प्राप्त की थी, देखना यह है कि उन्होंने कहा तक उनका उदात्तीकरण किया। इस दृष्टि से जब हम छायावादी कवियों पर दृष्टिपात करते है तो प्रसाद, निराला और महादेवी तीनो को अत्यंत उच्चस्तर पर पाते हैं । प्रसाद अमीर घर में उत्पन्न हुए थे, किन्तु उन्हे जीवन के कटुतम यथार्थो से उलझना पड़ा और अन्त में तो उनकी दशा अत्यंत दयनीय हो गई थी । निराला को तो अपनी प्रत्येक सांझ की रोटी के लिए सघर्ष करना पडता था। महादेवी जी इस ओर से सौभाग्यशाली होती हुई भी उस श्रेणी की नही हैं जो अपना केन्द्र आप होती हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने आपको अत्यधिक साधारण जनता के बीच में रखकर भी परखा, यद्यपि यह ठीक है कि वे सर्वत्र अपनी विशेष परिवृत्ति के साथ ही गईं । पन्त जी को इनसे कुछ पृथक् रखकर ही देखना होगा ।

यद्यपि वे भी असाधारण स्थिति के न थे, तो भी वे जन-संपर्क से सदैव दूर रहे। जनता से उन्हें स्वभावतः ही कुछ भय और 'घृणा' थी। अपनी साधारण स्थिति और 'सीमित' प्रतिभा के कारण उन्हें किन्हीं बडे लोगो से समर्थन तो प्राप्त नहीं हुआ किन्तु वे निरन्तर समर्थन के लिए जागरूक रहे और समर्थकों की अभीष्ट-पूर्ति करते रहे।

समाज से पृथक् होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नही होता, क्योंकि व्यक्ति का चिन्तन और अनुभूति समाज के अतिरिक्त कुछ भी नहीं, किन्तु वर्ग विभक्ति के कारण व्यक्ति उन सीमाओं में ही सोचता है। पन्त जी के लिए भी यही सत्य है। क्योंकि पन्त जी एक साधारण वर्ग के सदस्य थे अतः

उसी के प्रतिनिधि भी थे, किन्तु उनकी भीरु-प्रकृति ने उनके कार्य को सर्वत्र निर्बलता और क्षीणता प्रदान की।

छायावादी काव्य मे शब्द-माधुर्य और भाव सौकुमार्य सीमा तक पहुँचा। जितने भी कवि इस काल मे हुए उन सभी ने काव्य को शब्द-सौन्दर्य और भाव-माधुर्य ही समझ लिया और इस प्रकार कुछ विशेष प्रकार के शृगार से कविता को सजाने लगे। कुछ विशेष शब्द और विशेष भाव थोडी सी अदल-बदल के साथ इस काल के सपूर्ण काव्य को अलकृत करते रहे। प्रेम, और वह भी 'आध्यात्मिक' इस युग की कविता का केन्द्र बिन्दु था, किन्तु इसमें दृप्तवासना, ज्वलन्त कुत्सा और अतृप्ति के कीटाणु इस सीमा तक भरे है कि उसमे जीवन प्राय: नि:शेष हो गया है। इसका बहुत कुछ कारण सामाजिक उद्देश्य का अभाव, निराशा, पूँजीवादी अन्तर्विरोध और छिछला बुद्धिवाद है। नारी की स्वतन्त्रता का आन्दोलन और प्रजातन्त्रवाद नारी को बन्धन-मुक्त तो कर सके, किन्तु इस स्वतन्त्रता ने व्यक्तिवादी कल्पनाशीलता मे अपने को आकाश के विस्तार मे बढाना प्रारभ कर दिया। इन दिनों "सौन्दर्य देखने की वस्तु है, छूने की नही" का आन्दोलन खूब चला, इसको हम सपूर्ण छायावादी युग का 'सिद्धांत' कह सकते है। नारी भी सौन्दर्य की 'वस्तु' ही समझी गई, जिसकी पवित्रता और कोमलता को सुरक्षित रखने के लिए कवि ने एक काल्पनिक संसार का निर्माण किया। स्पष्ट ही नारी सजीव व्यक्ति न रहकर एक 'कल्पना' हो गई। यह पवित्रता और सौन्दर्य की भावना नितान्त अस्वाभाविक थी, इसी से कुछ अधिक प्रतिभाशाली अपनी महान् कल्पना और अनुभूति के बल पर पर्याप्त सशक्त और 'महान्' काव्य का निर्माण भी कर सके किन्तु अधिकांश काव्य तपेदिक से पीडित ही रहा। इसका कारण था वासना का 'अस्वाभाविक निकास। यदि सामाजिक लक्ष्य और सामाजिक अनुभूति का ठोस आधार हो

तो स्वभावतः सौन्दर्यानुभूति स्वस्थ और पवित्रता की भावना ठोस होगी।

सामन्तवादी युग में दरबार भी अन्ततः सामाजिक था; यद्यपि उसका दृष्टिकोण एक वर्ग का दृष्टिकोण था जो दूसरे वर्ग के साथ शासक-शासित सबंध मे बँधा था। किन्तु उस युग का दरबारी कवि दरबार के प्रभुत्व का प्रतिनिधि नही था, वह दरबार की शान का वेतन-प्राप्त गायक मात्र था। तो भी न तो दरबार उसको वेतन देनेवाली एक मशीन था और न वह उसका व्यक्तिवादी प्रचारक, दरबार उसके लिए एक धार्मिक संस्था थी। अतः वह जनता और दरबार दोनों से दूर न था। सामन्तवाद क्रमशः अधिक सकुचित होता गया और उसका अपना एक पृथक् अस्तित्व रह गया, एक कर-भोक्ता के रूप मे। उत्पादन के साधन अपेक्षाकृत अधिक विकसित हो जाने से और निरन्तर होने वाले राजनैतिक उलट-फेरो से उस युग के कवि के लिए दरबार अब एक धार्मिक-सस्था तो नही रह गया था तो भी उसका गौरव और अवश्यम्भाविता उसके लिए समाप्त नही हो गई थी। धर्म भी सामाजिक संस्था के रूप मे समाप्त नही हुआ था। इसीलिए उस युग का काव्य अधिक दरबारी है, क्योकि अब दरबार की सीमाएं अधिक कठोर और 'ऊंची' थी और कवि उसके गौरवशाली सेवक के समान अपनी स्थिति पर संतुष्ट था।

ये दोनों ही युग अपनी उत्पादन प्रणाली और सामाजिक-शक्तियों के जागरूक नियन्ता नही थे। अपनी उत्पादन-प्रणाली और सामाजिक शक्तियों से परिचित नवीन युग जब मानव-कल्याण के लिए उनका प्रयोग समझकर करेगा तभी पूर्ण स्वस्थ और महान काव्य भी जन्म लेगा। संभव है किन्ही अन्य कारणों से और प्रतीक्षा भी करनी पड़े! इसका अर्थ यह नही कि पहिले कभी महान और स्वस्थ काव्य लिखे ही नही गए, किन्तु उसी अनुपात में जिस अनुपात में उस समय की आर्थिक प्रणालिया संतुलित और वर्ग स्वार्थरहित थी।

आर्थिक प्रणालियो के अतिरिक्त सामाजिक और सांस्कृतिक सघर्ष भी काव्य-कलाओ की समृद्धि-क्षय मे निर्णायक होते है और अर्थ-प्रणाली तब कुछ गौण सी प्रतीत होती है, किन्तु ऐसा प्रायः संक्राति-काल मे ही अधिक होता है।

× × × ×

छायावादी काव्य भी इन गुण-दोषों से मुक्त नही। निराशा, व्यथा, मधुरता, अलंकृति, निर्बलता, कल्पनाशीलता तथा अस्वस्थ भावुकता सभी कुछ हम इसमें मूर्त पा सकते हैं। तो भी सामन्तवादी बन्धनों से मुक्त इस क्रांतिकारी युग में एक उत्साह और नवीन आदर्शों के प्रति निष्ठा भी थी। अत: निराशा और व्यथा भी इनके काव्य में अत्यत प्रभावशाली बन सकी। कुछ प्रतिभाशाली कवि, जो इस संक्रांति काल में हुए उन्होंने तो आशा और निराशा, व्यथा और उल्लास के इस विचित्र समन्वय को बडी मार्मिक अभिव्यक्ति दी।

हमारे साहित्य मे प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी ने युग-प्रवर्तन और प्रवर्धन का कार्य किया और उस समय की हमारी साहित्यिक परिस्थितियों को देखते हुए तो यह और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। ये चारों कवि अपनी अलग-अलग विशेषताएं लेकर आये और हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया।

प्रसाद मुख्यतः प्रेम-कवि थे और उनका प्रेम पर्याप्त स्वस्थ और मांसल था, क्योकि इन्होंने प्राचीन साहित्य और दर्शन के अध्ययन के द्वारा अपने व्यक्तित्व को एक संस्कृति के सजीव-संपर्क में रखा था। उनके इस सौन्दर्य-दर्शन में यद्यपि अनेक स्थलों पर वह 'आध्यात्मिक' अवतारणा भी है जिसका हम पीछे उल्लेख कर आए हे, जैसे—

गौरव था, नीचे आए
प्रियतम, मिलने को मेरे

मैं इठला उठा अंकिचन,
देखे ज्यों स्वप्न सबेरे ।

'आँसू'

इसी प्रकार

रजनी के लघु लघु तम कण मे,
जगती की ऊष्मा के वन में,
उस पर पड़ते, तुहिन सघन मे
छिप, मुझसे डरने वाले को—
अरे कहीं देखा है तुमने, मुझे प्यार करने वाले को ।

किन्तु ऐसे स्थल भी अनुभूति की यथार्थता के कारण (मेरा अभिप्राय स्पष्टता से है) बहुत अधिक सजीव और प्रभावशाली है । और ऐसे पद्य उनके काव्य में बहुत अधिक नही; वे तो सर्वत्र "आलिगन में आते आते, मुसक्याकर जो भाग गया" की पीडा से विकल है । नाटको के गीतों में प्रायः सर्वत्र उनका स्वस्थ और मांसल प्रेम ही अभिव्यक्त हुआ हैं । किन्तु उनका काव्य केवल प्रेम ही प्रेम नही, उन्होंने अनेक गीत और कविताए अन्य विषयो पर भी लिखी हैं । कामायिनी उनकी प्रौढकला, परिपक्व विचार और अनुभूति का सबल प्रतीक है ।

तो भी उनमें निरन्तर निराशा और भाग्यवादिता घर करती गई और अन्त में प्रायः वही उन्हें ले डूबी । उनके प्रायः संपूर्ण काव्य में, चाहे वे कितने ही दार्शनिक, प्रेमी या महत् व्यक्तित्व हो, एक निराशा, जो अत्यंत कटु और गंभीर है, स्पष्ट देखी जा सकती है; जैसे वे अपनी प्रतिभा की ऐंठ के कारण भाग्य के व्यंगों पर हँसते हुए भी निरन्तर पराजित हो रहे हों ।

महाकवि निराला को मुख्यतः विद्रोही कवि कहा जा सकता है । उनकी प्रतिभा प्रखर और व्यक्तित्व अक्खड़ है । उनके लिए यह कभी नहीं

कहा जा सकता कि अब वे किधर मुडेगे। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वे ऐसी कृतिया भी दे सके जो छायावादी काव्य का गौरव है, और उनके अतिरिक्त जिनका सृजन अन्य के लिए असभव था। उन्होंने वेदान्त का बहुत अध्ययन किया था और वे उससे प्रेरित भी है किन्तु उनके पास आकर जैसे सभी कुछ अपना अस्तित्व खो देने को बाध्य होता है। अतएव उनका वेदान्त वास्तव मे उनके शक्तिशाली अहम् का ही समर्थक बन कर आया है।

छायावाद के प्रमुख कवि वे समझे गए, किन्तु उनके काव्य मे ऐसी प्रवृत्तियों की कमी नही, जो छायावाद की सज्ञा नही पा सकती। परिमल की पंचवटी-प्रसग, गीतिका की अधिकाश कविताएँ और नये पत्ते के बाद की अधिकाश कृतिया ठीक तरह से छायावादी नही कही जा सकती। गीतिका की अभिव्यक्ति और प्रेरणा दोनो ही छायावादी ढंग की नही। किन्तु उनकी प्रेरणा वहा क्या है, यह भी ठीक तरह से नही कहा जा सकता। प्रेम और शृंगार की उसमे प्रधानता है किन्तु निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि निराला जी की अनुभूति मे प्रेम और शृंगार नही उतरा। एक उदाहरण लें—

मौन रही हार,
प्रिय-पथ पर चलती
सब कहते शृंगार !
कण-कण कर कंकण, प्रिय
किण्-किण रव किंकिणी,
रणन-रणन नूपुर, उर लाज
लौट रंकिनी;
और मुखर पायल के स्वर करें बार बार,
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार !

इसमें न केवल अभिव्यक्ति अपूर्ण और अस्पष्ट है प्रत्युत अनुभूति का भी अत्यंत अभाव है । अभिसारिका का इससे अधिक अच्छा वर्णन हम रीति-काव्य मे पा सकते है । 'उर-लाज' के लिए तीन पंक्तियो मे नूपुर और ककण बजाए गए है । वैसे भी 'उर-लाज' 'लौट-रकिनी' प्रयोग कितने गलत है ! इसी प्रकार—

कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना ?
सीखा केवल हँसना—केवल हँसना—
शुभ्र किरण वसना ।
मन्द-मलय भर अंग-गन्ध मृदु,
बादल अलकावलि कुंचित ऋजु,
तारक-हार, चन्द्र-मुख, मधुऋतु
सुकृत पुंज अशना ।

यहा गणना ही अधिक है और प्रभाव-वर्णन प्राय: न के बराबर । अनुभूति के नितान्त अभाव के कारण यह परिगणन भी निष्प्राण और प्रभाव रहित है । यहा महादेवी जी से एक पद्य देने से अन्तर स्पष्ट हो जाएगा—

धीरे धीरे उतर क्षितिज से,
आ वसन्त रजनी !
तारक-मय नव वेणी-बन्धन,
शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सितघन-अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे,
चितवन से अपनी !

दूसरा पद्य पढते हुए जहाँ वसन्त-रजनी खिलखिलाती हमारे सम्मुख अनन्त सौन्दर्य विकीर्ण कर देती है वहा पहिले पद्य मे हम रूपकों को ही पकड़ते रह जाते हैं ।

तुलसीदास में निराला जी का शक्तिशाली व्यक्तित्व सजीव हो उठा है। किन्तु उनकी प्रखर प्रतिभा, लगता है, अत्यंत अस्पष्ट चित्रो का संग्रह रखती है, सभवत' उनकी कृतियो के अस्पष्ट और अबूझ होने का यह भी कारण है। कभी कभी तो वे इतने अबूझ हो जाते है कि पाठक अर्थ लगाने का प्रयास भी छोड़ देता है। तुलसीदास के लिए भी यही सत्य है।

उन्होंने अनेक व्यंग और आक्रमणकारी कविताए भी लिखी है और उनमें बहुत सी कृतियां तो अद्वितीय है, किन्तु उनकी प्रेरणा सजग युग-दर्शन नही, प्रतिक्रिया मात्र है। तो भी उनका महत्व कम नही किया जा सकता।

उनके व्यक्तित्व का और काव्य का भी पूर्ण-फल उनके बादल-राग, राम की शक्ति पूजा और उनके व्यग है। हिन्दी-काव्य उनको पाकर धन्य हो सका है।

निराला जी के लगभग साथ ही साथ श्री पन्त जी भी काव्य क्षेत्र में आए। इन्होंने खड़ी बोली को इतनी मजुलता और परिष्कृति दी कि वह सहज ही ब्रजभाषा के माधुर्य के सम्मुख खड़ी हो सकी और सबसे बढ़कर, नवीन अनुभूतियो को अभिव्यक्त कर सकी। इस नवीन शब्दावली के बिना, जो पन्त की परिष्कृत-दृष्टि ने हिन्दी काव्य को दी, खड़ी बोली इतनी समृद्ध हो सकती, यह संभावना कठिन जान पडती है। छायावादी काव्य के पूर्ण प्रतिनिधित्व का, और प्रवर्तन का भी, गौरव उन्हे ही दिया जाएगा। किन्तु दुर्भाग्यवश उनको अनुभूति निर्बल, व्यक्तित्व कोमल और कुछ स्त्रैण तथा प्रतिभा मृदुल और भीरु सी मिली जिससे उनके काव्य में वह सशक्तता और मौलिकता नही आ पाई जो एक युग-प्रवर्तक के लिए अपेक्षित है। आत्म-विश्वास की कमी भी इनमे बहुत अधिक रही, यही कारण है कि ये या तो अन्य महाकवियों से अपने लिए प्रेरणा और कभी कभी 'वस्तु' भी ग्रहण करते रहे और या आलोचकों के सकेतो पर इधर-

उधर पथ बदलते रहे। इसी से इनके छायावादी काव्य में 'जीवन' सुख-दुख समन्वय और मानवता इत्यादि शब्द और सिद्धात अत्यधिक (माग से भी) पाए जाते है और इसी से छायावाद को वे बाद में वह सब कुछ कह देते है जो प्रगतिवाद काल के प्राय. आलोचकों को पसद था। वे यह भी भूल जाते है कि उस युग की परिस्थितियाँ क्या थी और वे स्वय छायावाद के सबसे प्रमुख लेखक रहे है।

खैर, इन कमियो के बावजूद, यद्यपि ये बहुत बडी कमिया ह, वे छायावादी काव्य के मुख्य लेखक है और शब्द-सौदर्य तो हिन्दी काव्य को उनकी अमर देन है।

इन तीनों कवियों के पश्चात्, जब द्विवेदी-युग समाप्त-प्राय था, १९२३-२४ के लगभग श्रीमती महादेवी जी काव्य क्षेत्र में आई। महादेवी जी को वे बाधाए अब नही थी जो प्रसाद इत्यादि के पथ में आई और न नवीन पथ के निर्माण का ही प्रश्न था। अत: अब वे अपना पथ-निर्धारित करने में स्वतन्त्र थी।

इस समय तक वे विचार धाराएं, जो यूरोप से आ रही थीं, हमारे रक्त में स्थान बना चुकी थी, युद्धोत्तरकालीन निराशा और पराजय-भावना ने भी काफी प्रभाव छोड़ा था। महादेवी जी का व्यक्तित्व इन्ही आधारों पर विशेषत' गुम्फित है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व की साधना 'नीरव' में की है; उन्हें इसमें एक विशेष सुख मिलता है। वेदना उनके जीवन का एक अग बन गई है क्योंकि अस्वाभाविक पवित्रता की धारणा और आहत अहमिका क। यही परिणाम हो सकता है। ऐसा लगता है, उन्होंने किसी तीव्र प्रतिक्रिया—या प्रतिक्रियाओं—के चारों ओर अपने विचारो और भावनाओं का ताना-बाना बुना है। वे निरन्तर स्थूल तृप्ति को अपनी भावनाओं के आगे से टालती रहती है।

उन्होंने अपनी भावनाओं और विचारो को निरन्तर परिष्कृत किया है और क्रमशः अधिक सयत और महत् आधार प्रदान किया है। उनकी अतृप्ति और वेदना ने जो तीव्रता थी वह क्रमशः कम हुई है। मै इसका कारण उनकी परिणत वय नही समझता, उस अवस्था में तो उन्हें अधिक निराश और जीवन से विमुख होना चाहिए था जब कि वे जीवन के प्रति अधिक उत्साह और विश्वास से आगे बढ़ रही है। इसका कारण वास्तव में उनकी जागरूकता को ही कहा जाएगा। उनके पहिले काव्यो में जहां एक विव्हल प्यास है (यद्यपि ऐसी भीषण नही) और अस्फुट आकांक्षा वहां आज प्रशान्त वेदना है। नीहार से एक उदाहरण देखें—

झुक झुक झूम झूमकर लहरें, भरती बूँदों के मोती,
यह मेरे सपनों की छाया झोंकों में फिरती रोती,
आज किसी के मसले तारों, की वह दूरागत झंकार,
मुझे बुलाती है सहमी सी, झंझा के परदे के पार।
इस असीम तम में मिलकर, मुझको पलभर सो जाने दो,
बुझ जाने दो देव! आज मेरा दीपक बुझ जाने दो!

इसके विपरीत सान्ध्य गीत में—

साधों का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर सघन,
सन्ध्या का नभ से मूक मिलन,
यह अश्रुमती हँसती चितवन,
घर आज चले सुख-दुःख विहग
तम पोंछ रहा मेरा अग-जग
छिप आज चला वह चित्रित मग
उतरो अब पलकों में पाहुन!

इस प्रकार महादेवी जी के व्यक्तित्व मे एक बडी कमी होते हुए भी, जो किन्ही विशेष घटनाओं या घटना का परिणाम ही अधिक है, हम उनको निरन्तर साधना में निखरते पाते है। युग का प्रभाव, जैसा कि वे कहती है, भी एक बडा महत्वपूर्ण भाग है, किन्तु उनके काव्य मे जितनी एक-रूपता, पीडा के प्रति जितना 'अकारण' मोह और हठ है वह केवल युग का ही प्रभाव नही हो सकता, नही तो इस वेदना और उसकी अभिव्यक्ति का एक दूसरा ही रूप होता।

आज, जब कि युग परिवर्तित हो चुका है और वे परिस्थितियों के प्रति पर्याप्त सजग है, तो भी उनका उसी धारा में बहते जाना उनके व्यक्तित्व की किसी विशेष अपूर्णता का ही सूचक है। और वर्तमान सघर्ष में उनकी अपने विचारो के विरुद्ध निष्क्रिय स्थिति भी उनको कम निराश्रित नही करती। संक्षेप में उनकी वेदना केवल युग-स्थिति का ही परिणाम नही।

इन चारों कवियो ने छायावाद को हिन्दी-काव्य के इतिहास में पर्याप्त गौरवास्पद बना दिया। इनके अतिरिक्त बहुत कम कृतियां ही ऐसी छाया-वाद दे सका है जिनका कोई विशेष महत्व हो। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उस अस्वस्थ युग-स्थिति में सबल और स्वस्थ काव्य-निर्माण बहुत कठिन कार्य था। मानवता की ठोस भूमि पर भविष्यत्-निर्माण के प्रति सामाजिक अनुभूति से प्रेरित होने पर ही इसका (छायावाद का) कोई विकल्प हो सकता था, किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न हो सका।

छायावादी कवि पन्त के विचार और प्रवृत्तियाँ

पिछले अध्याय मे हम देख आये है कि किस प्रकार छायावादी कवि अपने हृदय को अनन्त विश्व का हृत्स्पन्दन समझता है और इस प्रकार अपने सुख-दुख, अश्रु-हास को भी चिर और शाश्वत सत्य के रूप में देखता है। किन्तु उसकी प्रक्रिया सामाजिक नही वैयक्तिक होती है। निराला जी के शब्दों मे—

मैंने 'मै' शैली अपनाई,
देखा एक दुखी निज भाई,
दुख की छाया पड़ी हृदय में,
झट उमड़ वेदना आई।

(अनामिका)

उसकी वेदना, जो 'विश्व-व्यथा' के शब्दों मे अभिव्यक्त होती है, वास्तव में वैयक्तिक है। विश्व व्यथित है इसलिए वह व्यथित नही होता प्रत्युत् वह व्यथित है इसलिए विश्व को भी व्यथित कल्पित करता है।

पन्त जी छायावाद के प्रतिनिधि कवि है, अतः छायावाद की सभी विशेषताएं उनमें विद्यमान है, अथवा जो कुछ उन्होंने लिखा उसी के आधार पर छायावाद की परिभाषा निश्चित की जा सकती है। गुजन तक की अपनी कृतियों में वे सर्वतः छायावादी है। पहिली पहिली (वीणा की) कविताओ मे यद्यपि लोक-कल्याण की सामाजिक भावना उनमे विद्यमान है, (जो उनकी बाद की लोक-कल्याण-कामना से भिन्न जाति की है) किन्तु वह तुतलाहट से अधिक कुछ नही। कुछ द्विवेदी युगीन सुधारवाद

और कुछ विवेकानन्द के आध्यात्मिक आत्म-विस्तार-वाद का प्रभाव उनके शिशु हृदय पर जो पडा वही कही-कही पद्यो मे बिखरा मिलता है। उसमें स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव ही अधिक है। जैसे—

> **विश्व-प्रेम का रुचिकर राग**
> **पर सेवा करने की आग,**
> **इसको सन्ध्या की लाली सी,**
> **माँ, न मन्द पड़ जाने दे**
> **द्वेष-द्रोह को सांध्य जलद सा,**
> **इसकी छटा बढ़ाने दे।**

(वीणा-अभिलाषा)

> **बन मरीचिका सी चंचल,**
> **जग की मोह-तृषा को छल,**
> **सूखे मरु में माँ! शिक्षा का**
> **स्रोत छिपा सम्मुख धर दूँ।**

(वीणा-आकांक्षा)

इन दोनों पद्यों मे आर्यसमाज की बजाय विवेकानन्द का प्रभाव ही स्पष्ट है। 'द्वेष-द्रोह को सान्ध्य जलद सा' इत्यादि पंक्ति में द्विवेदी युग की सूझ नहीं, यहां वही भावना काम करती है जो 'नकारात्मक वस्तुओं को सकारात्मक के महत्व को बढ़ानेवाली' कह कर वह युग प्रगट करता रहा है। इसी प्रकार दूसरे पद्य की पहली पंक्ति में भी स्पष्ट ही स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव है, जहां मोह और अज्ञान को दूर करने वाले सौन्दर्य और ज्ञान को माया समझा जाता है। स्वामी विवेकानन्द की अमेरिका और अतएव भारत में जो अद्वितीय प्रतिष्ठा हुई थी उसे देखते हुए यह प्रभाव स्वाभाविक भी था।

किन्तु लोक-कल्याण की सामाजिक भावना न तो विवेकानन्द के दर्शन मे थी और न पन्त जी मे ही। आर्य समाज का आन्दोलन सामाजिक प्रेरणा और सामाजिक अनुभूति ही था, किन्तु पन्त जी पर उसका प्रभाव प्राय: न के बराबर था। स्वामी विवेकानन्द का लोक और समाज अखिल का एक रेणु (और वह भी मायिक) होने से किसी महत्व का न था, उनके लिए कल्याण का यही महत्व था कि उससे उनकी आत्मा का विस्तार होता है और इस प्रकार वे मुक्ति की ओर अग्रसर होते है। अतएव उनकी लोक-कल्याण की भावना भी एक रस थी। वे अमेरिका मे 'लोक-कल्याण' के ही लिए गए थे और वहा के लोगो की अपने प्रति श्रद्धा से (और अतएव उनकी सत्प्रवृत्ति से) रीझ गए थे; वहा के नीग्रोज़ के साथ क्या होता है, इसकी उन्हे तब चिन्ता करने की कोई विशेष आवश्यकता ही न थी। पन्त जी में यह परोपकार की भावना बचपन की शिक्षा-रूप में आई, जो बचपन के साथ ही साथ समाप्त भी हो गई। वीणा काल मे भी ऐसे पद्य कम ही है और पल्लव मे तो उनकी कोई आवश्यकता ही नही रही।

पल्लव मे आकर वे अपनी वेदना और प्रेम, सुख-दुख और अश्रु-हास के प्रति सजग हो गए थे; उनका हृदय अब प्रत्येक वस्तु मे एक रहस्य और रोमास का अनुभव कर रहा था। अब वे विश्व-व्यथा को अपने हृदय में नही, आत्म-व्यथा को विश्व-हृदय मे स्पन्दित देख रहे थे। पल्लव की भूमिका में काव्य का लक्षण बताते हुए उन्होने लिखा है "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तर्तम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है। अपने उत्कृष्ट रूप मे हमारा जीवन छन्द ही में बहने लगता है। * * * सृजन-स्थिति-सहार सब एक अनन्त छन्द, एक अखड सगीत ही मे होता है।"

अनन्तता और शाश्वतता की यह सगीतमय भावना इनको यथार्थ के सजीव-स्पर्श से दूर एक ऐसी कल्पना मे निर्वासित कर देती है, जहां सब

मीठा-मीठा है। इससे हमारी दृष्टि पर एक ऐसी ओप चढ जाती है जो यथार्थ को कल्पना मे, समाज को वैयक्तिकता मे और सापेक्ष्य को निरपेक्ष्य में ओझल कर देती है। इसी से इस युग की सौन्दर्यानुभूति विषय सापेक्ष्य न रहकर चित् की निरपेक्ष प्रक्रिया मात्र रह गई।

सामन्त युग मे नारी के मातृत्व, पत्नीत्व और बहन पक्ष को बहुत सम्मान दिया गया, जो सामाजिकता का ही निदर्शन है (यद्यपि यह सम्मान भाववाचक सज्ञा को ही मिला) किन्तु पूजीवाद में यह सम्मान निरपेक्ष्य सौन्दर्यानुभूति को, जो नारी मे अपनी अभिव्यक्ति करती हैं, ही दिया गया; इसी से नारी छायावादी काव्य मे सजीव व्यक्तित्व नहीं पा सकी। इसका एक बडा कारण वह पूजीवादी नैतिकता भी है जो व्यक्तित्व के 'स्वच्छन्द' विकास पर निरोध है, क्योकि व्यक्ति की आकांक्षाओ का कोई सामाजिक निर्धारण नही। अतएव समाज से भय और घृणा एक ऐसी भावना को जन्म देती है जो पलायन के कारण अनुभूति को ही सब कुछ मान बैठती है, क्योकि स्त्री-पुरुष का नैतिक-यौन-संबंध भी अन्ततः सामाजिक है इससे एक कुत्सा का जन्म होना स्वाभाविक था और वह हुआ भी, किन्तु उस समय व्यक्ति अभी इतना कुठित न हुआ था कि उसके पलायन का रूप विकृतियों की सृष्टि करता। शेली नारी को अनन्त सौन्दर्य की सान्त अभिव्यक्ति समझता है और अतएव अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन के लिए नारी रूप की साधना आवश्यक समझता है। वह कहता है—

Thou art folded, thou art lying
In the light which is undying—
"सुन्दरी, तुम अमर प्रकाश में लिपटी हुई उसमें शयन करती हो—,
Of thin own joy, and heaven' smile divine !
—जो तुम्हारे अपने ही उल्लास और स्वर्गीय स्मिति से भास्वर है।"

रवीन्द्रनाथ की 'प्रकृति का परिशोध' नाटिका की कथा भी अवान्तर रूप से इसी 'सत्य' को प्रतिपादित करती है, जिसमें एक सन्यासी अन्त मे एक बालिका के बाहु-पाश मे आबद्ध होकर उसी के सौन्दर्य मे असीम और शाश्वत की अनुभूति पाता है। पन्त जी में भी हम यही प्रवृत्ति देखते है। नारी-रूप कविता मे उनकी स्वप्न-स्मृति, अश्रु-हास सभी कुछ में उसके सौन्दर्य की अनुभूति है—

स्वप्न मयि ! हे माया मयि !
तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ हास,
सृष्टि के उर की साँस,
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास।
तुम्हारी सेवा में अनजान,
हृदय है मेरा अन्तर धान,
देवि, माँ, सहचरी, प्राण !

उक्त पद्य में देवि, माँ इत्यादि सबोधन भी है किन्तु संपूर्ण कविता और उद्धृत पंक्तिया भी वास्तव मे 'प्राण' सम्बोधन को सार्थक बनाती है। यद्यपि वे नारी मात्र के लिए कह रहे है किसी उद्दिष्ट प्रेयसी के लिए नही। वे तो यहां तक बढ़ते है—

घने, लहरे रेशम के बाल,
धरा है सिर पर मैंने देवि,
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार !

अपने बचपन को बालारूप में वर्णित करना, अपना वेश-विन्यास नारी सा बनाना और शब्दों को यथासभव स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त करना उनकी इस रुचि को और भी अधिक स्पष्ट करते है। वास्तव में इस काल के अधिकांश बुद्धिजीवियों और विशेषतः कवियों का वे प्रतिनिधित्व ही करते

है। किन्तु इससे भावना और विचार दोनों के अस्वस्थ हो उठने की संभावना बनी रहती है, क्योकि विडम्बित वासनाओं को सौन्दर्यानुभूति का नाम देकर छला जाता है और इस प्रकार एक अज्ञात पीडा, वेदना तथा अभाव सदैव हृदय को बेचैन रखते हें ।

इसका अर्थ यह नही कि वासनाओ की स्थूल अभिव्यक्ति मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है किन्तु दूसरी अवस्था में किसी ठोस आधार का होना भी आवश्यक है, भीरुता तो नकारात्मक स्थिति है । शेली में अनुभूति की तीव्रता अत्यधिक है, वह अपने आपको टालता नही किन्तु पन्त जी निरन्तर उसे भुलाने का प्रयास करने हे । उनमें ऐसे पद्य बहुत मिल जाएंगे—

जाने किस छल-पीड़ा से
व्याकुल, व्याकुल प्रतिपल मन,
* * *
पुलकों से लद जाता मन,
मुँद जाते मद से लोचन,
तत्क्षण सचेत करता मन,
ना, मुझे इष्ट है साधन !

(गुंजन)

स्पष्ट ही इन पंक्तियो में कवि एक स्थूल अभाव से भावित है किन्तु बड़ी तीव्रता से आंखे बन्द कर उसे भुलाने का प्रयास कर रहा है। अन्त में फिर वही—

रह रह मिथ्या पीड़ा से,
दुखता- दुखता मेरा मन,
मिथ्या ही बतला देती,
मिथ्या का रे मिथ्यापन

यहां तो वह पीड़ा की वास्तविकता से ही इन्कार करने का प्रयास करता ह किन्तु उसका मन अब भी दुख ही रहा है। यह वेदना, या तो आवश्यक है कि किसी महत् उद्देश्य के सम्मुख बलिदान हो जाए, या कुत्सित अतृप्ति में अपनी अभिव्यक्ति करे। पन्तजी दुर्भाग्यवश अपने को 'बहिर्मुखी' नही कर सके, 'अन्तर्मुखी' होकर भी वे किसी महत्—कल्पित ही सही—उद्देश्य के प्रति अभिमुख नही हो सके, फलतः उन्हे युगान्त की—

तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल वपु धरा गोद,

इत्यादि पंक्तियों मे अपनी अभिव्यक्ति करते पाते है। स्पष्ट ही इसका कारण कल्पित छलनाओं के नीचे दबकर अतृप्ति मे सड़ाध उत्पन्न हो जाना है। भावना की तीव्रता मे यह स्थिति नही होती, इसी से गुंजन की इन पक्तियों मे, जो युगान्त की पंक्तियों से मिलती-जुलती है. वह वीभत्सता नही। पद्य है—

मिलें अधरों से अधर समान,
नयन से नयन, गात से गात
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
भुजों से भुज कटि से कटि शात।

यहां शेली की पंक्तियां उद्धृत कर देनी अप्रासंगिक न होगी। वह भी इसी भावना को और भी तीव्रता से और अतएव और भी स्वस्थता से व्यक्त करता है—

And I will recline on thy marble neck
Till I mingle into thee.

"प्रेयसि, मैं तुम्हारी हिम-धवल ग्रीवा को अपनी बाहो में तब तक बांधे रहूँगा, जब तक मेरा पन तुम्हारे सौन्दर्य में निश्शेष नहीं हो जाता।"

और प्रसाद कहता है—

मेरे जीवन की उलझन, बिखरी थीं उनकी अलकें,
पीली मधु-मदिरा किसने, थीं वन्द हमारी पलकें।
परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा, निश्वास-मलय के झोंके,
मुख-चन्द्र-चान्दनी-जल में, मैं उठता था मुँह धोके।

(आँसू)

यह ठीक है कि शेली मे कुछ दूसरी ही प्रेरणा यहा कार्य कर रही है किन्तु मूलतः इतना अन्तर नही। जो भी हो, अनुभूति की वह तीव्रता और उस युग की स्थिति, जो अभी पूजीवादी शोषण से एकदम कुण्ठित नही हो गया था, भी इसमें बडी कारण थी। इसके अतिरिक्त स्वयं पन्त जी के पास कोई ठोस दर्शन न था जो उनको अधिक देर तक अवलम्ब दे सकता। पन्त की ज्योत्स्ना इसका अच्छा उदाहरण है। वहां वे भविष्य की कल्पित रूप रेखा बनाते है, जिसमें उनके अनुसार, आदर्श मानवता जन्म लेगी। किन्तु उसमें भी प्रारंभ से अन्त तक विभिन्न स्त्री-पुल्लिग वस्तुओं का आपस में चुम्बन-आलिंगन ही हमें मिल सकता है और प्रायः कुछ भी नही। एक उदाहरण लें—

"रोज—तुम अनिद्य सुन्दरी हो प्यारी लिली! (उसे बाहो में बांधकर जोर से उसका मुँह चूम लेता है) ज्यों ज्यो तुम युवती होती जाती हो, तुम्हारे अंग-अंग से फूटते हुए लावण्य विकास को देखकर मेरी पलकें प्रतिक्षण आनन्द और विस्मय से विस्फारित होती जा रही है।"

इस पर टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। किन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि व्यक्तिवादी (पूंजीवादी) स्वतन्त्रता का अर्थ ऐसी ही स्वतन्त्रता से है, वह मुक्त केवल इसीलिए होना चाहता है कि नैतिकता का, सामाजिकता का और दायित्व का बोझ नही उठा सकता। यही फूल उपर्युक्त वार्तालाप से ठीक पूर्व कहता है—

जीवन चिर-मुक्त-द्वार,
जन्म-मरण चल-किवार ।

व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता की यह प्रवृत्ति सर्वव्यापक सी है । जैसा कि हम पीछे भी लिख आए है पूँजीवादी कवि अपने आपको संसार से दूर उस छाया लोक मे खडे पाता है जहां से खडे होकर वह विश्व को अपनी कामनाओं से सत्ता ग्रहण करते देखता है । पन्त मे भी हम यह प्रवृत्ति कम नही पाते—

मुझे न अपना ध्यान,
कभी रे रहा न जग का ज्ञान ।
सिहरते मेरे स्वर के साथ,
विश्व-पुल्कावलि से तरु-पात,
पार करते अनन्त अज्ञात,
गीत मेरे उठ सायं-प्रात,
गान ही में रे मेरे प्राण,
अखिल प्राणों में मेरे गान ।

किन्तु यह सर्वत्र संभव नही, जब कभी वह अपने से बाहर दृष्टि फेंकता है, उसे सर्वत्र अहम् आहत होता प्रतीत होता है । सर्वत्र परिवर्तन हो रहा है, जिसकी गति को वह समझ नहीं पाता । यह ठीक है कि निरन्तर परिवर्तन की ओर जब व्यक्ति दार्शनिक जिज्ञासा से देखता है और इस जिज्ञासा के साथ अन्तर की ओर लौटता है तो वह एक रहस्य और अज्ञात विराट् के प्रति विस्मय-विमुग्ध हो उठता है, किसी अज्ञात शक्ति की अनुभूति भी वह कर सकता है, किन्तु इस परिवर्तन के प्रति निष्क्रिय स्थिति पूंजीवादी व्यक्तिवाद में ही संभव है, क्योंकि इसमें व्यक्ति रहस्यमय आर्थिक परिवर्तनों से घबराकर बाह्य और अन्तर परिवृत्ति के सत्य से निषेध करता है —

बजा लोहे के दन्त कठोर, नचाती हिंसा जिह्वा लोल,
भृकुटी के कुण्डल वक्र मरोर, फुँहुँकता अन्ध रोष फन खोल ।

ज्योत्स्ना में भी हम उनको इसी पृष्ठभूमि पर देखते है । इसमें वे भविष्य का एक कल्पना चित्र उतारते है । स्वभावत यहा वे लोक सामान्य-भाव-भूमि पर आकर अपने युग की समस्याओ मे पैठकर उस निष्कर्ष पर पहुँचे होगे जो उन्होने अपने नाटक मे चित्रित किया है । किन्तु यहा भी उन्होंने किसी समस्या का कारण भोतिक या आर्थिक नही वैचारिक या आध्यात्मिक ही माना है। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने उन सिद्धातो का विरोध किया है जो समस्याओ का कारण आर्थिक सबधो की भौतिक और ऐतिहासिक व्याख्या के अनुसार बताते है । वे कहते है "विकासवाद के दुष्परिणाम से, भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एवं इन्द्रिय सुख से लुब्ध मनुष्य जाति समस्त वेग से, जडवाद के गर्त की ओर अग्रसर हो रही है । मानव सभ्यता का अर्थवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्वावलोचन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शों, विचारो, संस्कारो, नैतिक नियमो एव आचार-व्यवहारो के प्रति विश्वास उठ गया है ।" ऊपर जिन वादो का नाम लिया गया है, वह भी ऐसे जैसे आकाश से गिरे हो । इस उद्धरण से तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे उन्होंने इन सिद्धातो के प्रति सुन सुनाकर ही अपनी धारणा बना ली है । आदर्शों के लिए भी स्पष्ट नही किया गया कि वे क्या बला है क्योंकि उनके विचार मे "आदर्शो को सापेक्ष्य दृष्टि से देखने से उनका मूल्य नही आका जा सकता, उन्हे निरपेक्षत. मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुँच सकता है।" जब आदर्श सापेक्ष्य-संभाव्य यथार्थ नहीं तो वे क्या है ? निरपेक्ष मान लेने पर भी यह तो बताना ही होगा कि वे है क्या वस्तु और निरपेक्ष वे कैसे हो गये ? दूसरे, ऐतिहासिक व्याख्या को भी गलत कह देना काफी नही हो सकता । 'आप कोई तर्क दें नहीं और दूसरा जो तर्क दे उसे गलत बता दें, तो यह तो सरासर जबर्दस्ती

है ! यदि आदर्श निरपेक्ष है तब तो आप भी निरपेक्ष ही होंगे ! मार्क्सवाद भी तो आदर्श है ? आप उसे गलत कह रहे है, पर निरपेक्ष तो गलत हो ही नही सकता तो उसे गलत कैसे मान लिया जाय ? वे पुनः हेनरी के द्वारा कहते है "सत्य अपने मे ही स्थित, निरवलब, निराधार* है, इसीलिए वह सत्य है। हां, लौकिक सत्य एव लौकिक जीवन अवश्य एक दूसरे के आश्रित है।" भला लौकिक और अलौकिक के बीच कौन सी सीमा रेखा है ? फिर लौकिक सत्य यदि सापेक्ष्य है तो आदर्श क्या अलौकिक होते है ? लौकिक और अलौकिक आदर्श में क्या भेद है ? जब सत्य 'निराधार' होने से ही सत्य है तो सापेक्ष लौकिक जीवन सत्य कैसे हो सकता है ? उसे माया क्यो नही कहते ? किन्तु शायद वे अपने वचनो को भी निरपेक्ष समझते है, और हम उन्हे 'निराधार' ।

पन्त जी की 'ज्योत्स्ना' अपनी इस निरवलंब और निराधार स्वप्न सृष्टि के द्वारा एक नवीन और उज्वल संसार का निर्माण करती है। इस भौतिक ससार के भौतिक कोलाहल से वह थक जाती है और फिर अपने स्वप्निल प्रभाव से सपूर्ण ससार को मन्त्र-मुग्ध कर देती है। "पवन और सुरभि को अपनी 'छिगुनी' से छू देती है। दोनो उद्दीप्त हो एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। पवन निर्निमेष दृष्टि से सुरभि के मुख को देखता हुआ धीरे धीरे उसके पास पहुच जाता है । दोनों की चार आँखें होती, सुरभि का सिर झुक जाता है। × × × पवन—तुम अपनी मादक सासे पिला पिला कर मेरी आँखो के सामने यह किस छायालोक की सृष्टि कर रही हो, प्रिये ! मै आत्म विस्मृत हो देशकाल से परे, एक दूसरे ही स्वप्न [illegible] मे घूम रहा हूँ। उस लोक की सौन्दर्य-सुखमा के सामने यह संसार

* निराधार शब्द पर ध्यान दें।

विश्री लगता है ।" सभवत. इसी के लिए 'ज्योत्स्ना' का निर्माण हुआ है और प्रारभ से अन्त तक यही बात विभिन्न युगलो के मुखारविन्द से कम या अधिक अभिव्यक्ति के साथ कही गई है। शायद पाठको को विश्वास न हो अत: ज्योत्स्ना के चले जाने के बाद नाटक के अन्त मे जो फलित निकलता है, उसे उद्धृत किए देता हूँ—

लहर—हम कोमल सलिल-हिलोर नवल ।
झकोर—हम मारुत मधुर झकोर चपल ।
लहर—हम मुग्धा नव-यौवन-चंचल ।
झकोर—हम तरुण मिलन-इच्छा-विव्हल,
लहर—हम लाज-भीरु खुल पड़ता तन,
झकोर—सुन्दरतन का सौन्दर्य वसन ।

इत्यादि ।

यह नाटक का अतिम सवाद है। अत. किसी को यह सशय नही होना चाहिए कि मैं अतिशयोक्ति कर रहा हूँ। इस अनुत्तरदायित्व का संपूर्ण दायित्व यद्यपि युग पर ही नही फेका जा सकता, किन्तु इसमे मध्यम वर्ग का बहुत बडा प्रतिनिधित्व है इससे भी इन्कार नही किया जा सकता; उस मध्यम वर्ग का जो अपनी पत्नी, बहन और माता को छोड़कर बाकी संपूर्ण नारी जगत को 'एक-आँख' की तृप्ति समझता है, जो सनीमा और नाटकों में कुत्सा के सिवाय कुछ पसन्द नहीं करता और बाहर ऐसा कर बैठने वालों पर नाक भौ सिकोड़ता है, जो भीतर से जो चाहता है बाहर उसी का-निषेध करता है, जो अतृप्तियों से विव्हल और रूढियों से निरुद्ध है। इसका प्रमाण यही है कि ज्योत्स्ना को प्रसाद की 'कामना' से कहीं अधिक प्रतिष्ठा मिली क्योकि उसमें दार्शनिक और सैद्धांतिक आधार इससे कहीं दृढ था—चाहे वह गलत धारणाओं पर ही क्यो न हो ।

वास्तव मे छायावादी पन्त के काव्य मे सर्वत्र यही प्रवृत्तिया कार्य कर रही है। सच तो यह है कि उनके काव्य का कोई ठोस आधार नही और न सजीव अनुभूति ही है, दुर्भाग्यवश उसमें भी एक शिथिलता और मर्म-रता है।

नोट—इस निबन्ध को पिछले के साथ रखकर ही पढना चाहिए।

पन्त का छायावादी काव्य

एक विहंगम दृष्टि

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य में पन्त जी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये सन् '१८ के लगभग काव्य क्षेत्र में आए और इनका पर्याप्त स्वागत भी हुआ जब कि प्रसाद और निराला का द्विवेदी जी और उनके समर्थकों ने—जो उस समय काव्य के सिहासन पर थे—बहुत विरोध किया।

पन्त जी की सबसे बड़ी विशेषता, उनके शब्दो मे लय का प्रभावशाली संगीत और माधुर्य होना, बताई जाती है। सभवतः इसमें दो मत नही होंगे। वैसे तो शब्द-माधुर्य अपने आप मे कोई बडी विशेषता नही किन्तु हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम में इसे रखकर देखने पर इसके महत्व से कोई निषेध नही कर सकता।

नवीन युग की काव्य-प्रवृत्तियो का वहन करने के लिए ठीक भाषा और छन्द हिन्दी के पास पर्याप्त न थे। पन्त जी ने इन दोनों ही क्षेत्रो में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। निराला जी ने भी इस ओर काफी कार्य किया और उनका मुक्तक छन्द तो नवीन अभिव्यक्ति के लिए रामबाण सिद्ध हुआ, किन्तु पन्त जी ने छन्दो का सशोधन जिस बारीकी से किया और आवश्यकतानुसार बंगला तथा इंगलिश के छन्दों का उनमें सम्मिश्रण किया उसका महत्व सर्वस्वीकृत सा ही है। शब्दों के चुनाव में भी इनकी पारखी दृष्टि अद्वितीय है। उन्होंने संस्कृत के अप्रयुक्त शब्दो को अपने अभिव्यंजक

पदों में इस तरह से नव-जीवन दान दिया कि वे हिन्दी भाषा के शृंगार बन गए और छायावादी काव्य के लिए तो आवश्यक हो गए। अनेक स्थलों पर इन्होंने बंगला तथा इंगलिश के शब्दों का छायानुवाद भी किया जो बहुत ही समर्थ तथा प्रांजल है। शब्दो और छन्दों की ओर इनका ध्यान कितना अधिक था यह उनकी पल्लव की भूमिका से ही जाना जा सकता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से उनके इस महत्व को स्वीकार करते हुए भी मैं प्रश्न करने की धृष्टता करूँगा कि क्या केवल इसी आधार पर कोई कवि काव्य क्षेत्र मे इतना सम्माननीय हो सकता है ? इसमे दो मत नहीं हो सकते किन्तु तो भी यह बडे आश्चर्य की बात है कि अनेक आलोचक पन्त में 'अनुभूति की कमी' की शिकायत करते हुए भी उनकी प्रशसा और शायद सबसे अधिक प्रशंसा करते रहे है। डा० नगेन्द्र, श्री सुधांशु तथा श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी जैसे प्रमुख लेखक भी उन्ही में से है। फिर किस आधार पर उन्होंने इनकी प्रशंसा की ? यह मेरी अल्प बुद्धि नहीं समझ सकी, तो भी एक प्रश्नात्मक उत्तर जो, पूर्ण नही, मिला; डा० रामकुमार की भी तो प्रशसा हुई है ? जिन्हें कवि कहना उनकी प्रतिभा का अपमान करना है।

मुझे तो पन्त-काव्य में यह एक बड़ा दोष प्रतीत होता है और अत-एव, मेरे विचार में, उनके काव्य में काफी निर्जीवता तथा पीलापन है,—उसी अनुपात में, जितनी अनूभूति की कमी है।

उन्हें प्रमुखतः—प्राकृतिक-सौन्दर्य का कवि कहा जाता है। प्रकृति कवि की सब से बड़ी विशेषता प्रकृति के उसके अपने आप में ही चित्रित करने की क्षमता में निहित है। छायावादी कवियों मे यह सौभाग्य केवल पन्त जी को ही प्राप्त है और पर्याप्त मात्रा मे, अतएव उन्हे प्रकृति-कवि स्वीकार करने मे सम्भवतः किसी को कोई आपत्ति न होगी। प्रकृति को उसके अपने रूप में देखने की इस प्रवृत्ति ने उनके सम्पूर्ण काव्य को ही एक

और सुन्दर विशेषता दी है जो अन्य छायावादी कवियो मे अप्राप्य है, वह है उनकी कल्पना का अधिक मूर्त होना, इसी से उनकी मौन-निमत्रण जैसी कविताओं मे भी बहुत स्पष्टता और सहजता है। प्रसाद जी सूक्ष्म से सूक्ष्म कल्पना का और महादेवी जी छोटी से छोटी भावना का बहुत ही आकर्षक और मधुर चित्र प्रस्तुत करते है किन्तु पन्त जी की कल्पना और भावना दोनों जन्म ही मूर्त रूप में ग्रहण करती है।

किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी यह विशेषता निर्बल अनुभूति तथा भीरु व्यक्तित्व के कारण उतनी प्रेषणीय नही हो सकी जितनी होनी चाहिए थी। इसी कमी के कारण उनकी अधिकांश प्रकृति-सम्बन्धी कविताए ही नही आत्मानुभूति परक कविताए भी नीरस और बेढब हो गई है। अनुभूति की तीव्रता तो सम्भवतः पन्त-काव्य मे कही भी लक्षित नही होती, किन्तु जहा अनुभूति ने कही उनका साधारण साथ दिया है वही उनकी उपर्युक्त विशेषताए बहुत अधिक आकर्षक और मनोहर हो उठी है, जैसे 'परिवर्तन', 'नौका विहार', 'भावी पत्नी के प्रनि' इत्यादि कविताएं। कभी कभी अनुभूति के अभाव मे भी उनके चित्र बहुत आकर्षक बन पाए है किन्तु वह कल्पना का ही चमत्कार समझना चाहिए और इसीलिए उनकी संगति अन्य पद्यो के साथ प्रायः नही होती या वे वैसे अन्य निरर्थक पद्यो के साथ पडकर महत्व-शून्य हो जाते है। उच्छ्वास मे 'पावसऋतु थी पर्वत प्रदेश' इत्यादि प्रकृति-चित्र इस असगति का अच्छा उदाहरण है। कहने की आवश्यकता नही कि युग-स्थिति के कारण ये कोई महान् काव्य नही दे सके और आत्म-प्रकृति के कारण सशक्त और आकर्षक काव्य भी नही।

इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि इस युग मे महान् काव्य का होना सम्भव ही न था किन्तु जातीय जीवन से अनुप्राणित रामायण या महाभारत या कुमारसम्भव अथवा राम-चरित मानस से महान् काव्य की रचना सम्भव नही ही थी।

अस्तु, इस भूमिका के पश्चात् हम पन्त जी के काव्य-संग्रहो को एक-एक कर उठाएगें।

वीणा

वीणा का कवि आध्यात्मिक है

वीणा पन्त जी की सन् १८ की कृतियो का सग्रह है। इनका जन्म भी बीसवी शताब्दि के साथ ही हुआ था, अतः वीणा-काल मे ये अभी सुकुमार किशोर ही थे जिसके लिए जीवन एक मधुर स्वप्न और मधुर कल्पना होता है और जो अपने उन स्वप्नों के अनुसार संसार को बदल देने के लिए सप्राण आदर्श और अनुप्राणित सम्भावनाओं की सजीव स्फूर्ति लिए रहता है। फिर जो पला ही प्रकृति की गोद मे हो और जिसे कुछ भावुक होने का भी सौभाग्य प्राप्त हो उसके लिए तो यह और भी स्वाभाविक हो उठता है।

इस समय स्वामी विवेकानन्द और रवीन्द्र के अध्यात्मवाद की जो लहर चल रही थी, पन्त ने उससे बडी प्रेरणा प्राप्त की, जैसा कि उन्होने स्वय भी लिखा है। अत उनका किशोर संसार अल्मोडे के प्राकृतिक सौन्दर्य से सुषुम और रवीन्द्र के आध्यात्मिक वैभव से समृद्ध था। उनका किशोर मन उस सौन्दर्य से यदि अभिभूत हो उठता था तो यह स्वाभाविक ही था।

अखिल सुषमाओ के इस विश्व-नन्दन वन में अपना स्वप्न-नीड़ बना कर वह मूक उस सौन्दर्य का चयन करने के लिए विहग-शावक सा पख फडफड़ाता है—

है स्वप्न-नीड़ मेरा भी जग-उपवन में,
मैं खग सा उड़ता नीरव-भाव गगन में,

उड़ मृदुल कल्पना-पंखों मे निर्जन मे,
चुगता हूँ गाने बिखरे तृण मे, कण में।

इस प्रकार उसका भाव-विह्वल मन एक उकसाहट का अनुभव करता है। वह कुतूहल से पूछता है, "यह सब क्या है ?" उसके हृदय को यह कौन झिझोड़ रहा है, किसकी चपल-मृदुल अगुलिया उसकी हृत्तत्री को इस पागलपन से झकृत कर देती है ?—

छवि की चपल अँगुलिओं से छू,
मेरे हृत्तंत्री के तार,
कौन आज यह मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुंजार।

उसका यह प्रश्न उसको सर्वत: व्याप्त कर विकल कर देता है, वह देखता है 'यह सम्पूर्ण विश्व-प्रकृति ही तो किसी के अनुसन्धान मे मेरे समान ही बेचैन है ? यह आग, यह पीडा सभी हृदयो में ही तो सुलग रही है ? क्यों है यह ? अरे चपल खद्योत !' इस प्रकार जल-जल कर इस अधकार में किसे खोजते हो ?—

उस पीपल के तरु के नीचे,
किसे खोजते हो खद्योत ?

और यह प्रश्न अब मूर्त रूप धारण करने लगता है, पीडा अब स्थाई वृत्ति ही हो उठती है और वह पहिचानने लगा है उस निठुर को जो उसे इस प्रकार आहतकर तड़पने के लिए छोड जाता है। किन्तु वह पास क्यों नही आता, प्रिय यह भी तुम्हारा कैसा खेल है अपनी निर्दयता पर ही ऐंठने का ?—

हुआ था जब सन्ध्या-आलोक,
हँस रहे थे तुम पश्चिम-ओर

विहग-रव बन कर मैं चित-चोर,
गा रहा था तब, किन्तु कठोर,
रहे तुम नहीं वहां भी, शोक,
निठुर, यह भी कैसा अभिमान ?

किन्तु इसी प्रकार सन्ध्या अवसाद लेकर आती है और रजनी के अभाव-विजडित अंचल में चली जाती है, उसके उपालम्भ और आहें शून्य में ही खो जाती है। वह याद करता है अतीत को, उस मधुर अतीत को जो उस के जीवन का स्वर्णिम क्षण था, जब वह उस अनन्त सौन्दर्य का उष्ण स्पर्श अपने कपोलो और ओठो पर स्पष्ट अनुभव कर रहा था; आह, अब उसकी स्मृति से यह हृदय कितना भारी हो आता है जब मेरी उच्छृंखलताओं पर भी तुझे प्यार आता था—

तब तो यह भारी अन्तर,
एक मेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति बनकर सुन्दर,
तू उमंग थी मैं उत्पात ।

इन पद्यों मे कवि एक मधुर उत्सुकता और स्नेहानुभूति से अनुप्राणित है, जिसमें वह कल्पना करता है कि "यह अनन्त उसके लिए अनन्त मातृत्व के प्यार मे अनुप्राणित है।" इसमे कवि के कौमोर्य सुलभ भोलेपन और निश्छलता ने और भी सौन्दर्य ला दिया है। ये ही कविताएं वास्तव मे वीणा की शृंगार है। यह अध्यात्म किसी स्थूल अतृप्ति की अभिव्यजना नही, न परिस्थितियो की कटुता के विरुद्ध अपना एक पृथक व्यूह रचने की प्रवृत्ति है। यह तो एक सहज विश्वास जनित अनुभूति है जो प्राकृतिक सुषुमा से और भी सप्राणता पा सकी।

वीणा की प्रार्थनापरक कविताएं

जो सख्या में और महत्व मे भी पर्याप्त है । इन दोनो विषयो पर ही वीणा की अधिकाश कविताएँ है, दूसरी कविताएँ, जो सख्या मे बहुत कम हैं, प्राय: अच्छी नही बन पडी ।

ये प्रार्थनाएँ 'माँ' सम्बोधन से की गई है और उससे नितान्त किशोर आदर्शो पर दृढ रहने का कैशोर्य-सुलभ भोला वरदान माँगा गया है । काव्य की दृष्टि से ये कविताएँ बहुत महत्वपूर्ण नही किन्तु इनकी सरलता दर्शनीय है । अठारह वर्ष की आयु मे इतना भोलापन नही देखा जाता किन्तु पन्त जी अस्वाभाविक रूप से वहा भोलापन ले आए है, यह भी नही कहा जा सकता । अपनी प्रकृति के कारण उस आयु मे भी उनका वैसे अबोध बने रहना कोई असम्भव तो नही ।

इन प्रार्थनाओं में छायावाद का अस्फुट आभास मिलता है, जो इनको 'हे दयामय हम सबो को शुद्धताइ दीजिए' वाले द्विवेदी युग के या अन्य प्राचीन प्रार्थना-गीतो से पृथक करता है जैसा कि हम अगले उदाहरणों मे देखेंगे ।

इनमें अपने सुख-दुख, आशा-निराशा सब कुछ उसकी (माँ की) सुषमा और महत्व के आगे अर्पित कर केवल उसका प्यार तथा विश्व-कल्याण कर वरदान पाने की चाह है ।

माँ ! मेरे जीवन की हार,
तेरा मंजुल हृदय-हार हो,
अश्रु-कणों का यह उपहार !
मेरे सकल-श्रमों का सार
तेरे मस्तक का हो उज्वल,
श्रम-जलमय मुक्तालंकार ।

अपने जीवन की पराजय और वेदना जनित अश्रु-कणो का माँ का हृदय-हार होने की कल्पना तथा उसके मस्तक पर अपने श्रम-जनित स्वेद-विन्दुओं को मुक्ताभ चमकते देखने की कामना कितनी मनोहर और नवीन भी है। वह और भी कोमल तथा भोली प्रार्थनाएँ उससे करता है, "माँ, तेरा प्यार और मेरी श्रद्धा, कैसी मधुर क्रीडा है ? देखना, इसकी ज्योति तडित सी चमक कर ही विलीन न हो जाए। इसे उस दीपक सा जलने का वरदान दे जो स्नेह-कणों से अभिसिंचित होकर विस्मृति और मोह के अंधकार को दूर करता है'—

भव्य-भक्ति का भावन मेल,
तेरा-मेरा मंजुल खेल,
सघन हृदय में विद्युत सा जल,
माँ, न मन्द पड़ आने दे,
मलिन-मोह की मेघ-निशा में,
दिव्य-विभा फैलाने दे।

उसकी ये प्रार्थनाए एक भक्त की भगवान से प्रार्थनाएँ ही नही बच्चे की माँ से क्रीडा और उस क्रीडा से माँ के हृदय मे उठते प्यार और उमंगो को देखने की स्वाभाविक कामना भी है। उसका शिशु-हृदय जैसे कुछ विह्वलता सी अनुभव कर रहा हो—

तरल-तरंगों में मिलकर,
उछल-उछलकर हिल हिलकर,
माँ, तेरे दो श्रवण पुटों में
निज क्रीड़ा कलरव भर दूँ,
उभर अध-खिली बाली में।

वह विश्व-कल्याण और सेवा का व्रत भी चाहता है जो उसके शैशव के मधुर-संस्कारो का बड़ा सुन्दर निदर्शन है—

सूखे मरु में माँ, शिक्षा का,
स्रोत छिपा सम्मुख धर दूँ।

किन्तु उसे माँ के स्नेह की ही पहिले आवश्यकता है, उसके बिना वह क्या कर सकता है—

विहग-बालिक बन इस वन को
तेरे गीतों से भर दूँ।

ये प्रार्थना-गीत साधारणत: अच्छे है और उनकी (कवि की) अवस्था को देखते हुए तो इनका महत्व और भी बढ जाता है।

वीणा में असंगत-दोष

वीणा मे ऐसे पद्य बहुत ही कम या न के बराबर है जो असंगत कहे जा सके, क्योकि पन्त जी अभी इतने 'समझदार' नही हुए थे कि 'भले-बुरे' का 'दार्शनिक-ज्ञान' रख सकते। जहां कही कुछ असंगति है भी, उसका कारण कविता पर जबरदस्ती ही अधिक है। कही कही 'समझदार' बनने का प्रयास भी किया गया है और वही वे असंगत भी हो गए है, जैसे निर्झर से वे कहते है—

भूरि भिन्नता मे अभिन्नता,
छिपा स्वार्थ में मधु मय त्याग।

वैसे ये पंक्तियाँ एक दम असंगत नही है, दूसरी पंक्ति की भी सार्थकता लग ही सकती है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि यह आयास-साध्य ही होगा; फिर केवल संगति बैठ जाना ही तो कोई काव्यत्व नही। निर्झर से त्याग-भावना की शिक्षा, यदि उससे कोई शिक्षा लेना आवश्यक ही है तो, नही मिल सकती; उसके स्वार्थ को ही त्याग-मय बताना तो और भी बलात्कर्षण है। पहिली पंक्ति निर्झर के साथ ही ठीक बैठ सकती है किन्तु उसकी अनुभूति-शून्यता इतनी मुखर है कि दूसरी पक्ति के आने का उत्तरदायित्व भी पहिली पर ही जाएगा। किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम है।

'कृषक-बाला' कविता में भी काफी असगति है, उसका भी कारण मुख्यतः अनुभूति का अभाव है। वास्तव मे जब कविता बनाने के उद्देश्य से भावनाओं को उकसाने का प्रयास किया जाय तो अच्छी कविता तो असम्भव ही है उसमें असगत स्थल आ जाना भी अत्यन्त स्वाभाविक सा होता है। इस कविता मे भी यही कमी है। जैसे—

सास-ननद-भय, भूख अजय,
श्रान्ति, अलस औ श्रम अतिशय,
तथा काँस के नव गहनों से,
अर्चन करता है सादर,
आश्विन सुषमा शाली में।

इस पद्य मे पहिली दो पक्तियों का दूसरी पंक्तियो से कोई भी सम्बन्ध नही। पहिली पंक्तियो मे कृषक-बाला की निर्धनता, रूढि-प्रियता और कटु परिस्थितियों का वर्णन है और 'तथा' शब्द से जोड़ी हुई दूसरी दो पंक्तियो में उसके प्राकृतिक वैभव और सुख तथा सौन्दर्य का वर्णन है जो संगत नहीं। 'सुषमा-शाली' का प्रयोग भी ठीक नहीं। इसी कविता से एक पद्य और लें—

माँ, अपने जन का पूजन,
ग्रहण करो पत्रं-पुष्पम्,
सरल नाल सा सीधा जीवन,
स्वर्ण-मंजरी से भूषित,
बाली से श्रृंगार तुम्हारा
करता है वय-बाली में।

इसकी पहिली पंक्तियों मे कृषक-बाला के मातृत्व की अर्चना की गई है किन्तु अगली पंक्तियो मे उसकी 'वय-बाली' और उसके श्रृंगार

पर ही बल है न कि मातृत्व की गरिमा पर । तो भी यह पद्य, उतना असगत नही ।

अस्तु, वीणा में प्रायः ये ही असगंत पद है, अन्य प्राय. कोई कविता या पद असगत नही । ऐमे पद और कविताएँ अवश्य है जिनमे अमुक्त भावनाओ का व्यायाम है ।

सब मिला कर वीणा सग्रह सन्तोषप्रद और प्रशसनीय भी है ।

ग्रंथि

ग्रंथि की भाव-धारा

ग्रंथि एक विरह-काव्य है । इसमें कवि की कल्पना और वेदना जितनी मूर्त और सप्राण है उतनी अन्यत्र कही भी नही । आगे, 'आँसू' और 'उच्छ्वास' में यह व्यथा जितनी छिछली हो गई है उसे देखते हुए तो इसका महत्व और भी बढ जाता है ।

एक दुर्घटना पन्त जी के लिए वरदान बन जाती है । एक बार उनकी नाव नदी मे डूब गई और वे जल मे अचेत हो गए । चेतन होने पर उन्होंने अपने शिर को एक सुन्दरी की गोद में पाया । स्नेह बन्धन दृढ से दृढतर होता गया, किन्तु वे उसे पा न सके । उसका ग्रथि-बन्धन किसी अन्य से हो गया । और कवि का आहत मन. . . . , यही 'ग्रथि' की कथा है ।

नाव-डूबने की घटना को संक्षेप में बतला कर कवि शीघ्र ही प्रधान कथा पर आ जाता है, इससे पाठकों को व्यर्थ उत्सुकता में नही रहना पड़ता । इस प्रधान कथा के प्रारम्भिक पद ही बड़े प्रभावशाली और अश्रु-सिक्त है, यद्यपि अभी वह मिलन का वर्णन कर रहा है । एक उदाहरण ले—

जब विमूर्छित नींद से मैं था जगा,
शीष रख मेरा सुकोमल जांघ पर,

शशि-कला सी एक बाला व्यग्र हो,
देखती थी म्लान-मुख मेरा; अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिंतित दृष्टि से।
इन्दु पर उस इन्दु-मुख पर साथ ही,
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से—
रक्तिम हुए थे, पूर्व को—
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।
लाज की रक्तिम सुरा की लालिमा,
फैल गालों में नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की,
अधखिले सस्मित गढ़ों से सीप के।

इनमें 'पूर्व को वह पूर्व था' इत्यादि पक्ति मे प्रेयसी का सौन्दर्य और कवि की समुत्सुकता जैसे साकार हो उठी है। यह उत्कठा और भी प्रभावशाली ढग से अगले पद्य मे चित्रित हुई है। कवि के लिए उसका प्रत्येक संकेत जैसे अनुल्लंघ्य विधान हो उठता है—

निज पलक, मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से, उर से मृगेक्षिणी ने उठा,
एक पल निज स्नेह श्यामल दृष्टि से,
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी सीप सी।

वह सर्वत्र एक विछलन का अनुभव करता है, उसका किशोर-हृदय उस सौन्दर्य से इतना अभिभूत हो उठता है कि प्रत्येक कम्पन उसे उसी का पता देती सी प्रतीत होती है, प्रकाश की उज्वलता और तिमिर की गहनता, जल की लोल हिल्लोर और वायु की शीतल आह सभी तो जैसे किसी का अनुसधान कर रहे हैं ? कवि सर्वत्र उसे ही खोजता है—

इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की बीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी सरल,
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में।

किन्तु उसका यह मधुर उल्लास एक झटके के साथ जैसे छीन लिया जाता है......वह क्या कहे किसी से ?......उसका हृदय विह्वल हो उठता है—

"हाय ! मेरे सामने ही प्रणय का, ग्रंथि बन्धन हो गया।......" आह, स्मरण है वह दिन जब मै तारो की छाया मे......उद्भ्रान्त घास नोच नोच कर अपनी व्यथा कम कर रहा था—

याद है मुझको अभी वह जड़ समय,
ब्याह के दिन जब विकल-दुर्बल हृदय,
अश्रुओं से तारकों को विजन में,
गिन रहा था व्यस्त हो उद्भ्रान्त हो !

आज उसका दिल कही भी नही लगता, सभी तो अपने में ही भूले पडते हैं, किसी की कौन चिन्ता करता है ? जाओ, सागर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है ओ निर्झरिणी ! जाओ ! ज्योत्स्ने ! लहरियाँ अपने अस्फुट अधरों पर तुम्हारे चुम्बन की प्रतीक्षा कर रही है, जाओ ! आह, मुझे आज एकान्त में ही अपने व्यथित क्षण गिनने के लिए छोड दो !

शैवलिनी ! जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उड़गणों गाओ मधुर वीणा बजा,
पर हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है।"

इस प्रकार उसकी पीडा गम्भीर से गम्भीरतम होकर उसे छा लेती है। सम्पूर्ण 'ग्रंथि' काव्य इसी प्रकार रोदन में ही समाप्त होता है, कवि आँसू पोछने का प्रयास भी नही करता। "उसे अन्त मे कोई समन्वय खोजना चाहिए था और अपनी पीडा को कोई दार्शनिक पृष्ठ-भूमि देनी चाहिए थी" ऐसी आदेशनाओ को मै आवश्यक नही समझता। जीवन मे सब कही समन्वय नही होता और न उस का होना आवश्यक ही है। यह ठीक है, पीडा को अन्तिम सत्य नही बन जाना चाहिए, यदि ऐसा है तो यह कवि की एक बडी कमी—मानसिक-स्वास्थ्य का अभाव—समझी जाएगी। किन्तु पन्त जी के काव्य मे यह बात नही है; उनकी वेदना प्रेयसी के विरह का परिणाम है और उसे प्रेयसी की ही चाह है! समन्वय खोजना अच्छा ही होता या ऐसा करना अस्वाभाविक होता, यह नही कहा जा सकता। आँसू मे अन्त में समन्वय खोजने का प्रयास है, यद्यपि मुझे सन्देह है कि कवि वहा कोई समन्वय खोज सका है, तो भी वह मधुर है और ऐसा प्रतीत होता है, इसके बिना आँसू काव्य अधूरा रहता; किन्तु प्रश्न हो सकता है "एक काल्पनिक सत्य में विस्मृति ही क्या समन्वय है?" इस विषमता का स्थायी होना तो कभी भी अभीष्ट नही हो सकता, किन्तु क्या इसके पद चिन्हो के साथ जीवन स्वस्थ नही रह सकता?'

ग्रंथि का काव्य-सौन्दर्य

ग्रथि की अभिव्यक्ति और भाव-प्रणाली, दोनो ही छायावादी ढग की नही, ये बहुत कुछ संस्कृत-काव्य से प्रभावित है। आधुनिक लाक्षणिक प्रयोग तथा विशेषण-विपर्यय इत्यादि अलंकार कम ही प्रयुक्त हुए है। संस्कृत की शैली का प्रयोग यहां दोष नही गुण ही बन कर आया है—जैसे

निज पलक, मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से, उर से मृगेक्षिणी ने उठा,
एक पल निज स्नेह-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी सीप सी ।

और

तरणि के ही साथ तरल तरंग से ।
तरणि डूबी थी हमारी ताल मे ।

उसकी पलको का और कवि की विकलता का साथ ही 'उठना' आधुनिक शैली नही, किन्तु कितना आकर्षक लगता है । इसी प्रकार 'तरणि' का सूर्य और नाव अर्थ मे भिन्नार्थक किन्तु समानान्तर पर प्रयोग पुरानी चमत्कार प्रणाली का ही उदाहरण है किन्तु इससे उस दृश्य मे अधिक प्रभावात्मकता आ गई है ।

अस्तु, ग्रंथि की अनुभूति का आधार सम्भवत काल्पनिक नही, यदि ऐसा हो भी, जैसा कि पन्त जी कहते हे, तो भी वह इतना मूर्त है कि उसे कल्पना से अधिक ही समझना चाहिए । सम्भव है ऐसी कोई घटना न हुई हो, किन्तु उसकी काल्पनिक अनुभूति इतनी स्पष्ट है कि वह यथार्थ सी प्रतीत होती है । पीछे हम जो पद्य उद्धृत कर आए है वे सभी हमारे कथन को पुष्ट कर सकते है । इनमें अनुभूति का प्रयोग जितना तीव्र और 'यथार्थ' है उतना पन्त-काव्य में अन्यत्र बहुत कम ही होगा ।

बच्चन जी के विचार मे "पन्त जी कल्पना के गायक है—अनुभूति के नहीं, इच्छा के गायक है, वासना-तीव्र इच्छा के नही ।"* बच्चन जी ने अपने इतने बडे वक्तव्य में केवल यही बात सगत कही है । किन्तु इस उद्धरण को ग्रंथि पर पूरा लागू नही किया जा सकता; ग्रंथि मे वे वास्तव में

* पल्लविनी—भूमिका ।

अनुभूति और तीव्र इच्छा के ही गायक हैं । तो भी आखिर वे पन्त जी हैं, अतः ग्रथि के अन्तिम पद्यो मे व्यर्थ का फैलाव आ गया है और अनुभूति सूख गई है । ऐसा प्रतीत होता है अन्तिम पद्यो तक पहुँचते पहुँचते पन्त जी अनुभूति का विषय से स्पर्श खो बैठे और केवल कविता के आग्रह से और कुछ अपने हृदय को उस भावना में बिठाए रखने के लिए विकल्प करते रहे । इन नीरस पदो की संख्या यद्यपि अनुपात मे काफी कम है तो भी अन्त मे होने से वे काफी अपकारक है और प्रभाव को घटा देती है । इस प्रकार के पदो के भी दो-एक उदारण ले—

तिमिर के अज्ञात अंचल मे छिपी,
झूमती है भ्रान्ति मेरी भ्रमर सी ।

× × ×

तिमिर ! यह क्या विश्व का उन्माद है ?
जो छिपाता है प्रकृति के रूप को ?
या किसी की यह विनीरव आह है ?
खोजती है जो प्रलय की राह मे ?

इस पद्य की पहिली पक्तियो मे तिमिर शब्द आ जाने से आगे तिमिर को ही विशेषणों से उपकृत करना प्रारम्भ कर दिया गया है । यह पद यही समाप्त नही हो जाता, लगभग आठ पक्तिया साथ और भी इसी वर्णन मे है । ये विशेषण ऐसे कोई असंगत तो नही, पीछे हम 'इन्दु की छवि मे' इत्यादि पद में 'उत्सुकता' के लिए भी इसी प्रकार का पद देख आए है, किन्तु इन दोनो मे एक बडा अन्तर है । उक्त पद्य मे अनुभूति का नितान्त अभाव है जब कि पीछे उद्धृत किया हुआ पद्य अनुभूति से सप्राण है । वेदना के लिए ही अन्त में भी कुछ पद्य है जो नितान्त अनुभूति शून्य होने से निष्प्राण है । कुछ पंक्तियाँ देखें—

वेदना ! कैसा करुण उद्‌गार है,
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में, व्योम में है वेदना ।
वेदना ! कैसा विषद यह रूप है,
यह अँधेरे हृदय की दीपक-शिखा,
रूप की अन्तिम छटा ! इस विश्व की,
अगम-चरम अवधि, क्षितिल की परिधि सी ।

इसमें भी वही विशेषणों का ताता बांधा गया है । "यह सम्पूर्ण विश्व-वेदना है," यह कहने से वेदना की अनूभूति नही कराई जा सकती, इसके लिए अपने हृदय मे अनूभूति रखना आवश्यक है । यहां दो-एक पद प्रसाद जी के भी देखें—

देखा तुमने हँस-हँसकर, मानस-कुमुदों का रोना,
शशि किरणों का हँस-हँसकर, मोती मकरन्द पिरोना ।
मुँह सिये झेलती अपनी, अभिशाप-ताप ज्वालाएँ,
देखीं अतीत के युग से, चिर मौन शैल मालाएँ ।
सूखी सरिता की शैया, वसुधा की करुण कहानी,
कूलों में लीन न देखी, क्या तुमने मेरी रानी !
सबका निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में,
बरसो प्रभात हिम कण सा, आँसू इस विश्व सदन में ।

आसू से उद्धृत इन पद्यो मे कवि वेदना की अनुभूति कितनी गहराई से कर रहा है यह इनकी एक एक पंक्ति से स्पष्ट है । यह ठीक है कि यहा वह 'वेदना' को एक दार्शनिक समन्वय की पृष्ठ भूमि पर ग्रहण कर रहा है किन्तु अनुभूति तो दार्शनिकता सापेक्ष्य नही !

तो भी 'ग्रंथि' एक प्रशंसनीय काव्य है ।

पल्लव

पल्लव का सिंहावलोकन

पल्लव पन्त जी का तृतीय काव्य-सग्रह है । इसे हिन्दी आलोचको ने प्राय. सर्व-सम्मति से अद्वितीय महत्व दिया है, इसका कारण हमारी समझ में बिल्कुल भी नही आया । यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हमारा आलोचना-साहित्य प्राय: छोटे छोटे प्रशंसात्मक लेखों तक सीमित है और उनमें भी लेखक अपने निर्णयो के मूलाधार तथा काव्य के सौन्दर्य तथा विसंगतियो की विश्लेषणात्मक स्थापना और परीक्षा नही करते। कुछ पुस्तके, जो लिखी भी गई, वे भी प्रशस्तियों से अधिक मूल्य नही रखती ।

जो भी हो, इससे निषेध नही किया जा सकता कि पल्लव को सर्वोत्कृष्ट स्थान मिला है । यह सच है कि अधिकांश केवल बड़ों का पदानुसरण कर पार लगने की निष्ठा रखने वाले ही है, किन्तु बडे भी इस काव्य के प्रशंसक है, यह भी सत्य है । डा० रामविलास शर्मा से श्री नन्ददुलारे वाजपेयी तक, श्री इलाचन्द्र से श्री नगेन्द्र तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी तक सभी ने इसे एक महान् कृति कहा है । किन्तु मै इसका दृढ़ता से विरोध करता हूँ । स्वय पन्त-काव्य में भी मै गुजन और ग्राम्या को पल्लव से अधिक उत्कृष्ट मानता हूँ । पल्लव में केवल परिवर्तन कविता ही उत्कृष्ट कही जा सकती है, अन्य कविताओं को यह श्रेय नही दिया जा सकता । परिवर्तन के बाद 'उच्छवास' को स्थान दिया गया है; श्री इलाचन्द्र जी ने तो इसकी बहुत ही प्रशंसा की है, किन्तु हमारे विचार मे उच्छवास नितान्त असंगत कविता है, जैसा कि हम आगे देखेगे । इस के साथ ही पल्लव की निकृष्टतम कविताए छाया, नक्षत्र तथा स्याही का बूंद आदि हैं जो उच्छ्वास को भी मात करती है ।

इस सग्रह मे अधिकाश कविताएँ प्रकृति-सम्बन्धी है । जैसा कि हम पहिले भी कह आए है, छायावादी कवियो मे पन्त जी ही प्रकृति को सर्वाधिक उसके अपने रूप मे देख सके है । यह ठीक है कि वे भी अनेक स्थलो पर प्रकृति को अपनी कल्पनाओ और भावनाओ के प्रभाव में ही देखते है, और अनेक स्थलो पर उसका मानवीकरण भी करते है, किन्तु अन्य छायावादी कवियों से कम । यहां एक बात और भी कह देनी आवश्यक है कि जहां पन्त जी ने ऐसा किया है वहां उनकी कविता सर्वथा निर्जीव है, यद्यपि यह भी ठीक है कि दूसरी कविताएं, जहा प्रकृति अनावृत है— बहुत कम ही सजीव हो सकी है । स्वयं पन्त जी ने साहस कर कहा है "पल्लव-काल की रचनाओ में विहग-मधुप-निर्भर इत्यादि तो वर्तमान हे, उनके प्रति हृदय की ममता ज्यों की त्यों बनी हुई हे, लेकिन अब जैसे उनका साहचर्य अथवा साथ छूट जाने के कारण वे स्मृति-चित्र तथा भावना के प्रतीक रह गए है, उनके शब्दों में कला का सौन्दर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नहीं ।"* पल्लव के लिए मेरा भी ठीक यही दृष्टिकोण है । उनमे अनुभूति शून्यता इस सीमा तक बढ जाती है कि वे वर्ण्य-विषय प्रकृति का सौन्दर्य वर्णन न कर उससे शिक्षा या कोई ऐसा ही वरदान मांगने लगते है, जिसकी उस पदार्थ के साथ कोई संगति नही होती । जैसे—

ऐ गंभीर गंधर्व साम-ध्वनि,
व्योम-वेणु के नीरव लय,
सजग दिगम्बर के चिरताण्डव,
सुप्त विश्व के जीवाशय !

* * *

*** संगम, ११ मई १९५० ।**

अंधकारमय मेरे उर में,
आओ छिप जाओ अनजान !

इसमें एक भी शब्द की नक्षत्र के साथ कोई सगति नही । नीरव-वेणु-लय का चिरताण्डव से भला क्या मेल ? इस प्रकार की असंगत कविताओ से यह संग्रह भरा पडा है । यहां एक भी विशेषण सार्थक नही ।

पल्लव का ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक है, क्योकि इसी को सर्व-प्रथम छायावाद के प्रवर्तन का श्रेय प्राप्त है; जब इसका प्रथम प्रकाशन हुआ था तब बहुतो ने तो इसे मंगला प्रसाद से पुरस्कृत करने तक का प्रस्ताव किया था । भाव-भाषा-छन्द, सभी दृष्टियो से यह युगान्तकारी कृति कहा जा सकता है, किन्तु अनुभूति की कमी के कारण यह निष्प्राण, असंगत तथा छिछला इस सीमा तक हो गया है, कि आज भाषा इत्यादि की समस्या समाप्त हो जाने पर इसे इतना महत्व नही दिया जाता ।

पल्लव में प्रकृति-चित्र

पल्लव में यत्र-तत्र बडे मनोहर प्रकृति-चित्र बिखरे मिलते है, छाया-वादी काव्य में इनका अद्वितीय स्थान है, क्योंकि इस काल के कवियो ने प्रकृति को उसके अपने रूप में प्रायः कभी नही देखा । इसका कारण इस युग की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति ही थी और दूसरे इसकी समस्या-प्रधानता । प्रसाद में दो-चार स्थलों पर प्रकृति-चित्र है अवश्य, किन्तु इस बड़े भण्डार में उनका विशेष महत्व नहीं । निराला जी के बादल-राग अवश्य इतने आकर्षक है कि पन्त जी के अनेक प्रकृति चित्र भी उनके सम्मुख फीके पड़ जाते है, किन्तु प्रकृति-दर्शन उनकी स्थायी वृत्ति नही, और 'बादलराग' मे भी उनका अपनापन ही प्रधान है ।

पन्त जी ने पल्लव मे कोई बहुत आकर्षक प्रकृति-चित्र नहीं दिए, जो कुछ हैं भी, वे दूसरी कविताओं में गौण रूप से आए है । ऐसे स्थलों पर

कहीं कही तो ये अपने पूर्वापर प्रकरण मे असगत भी हो उठे है। जैसे पद्य मे पर्वत पर पावस की छटा देखे—

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश,
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस दृग-सुमन फाड़,
अवलोक रहा था बार बार, नीचे, जलमें, निज महाकार,
जिसके चरणों मे पला ताल, दर्पण सा फैला है विशाल ।
गिरि का गौरव गाकर झर झर, मद से नस नस उत्तेजित कर,
मोती की लड़ियों से सुन्दर, झरते है झाग रे निर्झर ।
गिरिवर के उर से उठ उठ कर, उच्चाकांक्षाओं से तरुवर,
है झांक रहे नीरव नभ पर, अनिमेष अटल कुछ चिन्ता पर ।
उड़ गया अचानक लो भू धर, फड़का अपार पारद के पर,
रव-शेष रह गए है निर्झर, है टूट पड़ा भू पर अंबर,
धँस गए धरा में सभय ताल, उठ रहा धुँआ, जल गया ताल,
यों जलद-यान में विचर-विचर, था इन्द्र खेलता इन्द्र-जाल ।

इसमें पर्वत, निर्झर, बादल, तुषार सभी जैसे अद्वितीय सौन्दर्य पा गए है। प्रकृति-वर्णन की ये पक्तियां हिन्दी साहित्य मे अद्वितीय है। 'पर्वत' का ताल मे निज महाकार अवलोकन, तरुओ का उच्चाकाक्षाओं सा उठना और निर्निमेष आकाश की ओर देखना, एकदम बादलों का दौड़ना और घिरना तथा निर्भरों का छिप कर कलकल छलछल शब्द करना, यह सब जिसने एक बार देखा है वह तो इसे पढ कर चकित रह जाएगा। इतना सजीव शब्द-चित्र भी हिन्दी साहित्य में और कोई होगा, मुझे विश्वास नहीं होता। किन्तु यह चित्र उच्छ्व।स कविता में नितान्त असंगत स्थान पर जड़ा हुआ है। अस्तु, आँसू में भी यत्रतत्र कुछ बडे मनोहर प्रकृति चित्र है। पर्वत पर बादलों का ही एक चित्र ले—

द्विरद-दन्तों से उठ सुन्दर, सुखद कर-सीकर से बढ़कर,
भूति से शोभित बिखर बिखर, फैल फिर कटि के से परिकर,
बदल यों विविध वेश जलधर, बनाते थे गिरि को गजवर।

इसमें उपमा-रूपको का कैसा झीना पर्दा डाला गया है—इसे देखें, इससे चित्र और भी उभर आता है। इसमे मेघदूत के निम्न श्लोकों की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है—

तस्याः पातुं सुर गज इव व्योम्नि पूर्वार्ध लम्बी
त्वंचेदच्छ स्फटिक विशदं तर्क येस्तिर्यगम्नः,

और

आषाढ़स्य प्रथम दिवसे, मेघमाश्लिष्ट सानुम्,
वप्र क्रीडा परिणत गज प्रेक्षणीयम्.......।

तो भी इस मे मौलिक की सी ही सुन्दरता है। कही कही प्रकृति पर मानवीय आकृति की हलकी झलक देकर भी चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, और वे बहुत ही सुन्दर बन पडे है ? एक उदाहरण 'आँसू' मे से ही लें—

खैंच ऐंचीला भ्रूसुर चाप, शैल की सुधि यों बारम्बार,
हिला हरियाली का सुदुकूल, झुला झरनों का झलमल हार,
जलद-पट से दिखला मुख-चन्द्र, पलक पल-पल चपला के मार,
भग्न उर पर भूधर साहाय, सुमुखि धर देती है साकार !

इसमें पर्वत और प्रेयसी का यद्यपि श्लिष्ट वर्णन है किन्तु बहुत सुन्दर बन पडा है, इसमे सन्देह नही। इतना विरोधी श्लेष इतना सुन्दर बहुत कम स्थानों पर ही होगा। इसी प्रकार निर्झरी कविता में निर्झरी का चित्र भी काफी आकर्षक और प्रभावशाली बना है, एक उदाहरण लें—

झर मर कर पत्तों के पास, रण मण रोड़ों पर सायास,
हँस हँस सिकता से परिहास, करती होअलि तुम झलमल।

दिखा भंगिमय भृकुटि विलास, उपलों पर बहुरंगी उास,
फैलाती हो फेनिल हास, फूलों के कूलों पर चल ।

उद्धृत पद में कवि निर्झरी की लहर, फेन तथा उसके वक्ष पर तार-कोज्वल नभ की छवि को शब्दों मे काफी सजीवता से बॉध सका है यद्यपि यह पिछले उद्धृत पदों की समता में नही बैठता, क्योकि इसमे शब्दो से ही ध्वनि उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है अनुभूति का पूर्ण योग इसमें नही ।

अच्छे प्रकृति-चित्र, सम्भव है, दो-एक और पल्लव में मिल सकें किन्तु बहुत आसानी से नहीं । पहिले दो अच्छे पद ऑसू और उछ्वास से है जो प्रमुखत: प्रेम-गीत है, प्रकृति-सौन्दर्य सम्बन्धी कविताएं नही । प्रकृति सम्बन्धी और काफी कविताएं इस पुस्तक में है किन्तु सब निर्जीव और असं-गत । ऐसी कविताए इतनी अधिक है कि सब के उदाहरण नही दिए जा सकते । फिर भी कुछ पद देखे । निर्झर-गान मे कवि निर्झर के सौन्दर्य से कोई भी प्रेरणा प्राप्त नही कर सका । देखें वह उसे क्या क्या वनने को कहता है—

विजनता का सा विशद विषाद, समय का सा संवाद,
कर्म का सा अजस्र आह्वान, गगन का सा आह्लाद
मूक गिरिवर के मुखरित ज्ञान, भारती का सा दान ।

उपमा या उत्प्रेक्षा द्वारा ऐसी कल्पनाएं करना, जो विषय को ही तिरोहित कर दें, यह स्पष्ट करता है कि कवि प्रकृति-सौन्दर्य से अनुप्राणित नही हो सका है । "विजनता का सा विशद विषाद" भाव-वाचक वाक्य है, किन्तु प्रकृति-चित्र भाव-वाचक नही हो सकता और इस प्रकार अपनी कोई अनुभूति भी नहीं दे सकता । "समय का सा संवाद" इत्यादि दूसरी पंक्ति, जो निर्झर के प्रवाह को देख कर कही गई हैं, उसके उल्लास,

कल कल छल छल संगीत को मूर्तित नही करती। इसमें पहिले तो हमें समय के संवाद से 'क्षणिकता' अर्थ निकालना पडता है और फिर उसे निर्झर प्रवाह के साथ उपमित करना होता है। समय तीव्रतम है किन्तु उसकी यह गति मूर्त नही और न उसकी अभिव्यक्ति सघन है अतः इससे निर्झर के वेग की अभिव्यक्ति नही होती। प्रसाद की लहर से एक उदाहरण लें—

उठ उठ री लघु लघु लोल लहर, करुणा की नव अँगराई सी,
मलयानिल की परछाँई सी, इस सूखे तट पर छिटक छहर।

यहां लहर को 'करुणा की नव अँगराई सी और मलयानिल की परछाई सी' उठने को कहा गया है। पहिली पंक्ति यहां भी भाववाचक है किन्तु 'अँगराई' शब्द हमारे सम्मुख एक मूर्तिमत्ता भी लाता है, और यह शब्द श्लिष्ट भी है, क्योंकि सूखा तट नदी का ही नही जीवन का भी कवि को अभिप्रेत है। 'मलयानिल की परछाई' कहने मे दोनो के गुण-साम्य की ओर निर्देश है न कि क्रिया की ओर। पन्त के निर्झर गान में कोई श्लिष्ट अर्थाभिव्यक्ति अभीष्ट नही; वैसे भी जो भेद हैं वह स्पष्ट हो गया होगा। 'समय का सा संवाद' के समानान्तर पर हम रवि बाबू के 'निर्झरेर स्वप्न भग' से एक उद्धरण देगे—

प्राणेर वासना, प्राणेर आवेग
रूधिया राखिते नारि।

"प्राणों की वासना और प्राणो का आवेग रोके नहीं रुक सकता।" यहा निर्झर का मानवीकरण किया गया है, अर्थात् यहां निर्झर के आवेग के पीछे एक प्राण-भूत अस्तित्व की कल्पना की गई है, उसके प्रवाह की उपमा प्राणों के आवेग से नही दी गई, अतः इसमें और भी सजीवता आ जाती है। फिर आवेग स्वय मूर्तिमान प्रतीत है। अतः पन्त जी के ये

आध्यात्मिक अलंकार एकदम असगत बन पडे हैं क्योंकि इनमे अनुभूति का योग-दान नही। इसी प्रकार 'वीचि-विलास' कविता से एक उदाहरण लें—

तुम शैशव-स्मिति सी सुकुमार,
मर्म-रहित पर मधुर अपार,
खिल पड़ती हो बिना विचार।

शैशव-स्मिति से लहर की उपमा कोई बुरी नहीं, किन्तु शब्द-शिल्पी पन्त जी जानते है कि लहर इतनी सुकुमार और शिथिल सी नही होती जैसी यह पंक्ति, लहर मे एक चपलता और चुहुलता-सी होती है जो शैशव स्मिति में और विशेषतः बहुत बचपन मे नहीं हो सकती। अनुभूति के अभाव के कारण 'वीचि' स्वयं कवि की कल्पनाओं में मूर्त नही हो सकी और इसी अभाव के कारण दूसरी पक्ति भी असंगत रही। यहा भी प्रसाद की लहर से एक उदाहरण ले—

शीतल-कोमल चिर-कंपनसी, दुर्ललित हठीले बचपन सी,
तू लौट कहां जाती है री, ले खेल खेलले ठहर ठहर।

इसकी दूसरी पंक्ति की उपमा लहर की चपलता और सौन्दर्य को जैसे मूर्त रूप से चित्रित कर सकी है वह अद्वितीय है। पन्त के पद्य के साथ इसे रख कर अन्तर नापा जा सकता है। (यद्यपि यह बहुत बडा है)। इसमें न केवल लहर ही प्रत्युत कवि का कुतूहल और छोह भी मुखर हो उठा है। बीचि विलास से ही अनुभूति-शून्यता का एक उदाहरण और लें—

स्वर्गिक सुख की सी आभास,
अतिशयता में अचिर महान्।

ऊपरली पंक्ति की उपमा नितान्त दुरूह है। यहां समान धर्म की कल्पना सहज प्रतीत नही होती। दूसरी पंक्ति में 'अचिर' शब्द की सार्थकता भी सन्दिग्ध ही रहेगी। वैसे सारी ही दूसरी पंक्ति हमारे बस की बात नहीं।

पल्लव की बादल कविता, ऐसा प्रतीत होता है, पन्त जी ने बड़े उत्साह से लिखी है। किन्तु वह इतनी निष्प्राण और नीरस है कि पहिले पद्य से ही पढने मे एक थकावट सी अनुभव होने लगती है। इसमे बादल अपना परिचय आप देता है—

सुरपति के हम ही है अनुचर, जगत-प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पना, चातक के प्रिय जीवन धर।

इन चारों पंक्तियों में बादलों ने अपनी चार विशेषताएँ बता डाली। इन चारो में कोई शृंखला भी नही। यह लम्बी कविता सारी की सारी ऐसे ही विशेषणो से भरी पडी है। शेली की Cloud भी इसी प्रकार की कविता है, किन्तु उसमें बादल की क्रियाओं का तथा प्रभाव का ऐसा समन्वित वर्णन है कि वह कविता बुरी नहीं लगती; इस प्रकार संक्षिप्त विशेषणो से तो वहाँ कही भी काम नही चलाया गया। वास्तव में पन्त जी उसके सृजन-प्राण या ध्वंसक किसी भी रूप से अनुप्राणित नही। बादल के भीषण रूप का एक चित्र लें—

कभी अचानक भूतों का सा, प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क कड़क जब हँसते हम सब, थर्रा उठता है संसार।

इसमें 'भूत' नाम से और शब्दो की ध्वनि से प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। शब्द केवल प्रतीक होते हैं, भावना के बिना वे स्वयं कविता नहीं बन जाएंगे। बादल की गर्ज से भीत और विस्मित बच्चा इससे अधिक प्रभावशाली और ठीक बात कह सकता है। बादल के इस रूप को जरा निराला जी से लें—

ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले उन्माद,
विश्व-विभव को लूट लूट लड़ने वाले अपवाद।
श्री बिखेर, मुखफेर, कली के निष्ठुर पीड़न,
छिन्न भिन्न कर पत्र-पुष्प पादप-वन उपवन,

वज्र घोष से ऐ प्रचण्ड,
आतंक जमाने वाले,
कम्पित जंगम, नीड़-विहंगम,
ऐ न व्यथा पाने वाले ।

यहाँ बादल का विप्लवी रूप जैसे साकार हो उठा है, इसमें 'भूत' तथा 'कडककडक' शब्दो से 'भय' उत्पन्न करने का शिशु-प्रयास नही किया गया। अस्तु, बादल कविता इतनी निरर्थक और निष्प्राण भी नही कि खीभ उत्पन्न हो, यद्यपि अच्छा पद भी कोई नही ।

इसके पश्चात् उन कविताओं का स्थान आता है जो सर्वथा निरर्थक तथा थकाने वाली है, इनमें छाया तथा नक्षत्र प्रमुख है । इनको विशेषण-सग्रह भी कहा जा सकता है; इन संग्रहो में अनुभूति का हो सकना असम्भव नही तो असम्भव जैसा अवश्य है । पल्लव में ऐसे पद और कविताएँ काफी मात्रा में है जिनमें असंगत विशेषणों के अतिरिक्त और कुछ भी नही। छाया मे कुछ पक्तियाँ देखे—

रति-श्रान्ता व्रज-वनिता सी,

* * *

तुम विरक्ति सी मूर्छा सी ।
गूढ़ कल्पना सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गम्भीर हृदय सी, बच्चों के तुतले भय सी ।

* * *

मदिरा की मादकता सी औ, वृद्धावस्था की स्मृति सी,
दर्शन की अति जटिल ग्रन्थि सी, शैशव की निद्रित स्मिति सी ।

इन पद्यों से, अपने एक साथी कवि का उपहास करते हुए उन विद्यार्थियों का स्मरण हो आना सहज ही है, जो चिड़िया घर में खड़े गाते है—'ओ

बिन्दुओं की छनती छनकार, दादुरों के वे दुहरे स्वर,
हृदय हरते थे विविध प्रकार, शैल-पावस के प्रश्नोत्तर !

इनमें झर-झर, झनकार, गह्र इत्यादि शब्द अनुभूति और कविता पर बहुत बडी जबरदस्ती है। पता नही वियोगी पन्त दादुरों के दुहरे स्वर में प्रेयसी को कहाँ खोजने जा फँसे हैं ? शैल-पावस के प्रश्नोत्तर और वे भी पपीहो की पीन पुकार और झीगुरों की झीनी झनकार में, यथार्थ में तो पता नही कैसे रहे होंगे, कविता में इन्होंने अवश्य गजब ढाया है। कवि इन्ही से अनुभूति जगा कर ब्रह्मानन्द सहोदर रस मे लीन करने का, लगता है, विचार रखता है। ऐसे पद्य इस कविता से काफी उद्धृत किए जा सकते हैं।

खैर, तो भी आँसू कविता अच्छी है। कही कही, जहाँ व्यथा कुछ तीव्र हो उठी है, यह काफी प्रभावशाली हो सकी है। एक ऐसा ही पद्य देखें—

वर्ण वर्ण है उर की कंपन, शब्द शब्द है सुधि का दंशन,
चरण चरण है आह, कथा है कण कण करुण अथाह।

इसमे शब्दों की आवृत्ति और अनुनासिकान्त चरण तथा तीसरे चरण मे 'आह' पर 'सम', पीडा की अनुभूति को बहुत ही गहराई तक उतार देते है। 'आह' पर तो जैसे आहे स्वतः फूट पडती है और कविता का सम्पूर्ण प्रवाह उस पर जैसे केन्द्रित हो जाता है।

पीडा जब घनीभूत हो जाती है और प्रत्येक कल्पना और अनुभूति जब उसी का भार ढोती चलती है उस समय हृदय कितना विह्वल हो उठता है !—

कभी उर में अगणित मृदुभाव,
कूजते हैं विहगों से हाय !
अरुण कलियों के कोमल घाव,
कभी खुल पड़ते हैं असहाय !

प्रेम के घावों की अरुण कलियो से उपमा कितनी मधुर और सगत है। और प्यार की पीडा भी कैसी मधुर और प्रिय होती है! प्रणयी उसका स्वागत करे या विस्मृति चाहे! वह निर्णय नही कर पाता कि 'विरह है अथवा यह वरदान!' किन्तु यह वरदान कितना कसकता है इस हृदय में! वह प्रणय को ही कोसने लगता है—

करुण है हाय! प्रणय,
नहीं दुरता है जहां दुराव,
करुण तम है वह भय,
चाहता है जो सदा बचाव।

प्रेम को मनुष्य छिपाना चाह कर भी नही छिपा पाता, अथवा वह छिपाना चाहता ही नही, केवल अभिनय करता है! कैसी विडम्बना है यह! और उस पर यह भय कि न जाने वे क्या सोचेंगे, कैसा अनुभव करेंगे! सारे ही इरादे और निश्चय एकदम बिखर जाते हैं। ब्राउनिग इसे और भी सुन्दरता से अभिव्यक्त करता है—

Had I said this, Had I done this !
So I might win, so I might miss.

"यदि मैंने यह कहा होता, यदि मैं यह उपाय करता, तो वे अवश्य प्रसन्न हो जाते, मैंने उन्हे अवश्य जीत लिया होता; पर यदि वे नाराज़ हो जाएँ!" और इसी भावना को एक उर्दू कवि और भी सप्राणता से रखता है—

इरादे बाँधता हूँ, सोचता हूँ, तोड़ देता हूँ,
कहीं ऐसा न हो जाए.... कहीं ऐसा न हो जाए।

किन्तु पन्त की पीडा तो और भी गहरी है, यहाँ प्रिय ही नही रूठे, लोग भी बाधक है; और यह दिल भी तो नही भरता!

करुण तम भग्न-हृदय,
नहीं भरता है जिसका घाव,
करुण अतिशय उनका संशय,
छुड़ाते है जो जुड़े स्वभाव ।

ऐसा प्रतीत होता है, इस सशय ने पन्त जी को काफी पीडा पहुँचाई है क्योंकि उछ्वास मे भी उन्होंने इसे बहुत कोसा है।

इन दोनो पद्यो मे चरण के पहिले भाग मे अन्तिम शव्द पर, लय में कुछ संकोच सा होता है, और दूसरे भाग मे उसका शिथिल-गति-प्रसारण, इससे पीडा जैसे एकदम फूट सी पडती है और हृदय वहाँ ठहर सा जाता है।

प्रणयी हृदय अपनी प्रेयसी को कल्पनाओ मे कितनी सुषमा से सजाता है, यह जिसने अनुभव किया हो वही जानता है। और जो विरही हो . . .

विधुर उर के मृदु भावों से, तुम्हारा कर नित नव-शृंगार,
पूजता हूँ मै तुम्हें कुमारि, मूंद दुहरे दृग-द्वार,
अचल-पलकों मे मूर्ति सँवार, पान करता हूँ रूप अपार,
पिघल पड़ते है प्राण, उबल पड़ती है दृग-जल-धार !

कितनी विवशता है। पलके बन्द कर प्रेयसी का ध्यान करते आँसू फूट पडना कितनी गहरी पीडा का द्योतक है। प्रेयसी का सौन्दर्य उसे शतधा मुखरित हो आत्म-सात् कर लेता है, उसे उसकी उपमा मे आज इस ब्रह्माण्ड में कुछ भी नही दीखता ! उसे विश्वास नही होता कि स्वयं उसकी प्रेयसी भी अपने सौन्दर्य का भावन कर सकती है। वह इस अनन्त सुषमा को देख कर स्वयं पागल नही हो जाएगी ! पर उसे देख ही कौन सकता है सिवाय प्रणयी-हृदय के !—

एक वीणा की मृदु-झंकार,
कहां है सुन्दरता का पार,

तुम्हें किस दर्पण में सुकुमारि,
दिखाऊँ मैं साकार !

'वीणा की मृदु झंकार' अनुभूति-गत सौन्दर्य का कैसा सुन्दर रूपक है और दर्पण की प्रतिबिम्बन मे असमर्थता ने उसकी असीमता और अलौकिकता को और भी सप्राणता दे दी है।

इस प्रकार यह विरह गीत सब मिला कर अच्छा ही है। दूसरी स्वानुभूति-मूलक कविता मौन-निमंत्रण है, जो सराहनीय है। इसमे सभी पद एक से ही सप्राण हैं, 'आँसू' की तरह 'भिन्न वर्णी' नही। तो भी यह कविता 'आँसू' जितनी अच्छी नही। इसमे कवि गहराई से कही भी कुछ अनुभव नहीं कर रहा, एक साधारण—और वह भी चिन्तित—-जिज्ञासा मात्र है। इसमें वह सुख-दुख, स्पृहा-वितृष्णा, उत्पत्ति-विनाश सर्वत्र एक अनन्त लय, शाश्वत सगीत का आभास पाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे अनन्त हृदय का अपार स्नेह उसे सकेत कर रहा हो...मिलन सुख के लिए। वह सोचता है, कौन है वह चिर-सुन्दर. खुल कर सामने क्यो नही आ जाता!

नीरव चान्दनी जब अपनी स्वप्निल अँगुलियो से विश्व-शिशु को तन्द्रा के पलनों में सुला देती है, तब वह कौन है जो स्वप्न-रथ पर मेरे हृदय मे संचरण करता है और तारक-रश्मियो से मुझे निमत्रण देता है ?—

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार, चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार, विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने नक्षत्रों से कौन, निमन्त्रण देता मुझको मौन।

जब विश्व-पतझड की डाली वसन्त से यौवन का वरदान पाती है और अलसाई वनस्पतियाँ अनजाने ही एक कसक से विह्वल होकर खिल पड़ती हैं, तब ओ विराट् सौन्दर्य, कौन हो तुम, जो मुझे प्रेम-निकेत की ओर पथ दिखलाते हो !—

देख वसुधा का यौवन भार, गूंज उठता है जब संसार,
विधुर उरके से मृदु उद्गार, कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास,
न जाने सौरभ के मिस कौन, सँदेशा मुझे भेजता मौन।

इसी प्रकार वह सर्वत्र एक आह्वान का मौन संकेत पाता है, जो उसे उत्सुक कर छिप जाता है। कवि जान नही पाता, वह कौन इस अनन्त का सूत्र-धार है जो परदे के पीछे से डोरी हिलाया करता है? अध्यात्मवादी इसे रहस्यवाद की पहिली सीढी कहते है।

इन दोनो कविताओ में हम अनुभूति की नितान्त ऊपरली सतह पर ही रह जाते है, जीवन का गम्भीर पर्यालोचन और अनुभूति की गहरी पैठ इनमे नही। इनके पश्चात् वर्णनात्मक कविताओ का स्थान आता है, जो बहुत कम ही (सख्या और परिणाम दोनो मे) सरस और सप्राण बन सकी है, अधिकाश तो नीरस और असगत ही है। जो दो-एक पद अच्छे होगे भी, वे भी महत्वहीन ही होगे। 'अनग' कविता अवश्य कुछ अच्छी कविता है किन्तु कामायिनी मे 'काम के आगमन का वर्णन' और 'कुमार सम्भव' में काम का अवतरण कितना सुन्दर है वह वही देखे बनता है; यह उससे बहुत पीछे रह गया है। अत. अब हम ऐसी कविताओं की चर्चा करेंगे जो निष्प्राण हैं, क्योकि ऐसी कविताएँ ही पल्लव मे अधिक है।

पल्लव में असंगतियाँ और छिछलापन, 'उछ्वास कविता'

पल्लव की ऐसी कविताओ के कुछ उदाहरण हम पीछे प्रकृति-काव्य की आलोचना में देख आए है, उनमे छाया और नक्षत्र सर्वतः असंगत है, यद्यपि विश्व-वेणु, निर्झर गान, सोने का गान, बादल, विश्व-छवि और नगेन्द्रजी को प्रिय मधुकरी इत्यादि सभी प्रकृति-वर्णन की कविताएँ निष्प्राण, उकता देने वाली है। उन सब के उदाहरण देने का कोई लाभ नही। अत. कुछेक कविताओ से कुछ पद्यो को उद्धृतकर वास्तविकता दिखा दी

गई थी। अब हम देखेंगे कि छिछलापन और निर्जीवता स्वानुभूति-मूलक तथा वर्णनात्मक कविताओ मे भी कितनी अधिक है। इनमे उच्छ्वास कविता का सर्वप्रथम नीर-क्षीर करना ठीक रहेगा, क्योकि इसे बहुत अधिक श्रेय दिया गया है। इसीलिए हमे अपने मत की पुष्टि के लिए पूरे तर्क भी प्रस्तुत करने होगे।

'उच्छ्वास' को पन्त जी ने 'सावन' और भादो' दो उप शीर्षको मे विभक्त किया है। इस कविता की 'विशेषता' इसकी श्रृखला-हीनता और विशुद्ध कल्पना है। उच्छ्वास शीर्षक की यहाँ यही सगति प्रतीत होती है कि उच्छ्वास के समान बादल घिर कर हृदय के ओर छोर को व्यथा-सिक्त कर आह बन गया। यथा——

सिसकते अस्थिर मानस से,
बाल-बादल सा उठकर आज,
सरल-अस्फुट उच्छ्वास !
मेरे आँसू गूँथ, फैल गंभीर मेघसा,
आच्छादितकर ले सारा आकाश !

ये पक्तियाँ काफी अच्छी है और इनसे शीर्षक भी सार्थकता पाता है। आँसुओ को गूथ कर गम्भीर मेघ सा फैलने मे विषाद की गम्भीरता, व्यापकता तथा शिथिलता और मूकता का बडा प्रभावशाली चित्रण हुआ है। इसी प्रकार——

बरस धरा में, बरस सरित-गिरि-सर-सागर में,
हर मेरा संताप, पाप जग का क्षण भर में।

यहाँ बादल का सरित्-गिरि, सर, सागर में वर्षण और आँसू का हृदय की जलन और पीडाओं को धोकर निखार देना बहुत ही सुन्दर और श्लिष्ट रूप में चित्रित हुआ है। यहाँ हृदय का अवसाद अपनी वेदना और

गम्भीरता को अक्षुण्ण रख सका है। इसे जितनी ही बार दुहराएँ उतनी ही गम्भीरता से हृदय को यह सजल आह्लाद और व्यथा से आप्लावित कर देता है। यहाँ तक के चार-पाँच पद्य बहुत सुश्रृखलित और अच्छे भी बन पड़े है, किन्तु अगली ही पक्तियाँ सारे वातावरण को विच्छिन्न कर देती है—

हृदय के सुरभित सांस !
जरा है आदरणीय
सुखद यौवन, विलास-उपवन रमणीय,
शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु, सरल कमनीय,
बालिका ही थी वह भी ।

स्पष्ट ही इनका पिछली पक्तियो से कोई सम्बन्ध नहीं। आँसू (बादल) का गिरि-सर मे वर्षण जरा को किसी भी प्रकार आदरणीय होने मे सहायता नही दे सकता और न यौवन की विलासिता को ही प्रोत्साहन देता है। इस पद्य के पहिले कोई विच्छेदक-चिन्ह भी नही जिससे कोई समाधान खोजा जा सके। फिर इसकी अपने आप मे ही क्या संगति है ? 'हृदय के सुरभित सास' (प्रेमातुर उच्छ्वास) को सम्बोधित कर यह सूक्ति कही गई है। बालिका को स्नेह की वस्तु कहने के लिए शैशव को भी स्नेह की वस्तु कहना किसी प्रकार से संगत नही, इसी प्रकार शैशव को सुखद बताने के लिए जरा को आदरणीय और यौवन को विलासी कहने मे भी कोई सार्थकता नही। फिर यदि बालिका (विशेष) शैशव (सामान्य) के कारण ही स्नेह की वस्तु है तब सभी शिशुओं को स्नेह की वस्तु होना चाहिये। यदि उसका शिशु होना भी स्नेह के अनेक कारणो मे एक कारण था तब बालिका विशेषण ही पर्याप्त था। इसी प्रकार जरा (सामान्य) को आदरणीय कहना भी नितान्त असगत है। जरा यदि आदरणीय हो तो सभी जर प्राणी आदरणीय होने चाहिए, और आदरकर्त्ता को आदृत जैसा बनने की आकांक्षा होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नही

होता। 'जर' (विशेष) आदरणीय हो सकता है जरा (सामान्य) नही। यहां एक असगति और भी है। 'जरा' यदि आदरणीय मान ही ली जाय तो दूसरो के लिए आदरणीय हो सकती है स्वय जर के लिए नही, इसी प्रकार शैशव का स्नेहिल होना भी दूसरे के लिए ही सम्भव है न कि शिशु के लिए, किन्तु यौवन विलास उपवन स्वय युवक के लिए ही होगा दूसरे के लिए नहीं। अतः इनका एक साथ वर्णन सगत नही। इस प्रकार यह सम्पूर्ण पद ही असंगत हो उठता है। इसके पश्चात् दो पद्यों मे बालिका का सौन्दर्य वर्णन है और फिर—

मधुरिमा के मधुमास!
मेरा मधुकर का सा जीवन,
कठिन कर्म है कोमल है मन,
विपुल-मृदुल सुमनों से सुरभित,
विकसित है विस्तृत जग-उपवन।

इस पद्य का भी पिछले से कोई सम्बन्ध नही दीख पड़ता। फिर भी थोडी देर के लिए मान ले और इस प्रकार सगति मिला ले "मधुर वेदनाओ और व्यथाओ के ओ वसन्त! इस सुषुमा—सस्मित कामनाओ के असीम विश्व-कानन में अनन्त सुमन—सौन्दर्यसुरभि लुटा रहा है। मेरा कोमल मन-मधुप इसे आत्म-सात करने को विकल है, किन्तु यह कितना दुष्कर कार्य है? (मेरे लिए तो एक बालिका में ही असीम अवसित हो गया है और चयन कहां से करूँ?)" किन्तु इसमे अगला पद्य विक्षेप डालता है, देखे—

यही है मेरे तन-मन-प्राण,
यही है ध्यान, यही अभिमान,
धूलि की ढेरी में अनजान,
छिपे है मेरे मधुमय गान।

यदि 'असीम' उस बालिका में ही अवसित मान लिया जाय तो यही 'तन-मन-प्राण' और क्या है? यदि यही (सुमन) तन-मन-प्राण हैं तो बालिका क्या है और कर्म की कठिनता मे क्या सार्थकता है ? दोनो ही अवस्थाओ मे धूलि की ढेरी (असफलताओ और निराशाओ की डीह) के नीचे 'मधुमय गानो' के दबने मे क्या सगति है ? अभिमान किस बात का है ? इस प्रकार दोनो ही पद्य असगत हो उठते है । और पहिले पद्यो के साथ इनका सम्बन्ध भी नहीं बैठता । अगला पद्य है—

कुटिल काँटें है कहीं कठोर,
जटिल तरु-जाल घिरे चहुँ ओर,
सुमन-दल, चुन चुन कर निशि-भोर,
खोजना है अजान वह छोर ।

यहा सुमन-दलो (सौन्दर्य) का चयन कर के किस अजान छोर को खोजना है ? फिर बालिका भी उनमें एक पंखुडी मात्र है या कुछ अधिक ? यदि वह भी एक पंखुडी ही है, तो उसको विशेष महत्त्व क्यों दिया गया ? विरह क्यो हुआ ? और क्या अजान छोर 'सत्य' है, जहां सौन्दर्य के माध्यम से कवि पहुंचना चाहता है ? तब फिर उसके गान धूलि की ढेरी मे क्यो छिपे है, क्योंकि कवि को तो सौन्दर्य का चयन करना है न कि सुन्दर को अधिगत करना ! एक सम्भावना यहा और भी हो सकती है जो अधिक ठीक जान पडती है, किन्तु इसको और भी उपहासास्पद बना देती है,— उपर्युक्त पद्य के पश्चात् सम्बन्ध सकेत के साथ पंक्ति है—

नवल कलिका थी वह भी

तो क्या वह नवल-कलिका ही अजान-छोर है ? अथवा, क्या कवि उसके सौन्दर्य को इस विकसित असीम सौन्दर्य के साथ रखकर देखना चाहता है ? किन्तु बालिका का अजान छोर होना तो किसी भी प्रकार से संगत नहीं । यदि बालिका के सौन्दर्य का विश्व सौन्दर्य से सामंजस्य स्थापित

करना है तो काटों मे सुमन-दल पृथक चुनने की कोई आवश्यकता नही और यदि बालिका ही अजान-छोर है तो भी उसे न तो कांटों से हाथ छलनी कराने की आवश्यकता है और न बिखरे दलो को चुनने में शक्ति का अपव्यय करने की। क्योकि यह सौन्दर्य कितना भी आध्यात्मिक क्यों न हो जाए, इसमे आध्यात्मिक बाधाओ और मोह-अज्ञानो की कल्पना कभी अच्छी नही लग सकती। फिर उसकी खोज की सार्थकता तो और भी दुरूह है। इससे स्पष्ट है कि इन पद्यों की अपने आप मे भी कोई सार्थकता नही। यहां पहुचते पहुचते हम एक और उलझन मे पड जाते है। जिस बालिका की दुहाई अब तक देकर हम सब कुछ कह रहे थे और कुछ सूत्र इस कविता मे देख रहे थे उसका कोई अस्तित्व भी है या केवल कल्पना ही है? वैसे है यह खूब उपहास, किन्तु देखते जायें महाकवि ने पाठकों को कैसी कैसी पहेलियो में उलझा छोडा है। वे कहते है—

कह उसे कल्पनाओं की, कलकल्पलता अपनाया !

अर्थ स्पष्ट है, कि कवि अपनी सम्पूर्ण कल्पनाओं और प्रेरणाओं का आधार उस बालिका को समझता है। किन्तु श्री नन्ददुलारे वाजपेयी जी इसमे बालिका को केवल कल्पना समझ कर कहते हैं "पन्त जी इसे कल्पनाओं की कल कल्पलता कह कर अपनाते है, इसलिए बालिका का शारीरिक अस्तित्व कल्पना में विलीन होता जान पडता है, पर साथ ही जुडे स्वभाव छुडाने इत्यादि की घटनाएं फिर बीच मे विक्षेप डालती है।"* वस्तुत: यह अर्थ उन्होने इसीलिए ले लिया। जान पडता है कि पन्त जी ऐसा सर्वत्र कहते आए है और अब तो बच्चन जी ने भी पल्लविनी की भूमिका मे स्वयं पन्त जी के शब्द देकर इसका समर्थन कर दिया है, अत: यदि हम भी इस बालिका को कल्पनाओ की मिश्री-मूर्ति मान ले तो कोई आपत्ति न

* हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी।

होगी फिर भी इसे हम इस कविता मे ही देखेगे। अस्तु, इसी पद्य मे दो पक्तिया है "मै मन्द-हास सा उसके, मृदु-अधरो पर मँडराया", इसका अर्थ स्पष्ट है कि कवि को देख कर बाला के अधर स्मिति-चचल हो उठते थे, अथवा कवि उसके अधरो के इतना समीप था जितना उसका मन्द-हास हो सकता है! किन्तु इससे प्रश्न होता है, फिर उच्छ्वास किसके लिए? पर इसका समाधान आगे 'भादो' मे हो जाता है। परन्तु अभी तो हमें देखना यह है कि बालिका है भी या नही? पर्युद्धृत पंक्तियो के पश्चात 'पावस ऋतु भी पर्वत-प्रदेश' इत्यादि प्रसिद्ध प्रकृति-वर्णन है जिसका कोई सीधा प्राकरणिक सम्बन्ध नही, अवान्तर सम्बन्ध निम्नपक्ति से बडी ज़बरदस्ती स्थापित किया गया है——

वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर

'वह सरला उसको बादल घर कहती थी' इतना ही क्या सगति मिलाने के लिए कह देना काफी है? किन्तु इससे भी बडा उपहास यह है कि वह 'सरला' भी, जिससे सलज, भीरु पन्त का स्नेह हो गया था, यहा नास्ति हो रही है। देखें——

इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी,
सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही,
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।

इस पद्य से सारी की सारी कविता ही बादल घर बन जाती है। यदि शैशव की सुखद-सुधि ही बालिका थी तो प्रति दिन वे समीप किसके खिचते थे? किसके मृदु अधरो पर मन्दहास सा मँडराते थे? यहा 'सी' शब्द से इसे उपमा होना चाहिए किन्तु तब बाह्य प्रकृति की चितेरे हृदय की चित्र होने मे क्या सार्थकता है, क्योकि कवि उछ्वास प्रकृति-चित्रो के लिए लेने नही बैठा है! फिर यह अर्थ भी हो सकता है कि चित्रित

प्रकृति को चितेरे हृदय की बालिका कहा गया हो। किन्तु यह भी संगत नही है, क्योंकि प्रकृति को प्रकृति कहने या बालिका कहने से कोई अन्तर नही आता और न बालिका को सुखद-सुधि या प्रकृति-चित्र कहने से क्योकि न तो प्रकृति की सुखद सुधि और न प्रकृति किसी विरहानुभूति के कारण हो सकते है। इससे 'सशय' और 'शिशु बालिका' तो और भी असगत हो जाएंगे। इस प्रकार सारा ही सावन इन्द्र-धनुष की छाया मे समाप्त होता है और भादो चढता है। इसमे पन्त जी की कल्पना इतनी अछोर तो नही उडी, तो भी कुछ पंक्तिया अवश्य मनोरजक है। इसमे कवि सामान्यतया स्नेह-सम्बन्ध के सन्देह के कारण विछिन्न हो जाने से विकल है और सोचता है—

कहां है उत्कंठा का भार !!
इसी वेदना में विलीन हो, अब मेरा संसार।
तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार.....

किन्तु तब यह रुदन और उछ्वास उपहासास्पद हो जाता है जब हम यह 'दार्शनिक' वाक्य पढते है—

दीप के बचे विकास !
अनिल सा लोक लोक में—
*** * * ***
कहां नहीं है प्रेम, सांस सा सब के उर में !

कविता आरम्भ ही इन पंक्तियो से होती है। 'दीप के बचे विकास' का गूढार्थ क्या है ? भाषा प्रतीकात्मक होनी चाहिए और एक महाकवि की तो अवश्य ही होनी चाहिए, किन्तु ऐसे प्रतीकों से मुझ से बाल-बुद्धि पाठको को असमंजस और आश्चर्य मे डालना तो किसी प्रकार उपयुक्त नहीं हो सकता। ऐसे पद्यों का कोई पारमार्थिक अर्थ भले ही हो सके, कविता मे तो कोई सम्बन्ध नहीं। जो भी हो, पन्त जी ने कुछ सिद्धान्त

वाक्य लिख कर दार्शनिक आलोचको को तो अवश्य ही प्रसन्न किया है। नही तो बचपन के हुलास से लेकर मृत्यु के दीर्घ निश्वास तक प्रेम को उच्छ्वसित दिखाना कैसे सगत हो सकता है ? इस तरह से उसका अर्थ बिलकुल ही बदल जाता है, या यो कहे, कोई अर्थ नही रह जाता। इसकी सगति बिठाने के लिए उन्होने कहा है—

'यह है वैदिकवाद'

ठीक इसी वैदिकवाद का विस्फोट 'रजस्राव' से 'तुष्ट-घ्राण' नवीन रहस्यवाद मे हुआ है, इसी वैदिकवाद के सहारे उन्होने विश्व के सुख-दुखमय उन्माद के एकतामय नाद को गिरा के सनयन और नयन के मूक भाषण मे सुना है—वज्रयानियो के अनहदवाद की तरह। खैर, सुना हो या न सुना हो, इससे उन्होने चकित अवश्य बहुतों को किया है।

अस्तु, भादों मे प्राय. ये प्रारम्भिक पद ही असंगत है, बाकी कविता प्रायः ठीक हैं। कुछ पद्य तो अच्छे भी हे यद्यपि द्रोपदी के अछोर चीर के समान इन्हें भी अनेक स्थानों पर तूल ही दी है। इस प्रकार पल्लव की यह महत्वपूर्ण कविता नितान्त तुच्छ बन पडी है।

पल्लव में असंगतियां और छिछलापन, अन्य कविताएं

'उछ्वास' के पश्चात् 'स्याही का बूद' कविता का स्थान है, जो असंगति और छिछले-पन मे उससे कही अधिक 'समृद्ध' है। छोटी और अधिक असगत होने से इसका कोई महत्व नही, इसीलिए यह दृष्टि से बच सी जाती है, किन्तु पन्त जी की कल्पना कितनी उडारी भर सकती है अथवा पन्त काव्य मे कल्पना पर कितना बलात्कार किया गया है, यह इस का घनीभूत निदर्शन है। एक उदाहरण ले—

अर्ध निद्रित सा, विस्मृत सा,
न जागृत सा न विमूर्छित सा,

अर्ध जीवित सा औ मृत सा
न हर्षित सा न विमर्षित सा,
गिरा का है क्या यह परिहास ?

इस प्रश्न का उत्तर सम्भवतः सभी पाठक एकमत होकर दे सकते हैं, मुझे सम्मति देने की आवश्यकता नही। यह केवल पन्त जी की गिरा का ही परिहास नही, कवियों और दार्शनिको का उपहास उडाने वाले सभी ऐसी शब्द-योजना कर के परिहास किया करते है; जैसा कि हम 'ओ लम्बी चोच वाली ओ लम्बी टॉग वाली' कह कर अपने एक साथी का उपहास उडाने वाले कालजिएट विद्यार्थियो के विषय मे पीछे बता आए है। किन्तु पन्त जी ने यही रुकना ठीक नही समझा, अब वे दार्शनिक होने का भी प्रमाण देते है—

योग का सा यह नीरव-तार,
ब्रह्म-माया का सा संसार,
सिन्धु सा घट में—यह उपहार,
कल्पना ने क्या दिया अपार !

उनकी कल्पना के इस आश्चर्यजनक आविष्कार पर किसे दाद देन की इच्छा नही होगी ! छायावादी आलोचक—जैसा कि हम आगे देखेंगे—इस दृष्टिहीन दार्शनिकता के बडे पुजारी रहे है और पन्त जी उनके बड़े 'समझदार' देवता।

खैर, ऐसी कविताए लगभग पल्लव मे ही अधिक है। इसी प्रकार की—यद्यपि मात्रा मे कुछ कम—एक कविता और भी है—"स्मृति", जो उपशीर्षक के अनुसार उच्छ्वास की बालिका के प्रति लिखी गई है। इसका प्रथम पद्य तो कुछ अच्छा है किन्तु इसी का अन्तिम चरण अगली सम्पूर्ण कविता की असगतियों का सूत्रधार है। चरण है—

डुबा देता है मुझे सदेह, सूर सागर सा स्नेह !

मुझे तो यह चरण भी कुछ असगत सा ही प्रतीत होता है क्योंकि 'उच्छ्वास' की बालिका के स्नेह की उपमा सूर-सागर से नही बैठती। किन्तु यह एक छोटी सी असंगति है, इसका महत्व तो अगले पद्यो का चीर खीच कर लाने मे है। ये पद्य है—

रूप का राशि-राशि वह रास, दृगों की यमुना श्याम,
तुम्हारे स्वर का वेणु-विलास, हृदय का वृन्दा धाम।
देवि! मथुरा था वह आमोद, दैव! व्रज, अह, वह विरह-विषाद,
आह, वे दिन! द्वापर की बात, भूति—भारत को ज्ञात।

और यहां कविता समाप्त हो जाती है। पाठक अन्तिम पद्य के असगति से घबराए हुए शब्दो को देखे और 'द्वापर' तथा 'भारत की भूति' मे खो जाने वाली उच्छ्वास की बालिका को भी।

पल्लव मे कुछ कविताए ऐसी भी है जो असंगत तो नही, किन्तु इतनी निर्जीव है कि उनको सगत कहना भी उपहासास्पद प्रतीत होता है। इनमे कभी कभी तो ऐसे छिछले भोलेपन का अभिनय किया गया रहता है कि कवि पर—उसकी प्रवृत्ति पर—दया हो आती है। 'मधुकरी' कविता से एक उदाहरण ले—

सिखा दो ना! हे मधुप कुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान!
कुसुम के चुने कटोरों से
करा दो ना, कुछ-कुछ मधु-पान।
नवल कलियों के धोरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम,
मुदित कवि सी तुम अपना पाठ,
सीखती हो सखि जग में घूम।

इसमे 'ना' शब्द से अनुभूति का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है, जो ओर भी अधिक छिछला हो गया है। दूसरे, इसमे शब्द भी बिखर से रहे हे। प्रथम पद्य की तीसरी पक्ति मे 'चुने' शब्द की क्या सार्थकता है? इसी प्रकार चौथी पक्ति मे 'कुछ कुछ' कितना शिथिल और निर्जीव हो गया है। द्वितीय पद्य की प्रथम पक्ति मे 'धोरे' शब्द का प्रयोग तथा अन्तिम चरण में 'जग मे घूम' कितना निर्जीव और निरर्थक सा है, देखे। वैसे तो इन सब शब्दो का संगत अर्थ लग ही सकता है किन्तु इनकी कोई आवश्यकता न थी। 'चुने' और 'जग मे घूम' तो सर्वथा निर्जीव लोथडे है। ध्यान रहे इसका 'ना' शब्द नगेन्द्र जी को बहुत भाया है।

खैर, छायावाद काल की प्रमुखतम समझी जाने वाली कृति की यह शव-परीक्षा शायद कुछेक को अच्छी न लगे, क्योंकि उन्होंने इस विषय मे प्राय: अच्छी सम्मतिया पढ कर अपनी निष्ठा बनाई हुई होगी। किन्तु न जाने क्यों मुझे इसका इतना ही—अथवा इससे भी कम, जितना मैंने बताया है—मूल्य प्रतीत हुआ। जो भी हो, जिन आधारों पर मैंने इसका मूल्य-निर्धारित किया है, उन्हें स्पष्ट कर दिया है। छायावाद के आधार भूत गुणावगुणो को इसीलिए हमने पृथक ही रख दिया, क्योंकि वे सर्व सामान्य है।

गुंजन

पल्लव मे, चाहे कवि का अनुभूतिगत योग प्रकृति के साथ रहा हो या नही, वह उसके पास ही अधिक रहा; किन्तु गुजन मे मानवीय भावनाएं, सौन्दर्य और महत्व ने उसे अधिक आकर्षित किया। अपने इस विषय के साथ उसकी अनुभूति कहा तक समन्वय बिठा सकी, यह एक दूसरी बात है।

गुजन में प्राय: तीन प्रकार की कविताए हैं, सब से पहिले लगभग पन्द्रह कविताओं में सुख-दुख समन्वय या मानव-महत्व की स्वीकृति है,

दूसरी कक्षा मे लगभग चौदह कविताएँ प्रेयसी के प्रति प्रेम-निवेदन की हैं और तीसरा 'बैच' प्रकृति सम्बन्धी कविताओ का है। इनके अतिरिक्त चार-पांच कविताएं विविध है। इस प्रकार गुजन निर्धारित सीमाओं मे ही प्रायः चला है। अब हम इन तीनों कक्षाओ को क्रमशः देखेंगे।

गुंजन में सुख-दुख समन्वय का काव्य

समन्वय को भारतीय दर्शन और धर्म में सर्वत्र बहुत महत्व मिला है, किन्तु छायावादी काल के इस समन्वय की प्रकृति में उससे बड़ा अन्तर है, जिसे हम पिछले अध्याय 'छायावाद की पृष्ठभूमि में' मे देख आए हैं। समन्वय का यह स्वर इस काल में जितना मुखरित—या अधिक ठीक शब्दों मे, वाचाल—हुआ उतना पहिले कभी नही। सम्भवतः इसका कारण संघर्ष की अधिकता ही था और उससे बच कर स्वप्न-संस्थिति की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति।

किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है, स्वयं पन्त जी की प्रेरणा यह प्रवृत्ति अधिक नहीं, आलोचकों की वह प्रवृत्ति थी, जो जहां कहीं समन्वय के ऐसे पद उद्धृत कर ताड़िया बजा दिया करते थे, जैसे प्रसाद जी के एतत्सम्बन्धी पद काफी प्रसिद्ध हुए। इसी से प्रसाद की ऐसी कविताओं में स्वाभाविकता का जहा सौन्दर्य है वहा पन्त जी की कविताओ मे, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उन्होंने इन्हे लिखने की योजना ही बनाई हो। इसका प्रमाण यह भी है कि इन्होंने ये सारी कविताए इकट्ठी ही जनवरी-फरवरी के महीनों मे बनाई है। प्रसाद में प्रसंगवश ही ऐसे पद मिलते है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह इस समन्वय को स्वर्गीय वरदान समझ कर चाह रहे हों। पन्त जी की इसी कमी के कारण, उन एक-दो पद्यो के अतिरिक्त, जहां उपमा अच्छी बन पड़ी है, सभी कविताए शाब्दिक व्यायाम से अधिक महत्व नही रखती। एक गम्भीर अनुभूति, जीवन में गहरी पैठ, पन्त जी में प्रायः कही

भी नहीं मिलती और इन कविताओं में तो छिछलापन इतना वाचाल है कि उसका छिप सकना सम्भव नही। समन्वय-कक्षा की पहिली कविता से ही एक उदाहरण लें—

शान्त सरोवर का उर,
किस इच्छा से लहराकर, हो उठता चंचल चंचल ?

× × ×

मैं चिर उत्कंठातुर,
जगती के अखिल चराचर, यों मौन-मुग्ध किसके बल ?

पहिले पद्य में एक साधारण प्रश्न है, सरोवर की लहरो मे सजीव हृत्कम्पन का अनुभव यदि अपने हृदय के प्रतीक रूप में हो तब वह कितना प्रभावशाली और सजीव होता है यह टेनीसन के इस पद्य से ही अनुमान लगाया जा सकता है जिसमे वह वायु से मन्द और शीतल वहने को कहता है–

Sweet and low, sweet and low,
Wind of the western sea
Low, low breathe and blow,
Wind of the western sea !
Over the rolling waters go,
Come from the dying moon, and blow.

यहां वायु उसकी किसी भावना का यद्यपि प्रतीक नही है, तो भी यह कविता इतनी सप्राण बन सकी है। किन्तु उपर्युक्त पद एकदम निर्जीव हो गया है। यह हृत्कम्पन का प्रतीक न होकर किसी अज्ञात शक्ति की अभिज्ञा का संकेत भी हो सकता है; उस अवस्था में भी इस जिज्ञासा को अनुभूति से अनुप्राणित नही कहा जा सकता। केनोपनिषद् मे एक ऐसा ही प्रश्न है। किन्तु उसमें कितनी मधुर अनुभूति है ? ऋषि एक सहज जिज्ञासा से पूछता है 'केनेषितंपतति प्रेवेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः,"

अर्थात् "यह मन किससे प्रेरणा पाकर प्रवृत्त होता है ? प्राण किससे समीरित हुआ करते हैं ?" किन्तु हमारे कवि की जिज्ञासा उसकी कविता बनाने की इच्छा से प्रेरित हो रही है। दूसरे पद्य मे 'बल' शब्द लक्ष करने योग्य है, क्योंकि पहिले पद्य मे 'इच्छा' शब्द है। 'बल' शब्द एक विशेष वातावरण की सृष्टि करता है, जो 'इच्छा' की मधुरता से एकदम भिन्न है। वास्तव में कविता के लिए उकसाई गई कवि की अनुभूतियां निरन्तर बिखर रही है ? इसी प्रकार अगली कविता मे—

आत्मा है सरिता के भी,
जिससे सरिता है सरिता,
जल जल है, लहर लहर रे,
गति गति,सृति-सृति, चिर भरिता।

"सरिता के हृदय में भी प्राण है जिससे वह प्रवाहित होती है," इसे इतने चमत्कार से कहा गया है, और आगे भी सारे शब्द इसी ताल पर रख दिए है। इनमे स्पष्ट है कि कवि जी सरिता की प्राण-वत्ता से प्रेरित न होकर वैसे ही साधारण 'मनन' कर रहे हैं। दूसरे, उसको 'जीवन' शब्द के लिए बडी चिन्ता रहती है, यह सारी कविता इसी 'जीवन' से भरी पडी है। इसी प्रकार—

जीवन की लहर लहर से, हँस खेल खेल रे नाविक,
जीवन के अन्तस्तल में, नित बूड़ बूड़ रे भाविक।

यह एक साधारण उपदेश है, जीवन की लहरो से खेलने का उल्लास नही। भाविक, जीवन के अन्तस्तल में क्यो बूडे ? नाविक जीवन की लहरों से क्यों खेले ? इसके लिए जीवन के गौरव और महत्त्व की भावात्मक स्वीकृति आवश्यक है, और वह केवल जीवन के उपकरणों के साथ प्रिय शब्द लगाकर नहीं उत्पन्न हो जाती। इसी कविता का दूसरा पद देखें. (पहिले में सागर का वर्णन है)

यह जीवन का है सागर, जग जीवन का है सागर,
प्रिय प्रिय विषाद रे इसका, प्रिय प्रिआल्हाद रे इसका।

इन चारो चरणों की सार्थकता के विषय मे तो किसी को सन्देह नही हो सकता, किन्तु इनकी निरर्थकता भी नि:सदिग्ध ही रहेगी। विषाद और आल्हाद के प्रति ऐसी सूक्तिया बनाने के लिए पन्त जी की ही क्या आवश्यकता थी, यह तो कोई भी बना सकता था ! इतना दम्भ करने की हिम्मत एक छायावादी कवि को ही हो सकती थी जिसे आलोचको ने सभी प्रमाण-पत्र दे डाले थे। इसी प्रकार एक और पद देखें——

आँसू की आँखों से मिल,
भर ही आते हैं लोचन,
हँस मुख ही से जीवन का
पर हो सकता अभिवादन।

आँसू से सजल आँखें वेदना की जो गम्भीरतम अभिव्यक्ति दे सकती हैं, और उसे अनुभव कर व्यथित हो उठने वाला हृदय जो अनुभूति कर सकता है, इन पक्नियों को देख कर वह लज्जित नही हो उठेगा ? प्रगतिवादियों की कलाहीनता को सहस्र मुखो से फूत्कार कर घोषित करने वाले आलोचक ऐसी दरिद्र कविताओं को कैसे अभिवदित करते रहे, समझ में नहीं आता। पाठको को थकाने के लिए एक-दो उदाहरण मैं और भी दूगा। मानवात्मा प्रकाश की रचना कैसे करती है, देखें——

दुख इस मानव आत्मा का, रे नितका मधुमय भोजन,
दुख के तम को खा खा कर, भरती प्रकाश से वह मन।

'भोजन' और 'खा-खा कर' शब्द कितने अभिव्यजक है, पाठक देखें और कृतकृत्य होवें; सारे पद का समन्वित प्रभाव शायद और भी आह्लादकारक हो। दुख का भोजन कैसा मधुमय होता है, यह पन्त जी ने यहां

नही बताया, खीर सा या हलवे सा ? अथवा मीठी चटनी सा ?? इस "भारवेरर्थ गौरवम्" के पश्चात् "उपमा कालिदासस्य" भी देखें—

सुन्दर विश्वासों से ही, बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज सहज साँसों से, चलता उर का मृदु स्पन्दन।

इसे पाठको की स्वतत्र बुद्धि पर छोड कर ही मै उऋण हो लेना चाहता हूँ। एक-दो अपवादों को छोड कर इस प्रकार की सारी कविताए ही इस निर्जीवता का उदाहरण हो सकती है। अपवादों में कोई कविता नही कोई पद ही हो सकेगा। सोलह कविताओ के इस निर्जीवता दर्शन के पश्चात् अब हम दूसरी कक्षा को देखेगे।

गुंजन में प्रेम-काव्य

गुजन में कुछ प्रेम-गीतो का एक महत्व-पूर्ण स्थान है, क्योंकि प्रायः ये ही सरस और सप्राण बन सके हैं, अथवा गुजन की अच्छी कविताएं प्रायः प्रेम गीत ही है। ये भी सभी अच्छी नही, "भावी पत्नी के प्रति", "तुम्हारी आँखों का आकाश" और "रूप तारा बन पूर्ण-प्रकाश," इत्यादि कुछेक ही अच्छी कविताएं है ? इनमे इंगलिश कवियों का, और कही कही रवीन्द्र की 'अप्सरा' का प्रभाव कहा जाता है, तो भी इनका महत्व कम नही किया जा सकता। किन्तु प्रेम गीतों मे जो एक प्रवेग होता है, वह इनमें प्रायः कही भी नही, गुजन की इन सब से अच्छी कविताओं में भी नीरस पद भरे पडे है।

"भावी पत्नी के प्रति" कविता में बालिका की वयःसन्धि काल की कोमलता, मधुरता, मुग्धता और संभ्रम मूर्त हो उठे है। कवि प्रथम-मिलन मे अपनी निर्बोध और मधुर प्रेयसी के सम्भ्रम की कैसी सजीव उद्भावना करता है, देखें—

अरे, वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप,
जड़ित पद, नमित पलक दृग-पात,
पास जब आ न सकोगी प्राण !
मधुरता में सी भरी अजान,
लाज की छुई मुई सी म्लान,
प्रिये ! प्राणों की प्राण !!

यह पद इस कविता में सब से अच्छा है। इसमें शब्द भी जैसे रुकते से, भ्रमित से और सकुचित से हो हो पडते है। दूसरी, चौथी, छठी तथा सातवी पक्तियो में मुग्धा की विभ्रान्ति जैसे मूर्त हो उठी है। इसी प्रकार निम्न चरणो में—

नवल कलिका सी अस्फुट गात
× × ×
खोल सौरभ का मृदु-कच-भार,
सूँघता हो गा अनिल समोद ।
× × ×
अरुण अधरों की पल्लव प्रात,
मोतियों का हिलता हिम-हास,
इन्द्र धनुषी घट से ढँक गात,
. . . .

यहां कवि की सौन्दर्यानुभूति जैसे रसमज्जित होकर आई हो। समीर का प्रेयसी की बिखरी अलको से सौरभ पी पीकर सालस होना, अर्धस्फुट कोमल गात की प्रथम कलिका से उपमा, दोनों कितनी मधुर

और सुकुमार कल्पनाएं है ? ये उपमाएं और प्रसिद्धियां पुरानी होने पर भी ऐसी सजीव केवल अनुभूति के कारण ही हो सकती है ।

इसी प्रकार 'रूप-तारा तुम पूर्ण-प्रकाम' मे प्रेयसी की सुकुमारता, मजुलता और सब से बढ कर प्रणयी की सौन्दर्य-कल्पना कही कही तो ऐसी सजीव उतरी है कि देखते ही बनता है । एक पद्य देखे—

तारिका सी तुम दिव्याकार,
चन्द्रिका सी झंकार !
प्रेम-पंखों में उड़ अनिवार,
अप्सरी सी लघुभार,
स्वर्ग से उतरी क्या सोद्गार,
प्रणय-हंसिनि सुकुमार ?
हृदय-सर में करने अभिसार,
रजत-रति, स्वर्ण-विहार !

'चन्द्रिका सी झंकार' मे छायावादी सूक्ष्म-गुफन अपनी सब से सफल अभिव्यक्ति कर सका है । चन्द्रिका की तारे कितनी कोमल होती है ? उनमे बजता तन्द्रिल संगीत कितना मधुर होता होगा ?? इसी प्रकार 'अप्सरी सी लघु-भार' में उसकी सुकुमारता और अपार्थिव मजुलता तथा 'प्रेम-पंखों पर उड अनिवार' में उसकी चपलता, मृदुता तथा स्वर्गीयता जैसी मूर्त हो उठी है वैसी अन्यत्र असम्भव नही तो दुर्लभ अवश्य है ।

"तुम्हारी आँखों का आकाश" कविता भी काफी आकर्षक है । अपनी प्रिया की मीन-लोल आँख कितनी मधुर विह्वलता तथा प्रणयानुभूति देती है, कल्पनाएं सौन्दर्य की अनुभूति से कैसे रस-भार-विकल हो उठती हैं यह केवल अनुभव ही किया जा सकता है । पन्त जी ने "खो गया मेरा विहग अजान, मृगेक्षिणि ! मेरा खग अनजान' मे इसे बडी सजीव अभिव्यक्ति की है । एक पद्य इस कविता का देखें—

देख का चिर करुण प्रकाश,
अरुण कोरों में उषा-विलास,
खोजने निकला निभृत-निवास,
पलक-पल्लव प्रच्छाय निवास,
न जाने ले ले क्या अभिलाष,
खो गया बाल विहग नादान !

आकाश के रंग मे एक गंभीर साँवलापन होता है और उसे जितना ही देखते जॉय, वह अधिक गम्भीर और करुण हो उठता है। प्रेयसी की आँखों की असीमता मे खोकर इस करूणा और गँभीर अनन्तता का छोर मिल ही नहीं सकता ! करुणा का अर्थ यहां पीड़ा या संवेदना नहीं, एक गम्भीर साँवलापन ही है। इस कविता में बस एक पद्य और है, किन्तु वह अच्छा नहीं; यह भी उतना उत्कृष्ट नही।

अस्तु, शेष प्रेम-गीत काफी अच्छे नही है। फिर भी "वितरती गृह-वन मलय-समीर" कविता कुछ अच्छी है। इसका एक सब से अच्छा पद्य देखें—

देह में पुलक, उरों में भार,
भ्रुवों में भंग, दृगों में बाण,
अधर में अमृत, हृदय में प्यार,
गिरा में लाज, प्रणय में मान।

इसके शब्द काफी अच्छे हैं; इनमें झंकार है, गति है—इतनी अधिक कि पाठक अर्थों के विषय में सोचे भी नहीं। वैसे इसमें 'चीज़ें' भी सभी 'अच्छी' हैं, किन्तु इनका सम्मिलित प्रभाव उतना सजीव नही। इसके शब्दों का जादू अर्थों पर पहुँचते ही उड सा जाता है। इसी प्रकार एक और चमत्कारपूर्ण पद देखें—

तुम्हारी पी मुख-वास तरंग, आज बौरे भौंरे, सहकार,
चुनाती नित लवंग निज अंग, तन्वि ! तुमसी बनने सुकुमार।

यों उत्प्रेक्षा का यह अच्छा उदाहरण हो सकता है किन्तु अनुभूति की सजीवता यहां भी विशेष नही। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कवि अपनी भावनाओं को बार बार गैस दे रहा हो। पन्द्रह पद्यो की इस कविता में बस ऐसे उत्प्रेक्षाएं ही की गई है, जिनमें यह सब से अच्छी उत्प्रेक्षाओं का पद्य है। इसमे संस्कृत-शैली स्पष्ट है।

'आज रहने दो यह गृह-काज' कविता शेष सब प्रेम गीतो से अच्छी है, उद्धृत चरण तो बहुत ही अच्छा है। प्रथम पंक्ति की कल्पना बहुत अच्छी है किन्तु शेष कविता कुछ विशेष प्रभावशाली नही। एक पद्य देखें—

आज चंचल चंचल मन प्राण
आज रे शिथिल शिथिल तन भार,
आज दो प्राणों का दिन-मान,
आज संसार नहीं संसार,
आज क्या प्रिये ! सुहाती लाज ?
आज रहने दो यह गृह-काज !

यहां 'आज' शब्द छन्द पूरा करने के लिए खूब हाथ लगा है। वास्तव में अनुभूति कहीं उड गई हुई है और पन्त जी ऐसे ही अनुरोध किए जा रहे हैं। तीसरी पंक्ति में 'दिन-मान' शब्द का प्रयोग काफी सुन्दर है। 'आज' यह हमारी ही मादकताओं का दिन है (?) शायद इसका अर्थ हो ! किन्तु चौथी पंक्ति का अर्थ तो हमारे लिए रहस्य ही है। यहां क्या संसार की उपेक्षा की गई है या उस के प्रति विस्मृति प्रदर्शित की गई है ? समझ में नही आता।

'नवल मेरे जीवन की डाल, बन गई प्रेम विहग का वास" इत्यादि कविता मे प्रेम शब्द तो होना ही चाहिए, किन्तु ग्रीष्म मे कोयल का गला जैसे पक जाता है और अतएव उस के स्वर मे वह तीव्रता और मधुरता नही रहती, उसी प्रकार पन्त जी का प्रेम-विहग भी, लगता है, 'खट्टे' आम खा खा कर गला पका बैठा है और अब उसका स्वर निर्जीव हो गया है। आप उसके राग से अवश्य पहचान जायँगे। देखे—

आज मधुवन की उन्मद वात, हिला रे गई पात सा गात,
मन्द्र द्रुम मर्मर सा अज्ञात, उमड़ उठता उर मे उच्छ्वास,
नवल मेरे जीवन की डार, बन गई प्रेम विहग का वास !
मदिर कोरों से कोरक जाल, बेधते मर्म बार रे बार।

'मधुवन की उन्मद वात' से वासन्ती वन-वैभव की सम्भावना होती है और यह ठीक भी है, किन्तु 'पात सा गात' मे पीला पत्ता कँपता हुआ सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार दूसरी पक्ति मे 'द्रुम-मर्मर' की उछ्वास से समता तो ठीक है किन्तु 'उन्मद मधुवाद' जो उछ्वास जगाती है वे सूखे पत्ते के मर्मर से नही होते। 'बार रे बार' में शब्द-सौन्दर्य' दर्शनीय है।

'डोलने लगी मधुर मधुवात' कविता में भी प्रेयसी को ही लक्ष्य किया गया है। इसका एक उदाहरण हम पीछे दे आए हैं; यह सारी कविता उत्प्रेक्षाओ से ही भरी पडी हैं और ये उत्प्रेक्षाए प्राय· सस्कृत-शैली की है। एक पद्य देखें—

तुम्हारी तनु तनिमा लघु-भार,
बनी मृदु व्रतति-प्रतति का जाल,
मृदुलता सिरिसि-मुकुल-सुकुमार
विपुल पुलकावलि, चीना डाल।

"तुम्हारा तनु तनु ही मानो लता-कुंज हो, और सुकुमार मुकुल मानो तुम्हारी मृदुलता ही हो तथा विपुल रोमाली ही मानो झीनी डाल

हो" इत्यादि इसका अर्थ है, जिसे सस्कृत शैली के प्रयोग कहना ही ठीक होगा, क्योंकि इनमें अनुभूति का तो नाम भी नही।

लगभग इतने ही और इसी महत्व के प्रेम-गीत गुजन मे है। इनसे निराश होना ही सम्भव है, क्योकि अच्छी कविताए भी कही कही से अच्छी है।

गुंजन में प्रकृति सौन्दर्य का काव्य

प्रकृति-सौन्दर्य के काव्य का सख्या की दृष्टि से तृतीय स्थान है जब कि पल्वल मे यह प्रथम स्थानीय है। सख्या की दृष्टि से इतनी अधिक होते हुए भी ये कविताए वहा प्रायः निष्प्राण और अतएव गौण है। दो-तीन अच्छे चित्र प्रेम-गीतो मे से ही उद्धृत किए जा सकते है निर्जीवता से गुजन के प्रकृति-चित्र भी बच नही सके, तो भी दो-एक कविताएं इसका अपवाद अवश्य है। इनमे 'नौका-विहार' सब से अच्छी कविता है, और इसमे अनेक बहुत सुन्दर और आकर्षक चित्र है। यदि इसे गुजन की सब से अच्छी कविता कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी, इसमे गगा की क्षीण धारा, सैकत पुलिन, प्रतिबिम्बि ताराकित नभ, चन्द्रिकोज्वल गौरागी-गगा, विकल-कोक और नाव की छपछप, सब जैसे मूर्त हो उठे है। पहिला ही पद्य देखे, इसमे ज्योत्स्ना धवल आकाश-मौन . . और क्षीण धार दुग्ध-सलिला गगा कितनी सजीव और मधुर रूप में चित्रित हुई है—

शान्त-स्निग्ध-ज्योत्स्ना उज्वल,
अपलक-अनन्त-नीरव-भूतल,
सैकत शैय्या पर दुग्ध-धवल,
तन्वंगी गंगा ग्रीष्म-विरल,
लेटी है श्रान्त-क्लान्त-निश्चल।

इसी प्रकार निम्न पद्य मे गगा नारी रूप मे चित्रित की गई है । इतने यथार्थ और सजीव शब्द-चित्र अन्यत्र कम ही उपलब्ध होंगे, सम्भवतः रेखा चित्र भी नही । कुछ ऐसी सूक्ष्मताए होती है जो रेखाओं मे बँधनी कठिन होती है, जैसे निम्न पद्य मे वर्तुल-लहर और साडी की सिकुडन को ऐसी सम्पृक्त उपमा द्वारा रखा गया है कि लहर वास्तव मे वैसी ही प्रतीत होने लगती है; देखे——

लहरे उर पर कोमल-कुन्तल,
गोरे अंगों पर सिहर सिहर,
लहराता तार-तरल सुन्दर
चञ्चल अञ्चल सा नीलाम्बर,
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर
शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी है वर्तुल लोल-लहर ।

यहा गगा अपना रूप खोकर नारी रूप मे चित्रित नही हुई प्रत्युत् दोनो का श्लिष्ट वर्णन यथार्थ और उत्प्रेक्षा को साथ ही बहुत मधुर ढग से अंकित कर सका है । शशि की प्रोज्वल तारो से बीनी वर्तुल लहर का अचल गगा के गोरे अंगों पर कितना सुन्दर लगता है । ज्योत्स्ना-धवल लहरो मे तैरती नाव का भी एक सुन्दर चित्र देखे——

मृदु मन्द मन्द मन्थर मन्थर
लघुतरिणि हंसिनी सी सुन्दर तिर रही खोल पानों के पर ।

और उस श्वेत धारा के पुलिनो पर दूर दूर तक फैली हुई तिर्यक तरु-पंक्ति कितनी मनोहर, कितनी आकर्षक होगी, इसे शब्दों मे नही बाँधा जा सकता, तो भी पन्त जी ने इसे बहुत कुशलता से चित्रित किया है । देखें——

अति दूर क्षितिज पर विटप-माल, लगती भ्रूरेखा सी अराल,
अपलक नभ-नील नयन विशाल ।

इससे अधिक उपयुक्त उपमा और क्या हो सकती है ? भ्रूरेखा से तरु-माल की उपमा देने पर नभ की विशाल नयन से उपमा सहज स्वाभाविक है किन्तु कितनी मधुर भी । अब नौका के धारा के विपरीत लौटने का एक दृश्य देखे, कितना आकर्षक है—

पतवार घुमा, अब प्रतनुभार,
नौका घूमी विपरीत धार,
डांडों के चल-करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेनस्फार,
बिखराती जल में तार-हार ।

यहाँ नौका पानी की ऊपरली तह को चीरती हुई और फेन भँवरो में पूरित करती हुई सी बहुत सजीव रूप मे चित्रित हुई है । शब्द-चयन भी बहुत कलापूर्ण और आकर्षक है; 'चल-करतल-पसार' मे पानी चप्पू से टकरा कर जैसे कल कल कर बिखर गया हो और निचली तह मे चप्पू आगे बढा हो । 'मुक्ता फल फेनस्फार ' मे फेन कुछ छितरा कर शिजित सी और कुछ गम्भीर सी ध्वनि के साथ बहुत आकर्षक रूप में प्रति-ध्वनित हो उठी है । इस प्रकार नदी-नाव-लहर इत्यादि के चित्र इस कविता में बहुत सजीव उतरे है । अब एक विरही कोक का चित्र भी देखे—

वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह-शोक,
छाया की कोकी को विलोक ।

कोकविह्वलता मे अपनी छाया को ही कोकी समझ कर उद्भ्रान्त सा उड़ता-फिरता है, कितनी यथार्थ और सप्राण कल्पना है !

उद्धृत उदाहरणो से स्पष्ट है कि यह कविता बहुत अच्छी है; किन्तु अन्त में इस पर 'दार्शनिकता' का बोझ लाद कर इसे पन्त जी ने डूबने योग्य

बना दिया है, क्योकि यह दार्शनिक उद्भावना अत्यन्त जबरदस्ती की है। एक पद्य देखे—

मै भूल गया अस्तित्व ज्ञान,
जोवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान ।

इसमें जोवन की शाश्वतता अशाश्वतता सम्बन्धी सम्भावनाओ की कल्पना नौका-विहार से ऐसे ही बाँध दी गई है, तो भी यह कविता बहुत अच्छी है इसमे सन्देह नही । ये 'दार्शनिक' पद थोडे मे ही है अत. इनका विशेष महत्व नही ।

इसके पश्चात् 'एक-तारा' कविता का स्थान होना चाहिए, यद्यपि वह इसके अनुपात मे कुछ भी अच्छी नही । तो भी कुछेक चित्र तो अच्छे है ही । इस के शीर्षक से ही जैसा कि स्पष्ट है, यह रात्रि के प्रथम-प्रहर के समय का चित्र है और तारे को इस चित्र का मूल केन्द्र रखा गया है । रात्रि के प्रथम-प्रहर का एक आकर्षक-चित्र देखे—

अब हुआ सान्ध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व-हीन,
गंगा के चल-जल में निर्मल,
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल,
है मूंद चुका अपने मृदु दल ।

जल में प्रतिबिम्बित अस्तमित सूर्य की रक्तोत्पल से उपमा कितनी कवित्वपूर्ण है ! एक चित्र और लें—

नीरव-सन्ध्या में प्रशान्त,
डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त,
पत्रों के आनत अधरों पर, सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर ।

खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजंग सा जिह्वक्षीण ।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
संध्या प्रशान्त को कर गंभीर ।

इन पद्यो मे रात्रि के प्रथम प्रहर का सौन्दर्य अपनी पूर्ण नीरवता और उदासी के साथ चित्रित हुआ है । झीगुर का स्वर 'संध्या प्रशान्ति को गँभीर' कर तीव्र हो रहा है; इसमे कवि की सूक्ष्म पकड का पता चलता है । इस प्रकार के एक-दो चित्र और भी इस कविता मे देखे जा सकते है, किन्तु शेष कविता मे दार्शनिक 'आरोप' ही भरे पडे है । इसमें कवि की अपनी अनुभूति भी हो सकती है किन्तु यह अनुभूति कविता के लिए पर्याप्त परिपक्व नही, अभी अर्ध-भुक्त ही है । इनमे तारक पर अपनी दार्शनिकता का आरोप किया गया है और तारक इसे वहन करने को प्रस्तुत नहीं हो सका । एक पद्य देखे—

क्या उसकी आत्मा का चिर-धन, स्थिर अपलक नयनों का चिन्तन ?
क्या खोज रहा वह अपनापन ?

प्रकृति के किसी पदार्थ की व्यक्तित्व-कल्पना प्राय: सभी कवियो ने की है और वह इस प्रकार बहुत सुन्दर बन पड़ी है; मेघदूत तो बना ही इस आधार पर है, किन्तु वह पदार्थ जब तक एक सजीव व्यक्ति के रूप में हमारी भावनाओं मे उतर नही आता, तब तक उस को कुछ सोचते या अनुभव करते कल्पित करना भी हमारे लिए गम्य नही हो सकता । तारक एक सीमित प्रकाश बिन्दु है, इस अवस्था मे उसकी व्यक्ति रूप में कल्पना अधिक सहज और स्वाभाविक हो सकती है, किन्तु पन्त जी उसे सजीव रूप में चित्रित करने मे सफल नहीं हो सके; प्रसाद जी ने एक स्थान पर कामायिनी में रात्रि को एक सजीव व्यक्ति रूपेण देखा है और उसका

सोचना, ठिठकना, हंसना इत्यादि सब इतने स्वाभाविक और सहज गम्य है कि हम सहज ही उस से अपना समन्वय बिठा लेते है —

विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी, रजनी तू किस कोने से,
आती चूम चूम चल जाती पढ़ी हुई किस टोने से,
किस दिगन्त रेखा में इतनी, संचित कर सिसकी सी सांस,
यों समीर मिस हांफ रही सी, चली जा रही किसके पास,
विकल खिलखिलाती है तू क्यों, इतनी हँसी व्यर्थ न बिखेर,
तुहिन-कणों, फेनिल लहरों में, मच जावेगी फिर अंधेर,
घूँघट उठा देख मुसक्याती, किसे ठिठकती सी आती ?
विजन गगन में किसी भूल सी, किसको स्मृति पथ में लाती ?
पगली, हांकि सभाल ले कैसे, छूट पड़ा तेरा अंचल ?
देख बिखरती है मणिराजी, अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या, ओ यौवन की मतवाली ?
देख अकिंचन जगत लूटता, तेरी छवि भोली भाली।

इन पद्यो मे रजनी कभी उदास, कभी हंसती हुई, कभी उच्छ्वास भरती हुई, भिन्न भिन्न अवस्थाओं में चित्रित हुई है किन्तु किसी में भी हम उस का साथ नही छोड़ पाते, हम सहम कर उसी के उन्मत्त अभिसार की ओर देखते रहते है। किन्तु पन्त जी के तारक में हमें आत्मा के चिर धन की कल्पना पृथक् करनी पड़ती है और इसी प्रकार बिना किसी व्यक्तित्व कल्पना के ही तारक की आँखो को भी स्वीकार करना पड़ता है। और यहा तो कवि तारक को उसके अपने ऊपर ही छोड कर उसके लिए यह कहने लगता है। मेघदूत में भी कवि मेघ को उसके अपने रूप में रख कर ही उस पर सजीव व्यक्तित्व का आरोप करता है किन्तु उसका सारा वर्णन ही उपमा और रूपको के आधार पर यथार्थ और अनुभूति का सम्मिश्रण है। और वहां मेघ उसी प्रकार प्रलम्बित होता, स्तनित करता तथा

अन्य क्रियाएं करता चित्रित हुआ है जैसे साधारण मेघ; उसका अपना सौन्दर्य ही वहां इतना सजीव है कि उसके देखने और अनुभव करने की उत्प्रेक्षाएं साथ साथ सहज ही गम्य हो गई है। यहां तारक छूट ही गया है और कवि के विचार अभुक्त भावना के रूप में ही अभिव्यक्ति के लिए बाध्य हो गए हैं। यदि कवि के हृदय में तारक के अपने सौन्दर्य के लिए अनुभूति होती तब ऐसी किसी कल्पना को अवकाश ही न था, और यदि उसकी अनुभूति आत्मकेन्द्रित होकर तारक की ओर उन्मुख हुई थी तब तारक को भी प्रसाद की रात्रि के समान या मेघदूत के मेघ के समान सजीव व्यक्तित्व अथवा आत्माभिव्यक्ति का सजीव व्यक्तित्व रूप माध्यम होना चाहिए था। दोनो के अभाव मे यह न कविता ही रही और न 'दर्शन' ही। इसी प्रकार का एक और उदाहरण एक तारा कविता से लें—

रे उडु! जलते क्या प्राण विकल, क्या नीरव नीरव नयन सजल,
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल।

इस पद्य में निर्जीवता और असंगति अधिक मुखर है। यहां सम्भवतः निसंग-जीवन की व्यर्थता का प्रतिपादन है, किन्तु ऐसा कहने की आवश्यकता उसे क्यों पडी अथवा इसका यहाँ प्रसग कैसे जुड़ा, समझ मे नहीं आया; क्योंकि पहिले पद्य में ही वह रवि-शशि उडुगन को आकाक्षा से र्तित देखता है और इस पद्य में भी 'उडु' मे जलते प्राण और सजल नयनों की उत्प्रेक्षा करता है। वह चाहे मूक हो या एकाकी, ज्वलित-प्राण तो वह आसक्त होकर ही हो सकता है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि 'निसंग जीवन व्यर्थ है अतः यह जलन तेरे जीवन को सार्थकता ही देती है', किन्तु यह खीचातानी प्रतीत होती है।

इस प्रकार यह कविता तीन-चार सुन्दर प्रकृति-चित्रों के पश्चात् इस दर्शन गहन में फँस जाती है और तब इसका कुछ भी अर्थ नही रह

जाता। इस तरह उत्प्रेक्षाए ओर आरोप करने की प्रवृत्ति पन्त जी में सहज लभ्य है।

यही 'दार्शनिक-प्रवृत्ति' हम उनकी चॉदनी कविता मे भी देखेगे, यद्यपि कम मात्रा में। गंभीर अनुभूति के बिना कविता का कोई अर्थ नही हो सकता। जब कवि स्वयं सौन्दर्यानुभूति से अनुप्राणित नही है तो वह केवल शब्दो की झंकार से पाठक को सौन्दर्यानुभूति में परि प्रोत कर लेने की बात क्यों सोच लेता है? पन्त जी की यह कविता भी पाठक के विश्वास को छलने का व्यर्थ प्रयास है। एक पद्य देखे—

> वह है, वह नहीं, अनिर्वच,
> जग उसमें, वह जग मे लय,
> साकार चेतना सी वह,
> जिसमे अचेत जीवाशय।

इसमें पहिले चरण की 'सार्थकता' अनिर्वच होने से हम दूसरे चरणो से ही आरम्भ करेंगे। इनमे निरर्थक पद तो कोई नही है किन्तु 'जग उस मे वह जग मे लय' इत्यादि में कुछ और न कहने को होने से जबरदस्ती मात्र है। तीसरी और चौथी पंक्ति तो बिल्कुल ही चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास मात्र है। यहा वह न तो चॉदनी का सौन्दर्य ही वर्णन कर रहा है और न उसका अनुभूतिगत प्रतिफलन। इस चरण का अर्थ होगा "वह ऐसी साकार चेतना है जिसमे जीवाशय अचेत पडा है", पाठक जरा चाँदनी से इसका मेल तो बिठाएं! एक पद्य इसी प्रकार और लें—

> झंकार विश्व-जीवन की,
> हौले हौले होती लय,
> वह शेष, भले ही अविदित,
> वह शब्द मुक्त शुचि आशय।

इसमें भी तीसरा चौथा चरण उलट बाँसी है। विष्णु सहस्रनाम इससे कहीं अधिक सरस है। "वह चाहे अविदित हो किन्तु शेष है" का क्या अर्थ हुआ ? विश्वजीवन की वह ऐसी झंकार है जो धीरे धीरे लय (आत्मा मे या परमात्मा मे) हो रही है, किन्तु अज्ञात होने पर भी वह शेष है, निःशेष नही (?)", कुछ समझ मे नही आता इसका क्या अर्थ होगा। यदि इस का यही अर्थ है जो हमने लगाया है तब तो इसको सार्थक नही कहा जा सकता और यदि कोई सार्थक अर्थ निकल भी आए तो भी उसकी सार्थकता को सराहा नही जा सकेगा, वह काव्य नही हो सकेगा। इसी प्रकार चतुर्थ चरण मे उसे (चाँदनी को) शब्द-युक्त शुचि-आशय कह कर किस आध्यात्मिक अवगुंठन का उद्घाटन किया गया है, समझ में नही आता। वास्तव मे पन्त जी को दार्शनिक कहलाने की बडी आकाक्षा है, जैसा कि इन कविताओं से प्रतीत होता है। एक और असगत पद्य देखे—

वह स्वप्निल शयन मुकुल सी,
है मुँदे दिवस के द्युति-दल,
उर में सोया जग का अलि,
नीरव जीवन गुंजन-कल।

चन्द्रिका की उपमा उस मुकुलित पुष्प से देना जिसमे भ्रमर बन्द हो, नितान्त असगत है, उसकी उपमा उस विकसित श्वेत कमल के पराग से दी जा सकती है जो सर्वत्र विकीर्ण हो रहा है। पन्त जी ने तो बड़ी दुरूह कल्पना की है। इस पद्य को हम गद्य में बदल कर इस की दुरूहता को स्पष्ट करेंगे। "चाँदनी मानो एक मुकुलित पुष्प है और दिवस का प्रकाश उसके मुँदे पल्लव, उन पल्लवो मे मानों विश्व-भ्रमर बन्द सोया हो।" चाँदनी, जो स्वयं एक विकसित प्रकाश है, उसकी कल्पना बन्द फूलसे करने को कहना और दिवस के प्रकाश को, जो उसका विरोधी है, उसके पल्लव कहना कितना असगत है, इसे पाठक देख सकते है। यदि चाँदनी के स्थान

पर रात्रि का वर्णन होता, तब ये उपमा या रूपक ठीक हो सकते थे। किन्तु पन्त जी को, प्रतीत होता है, अपने पाठकों पर बहुत विश्वास है।

गुञ्जन की शेष (विविध) कविताएँ

प्रकृति-सौन्दर्य की प्राय सभी मुख्य कविताओ को देख लेने के पश्चात्, अब हम गुजन की अन्य (विभिन्न) कविताओ को देखेंगे। इनमे दो-तीन कविताए अच्छी है, किन्तु एक महाकवि मे हम कुछ अधिक माँगने का भी अधिकार रखते हैं। ये अच्छी कविताए भी इस कोटि की नही कि उन्हे किसी महाकवि का अनिवार्य विशेषण दिया जाय। खैर, अब हम क्रमशः इन्हें देखेगे और यथासम्भव ठीक ठीक मूल्यांकन का प्रयास करेंगे।

हमारी इन आलोच्य कविताओं में 'अप्सरा' का स्थान सर्वोपरि है, यह गुजन की प्रथम श्रेणी की कविताओं में से एक है। अप्सरा की कल्पना भारतीय साहित्य और पुराणों मे सौन्दर्य की साकार प्रतिमा के रूप में की जाती है। इसके माधुर्य, सौकुमार्य तथा उन्मुक्त और स्वच्छन्द सौन्दर्य से हमारा सम्पूर्ण साहित्य अनुप्राणित है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'अप्सरा' कविता मे इस सौन्दर्य और सौकुमार्य को और भी प्रांजल पूर्णता दी है। पन्त जी इसको इतनी पूर्णता तो नही दे सके तो भी काम तो चल ही जाता है। कुछेक पद्य तो काफी अच्छे हैं; एक उदाहरण लें—

तुहिन बिन्दु में इन्दु रश्मि सी, सोई तुम चुपचाप,
मुकुल शयन में स्वप्न देखती, निज निरुपम छवि आप,
चटुल लहरियों से चल चुम्बित, मलय-मृदुल पद-चाप,
जलजों में निद्रित मधुपों से, करती मौनालाप,
नील रेशमी तम का कोमल, खोल-लोल कच-भार,
तार तरल लहरा लहरांचल, स्वप्न-विकच स्तन-हार,

शत भावों के विकच दलों से, मंडित एक प्रभात,
खिली प्रथम-सौन्दर्य पद्म सी, तुम जग में नवजात,
भृंगों से अगणित रवि शशि-ग्रह, गूँज उठे अज्ञात,
जगज्जलधि हिल्लोल विलोड़ित, गन्ध-अन्ध दिशि-वात।

इन पंक्तियों मे अप्सरा का रूप और प्रभाव-वर्णन, दोनो ही बहुत आकर्षक चित्रित हुए है। उसके अंगो को छूकर वायु का गन्ध अन्ध हो उठना तथा स्वप्न-विकच स्तन-हार इत्यादि का उस के वक्ष पर झलकना उसकी सुषुमा को इतना मूर्त बना देते है कि हमारे लिए वह सहज गम्य हो जाती है और हम उसके अलौकिक सौन्दर्य से अभिभूत हो उठते है। किन्तु ऐसे पद्य भी इस कविता में है और बहुत अधिक सख्या मे जो काफ़ी अच्छे नही अथवा नीरस और अप्सरा शीर्षक के अनुपयुक्त है, जैसे—

दन्त कथाओं से अबोध शिशु, सुन विचित्र इतिहास,
नव-नयनों में नित्य तुम्हारा, रचते रूपाभास,
प्रथम रूप मदिरा से उन्मद, यौवन मे उद्दाम,
प्रेयसि के प्रत्यंग अंग में लिपटी तुम अभिराम।
युवती के उर में रहस्य बन, हरतीं मन प्रतियाम।
मृदुल-पुलक-मुकुलों से लदकर, देह-लता छवि-धाम।

इन पद्यों से स्पष्ट है कि पन्त जी अप्सरा को विभिन्न प्रतिबिम्बो में देख रहे है और इसके लिए शैली उन्होने प्राय. वर्णनात्मक-सी अपनाई है, जैसे 'प्रेयसी' के प्रत्यंग-अंग मे लिपटना, युवती के मन में रहस्य बन लुभाना तथा दन्त-कथाओ के आधार पर शिशु का निज नयनों में उसकी रूप रचना करना इत्यादि विभिन्न और भिन्न प्रतिबिब है, इनसे पहिले और पश्चात् भी यही स्तोत्र चल रहा है। वास्तव में वर्णनात्मक शैली या अप्सरा

को सौन्दर्यानुभूति या 'तत्व'* के रूप में देखना कोई बडी कमी नही, किन्तु एसी कविताओं मे यह शैली उपयुक्त नही रह सकती। इससे अनुभूति का आवेग सहज ही छिछला जाएगा, ऐसी शैली तो आख्यान-काव्यों मे ही उपयुक्त रह सकती है। इसी प्रकार उसे सौन्दर्यानुभूति या तत्व के रूप मे दिखाना उसकी साकारता को शून्य में विलीन कर देगा। इसके अतिरिक्त तीव्र चलता हुआ छन्द और एक एक चरण या पद मे विभिन्न विशेषणो की दौड भी उसके सौन्दर्य में मादकता, सम्भ्रान्तता और प्राजलता नही रहने देती और न उसके आकार को ही स्पष्ट होने देती है। सौन्दर्य वर्णन में विभिन्न-चरणों को आनुक्रमिक रूप में विशेषणों, उपमाओ, या चित्रों के साथ आना चाहिए, और यदि छन्द में एक गम्भीरता तथा मंजुल सालसता भी हो तब तो ऐसी कविता बहुत उत्कृष्ट कोटि की हो जाती है, जैसे रवि बाबू की 'अप्सरा' कविता। प्रसाद के आँसू मे भी रूप वर्णन है और वहाँ छन्द तीव्र है, किन्तु यथावश्यकता उसमे श्लथ मन्दना भी आई है और तीव्रता के समय तीव्रता भी। जैसे सद्यः स्नाता का एक चित्र लें—

बांधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से,
मणिवाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से।

इसमें छन्द तीव्र है अतः इसमें चटकीला वर्णन बहुत सजीव रह सकता है, इसमें दोनों चित्र सम्पृक्त और पूरक से हैं, इसी से यह पद्य अच्छा है। रवीन्द्रनाथ का भी एक चित्र देखें जो 'अप्सरा' के अधिक निकट है; विजयिनी पर मध्यान्ह का आलोक पड़ता है—

तारि शिखरे शिखरे
पड़िल मध्यान्ह रौद्र-ललाट अधरे.

* तत्व से हमारा अभिप्राय सौन्दर्य-तत्व से है।

उरु परे, कटि तटे, स्तनाग्र चूड़ाय,
बाहु जुगे,—सिक्त देहे रेखाय रेखाय
झलके झलके ।

यहाँ छन्द भी चित्र के प्रभाव मे सहायक होता है किन्तु पन्त जी की 'अप्सरा' कविता का छन्द उपयुक्त नही। कही कही वैसे भी काफी असगति है, एक उदाहरण ले—

कभी स्वर्ग की थी तुम अप्सरि,
अब वसुधा की बाल ।

इसका क्या अर्थ होगा ? पता नहीं, क्योंकि पहिले ही पद में उसे अब भी स्वर्ग-छोरों में 'नाग-दन्त-पुल-पार' करते देखा गया है; यदि उद्धृत पद को अकेले—निरपेक्ष—भी देखा जाय, तो भी उसके भूत और वर्तमान मे जो अन्तर डाला गया है वह क्यों ? कही यहाँ भी सुन्दर विहग, सुमन-सुन्दर "मानव तुम सब से सुन्दरतम" की भावना तो कार्य नही कर रही? अस्तु, एक पद और देखें, उसके सौन्दर्य-वर्णन के नवीन से नवीन प्रसाधन—

तुम्हें खोजते छायावन में, अब भी कवि विख्यात,
जब जग जग निशि-प्रहरी जुगनू, सो जाते चिर-प्रात,
सिहर-लहर, मर्मरकर तरुवर, तपक तड़ित अज्ञात,
अब भी चुपके इंगित देते, गूंज मधुप कवि-भ्रात ।

यहाँ 'चिर' विशेषण का क्या अर्थ है ? 'अब भी कवि-विख्यात' में 'अब' शब्द भी ध्यान देने योग्य है, इसका अर्थ क्या यह है कि 'वे रात्रि को भी जुगनुओं के साथ तुम्हें खोजते रहे !' कवि का 'विख्यात' विशेषण भी दर्शनीय है। भ्रमरों का 'कवि-भ्रात' विशेषण भ्रमरो को ही नही कवियों को भी 'सार्थकता' देता है; 'तड़ित तपक कर' इगित करती है, यहाॅ कवि जी अनुप्रास पर ही रीझ गए; किन्तु, ये दोनों ही शब्द कर्कश—अर्थ मे भी—है,

इसे वे भूल गए। तीसरी पंक्ति मे बड़ी तेजी से तीन कार्य करवा लिए गए है, अतः हमारा मलिन दर्पण इन्हे प्रतिबिम्बित नही कर पाता।

इस से स्पष्ट है कि 'अप्सरा' कविता में अनेक पद्य अच्छे नही है। फिर भी साधारणतः यह कविता अच्छी है। एक बात और भी ध्यान मे रखनी आवश्यक है कि पन्त जी पहिले रवीन्द्र की 'अप्सरा' कविता पढ चुके है।

'लाई हूँ फूलों का हास' इत्यादि कविता भी गुजन की उत्कृष्ट कविताओं मे से एक है। इसमे केवल पाच छोटे छोट पद्य है और उल्लास तथा चपल सौन्दर्य-समृद्धि से भरे हुए। यहाँ प्रकृति यौवन-मद-विह्वला और अपने ही सौन्दर्य और समृद्धि में इठलाती हुई बहुत ही आकर्षक बन गई है। एक-दो पद्य देखें—

फैल गई मधु ऋतु की ज्वाल,
जल जल उठती बन की डाल,
कोकिल के कुछ कोमल-बोल,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
विरल जलद-पट खोल अजान,
छाई शरत् रजत मुसकान,
यह छवि की ज्योत्स्ना अनमोल,
लोगी मोल, लोगी मोल ?

इनमे प्रत्येक चरण दूसरे के लिए भूमिका बाँधता है और इस प्रकार शृंखला बहुत प्रभावित करती है, इससे चित्र पूरा उतरता है। अल्हड बालिका के ठिठोली भरे गीत के समान शब्द उल्लसित और हास-विव्हल से, पद्य उछल उछल कर चलते और कुछ कुछ दौड़ते हुए से बहुत ही सुन्दर और मधुर है। यहाँ आकृति की ओर कहीं संकेत नहीं किन्तु

सहज ही हमारे सम्मुख एक बडी सुन्दर, अल्हड और कोकिल-कण्ठी तथा कल-हासिनी बालिका की आकृति आ उपस्थित होती है।

पन्त जी सूक्ष्म और मधुर कल्पना तथा कला के कवि रूप मे बहुत प्रसिद्ध हुए हैं; उनका व्यक्तित्व तो अवश्य लज्जा भीरु, कोमल-कोमल तथा पुलक-पुलक सा होगा, किन्तु व्यक्तित्व की सजीवता ही इन सब को भी आकर्षक बना सकती है, और दुर्भाग्यवश इस गुण का इनकी कला मे प्राय. अत्यन्ताभाव है। कुछेक स्थलो पर यदि वे सफल भी हुए है तो भी अनुभूति की निर्बलता के कारण सारी कविता में उसे सभाल नही सके। एक उदाहरण लें; निम्न पद्य बहुत मधुर और सूक्ष्म है—

नीरव-तार हृदय में,
गूंज रहे मंजुल लय में,
अनिल-पुलक से अरुणोदय में।

इसमें उपमा की सूक्ष्मता और मधुरता दोनों ही दर्शनीय हैं, यह इतनी उपयुक्त है कि 'हृदय मे नीरव तारों की झंकृति' की प्रकृति को और कोई उपमा इतनी सजीवता और पूर्ण नाप-तौल के साथ अभिव्यक्त कर पाती, इसमे सन्देह है। किन्तु इसी के शेष दो पद्य क्रमशः नीरस और असंगत भी होते चले गए है। अन्तिम पद्य देखे—

नित्य कर्म पथ पर तत्पर धर
निर्मल कर अन्तर,
पर-सेवा का मृदु पराग भर,
मेरे मधु-संचय में।

पहिले पद्य की ध्वनि स्पष्टतः यह न थी, पर सेवा के पराग की प्रार्थना के लिए अरुणोदय में अनिल-पुलक से मंजुल-लय से नीरव-तार नहीं गूंज रहे थे। सम्भव है पन्त जी को उनके गूजने का भ्रम ही हुआ हो!

अस्तु, हमने प्राय. सभी गुजन की कविताओ को देखा और मूल्यांकन का प्रयास किया ; अब हम नितान्त निरर्णक या निष्प्राण दो एक कविताओं के उदाहरण देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। एक प्रार्थना का पद्य देखें और यदि आर्य समाजियो का 'हे दयामय हम सबो को शुद्धताई दीजिए' इत्यादि गीत ख्याल हो तो इससे मिलाएँ और अन्तर और समता देखे--

मेरा प्रतिपल सुन्दर हो,
प्रति दिन सुन्दर सुखकर हो,
यह पल पल का लघु जीवन
सुन्दर, सुखकर, शुचितर हो !

इसमें एक ही बात एक ही शब्द में कही गई है; पन्त जी का ख्याल है कि शायद शब्द ही भावना है--जहां 'जीवन' शब्द प्रयुक्त है वहाँ सजीवता तो होगी ही, 'मासल' शब्द के होने से मांसलता की कमी कौन कह सकता है ? और जब सुन्दर, सुखकर और शुचितर शब्द यहाँ हैं तब कविता अवश्य ही ऐसी होनी चाहिए ! सम्भवत: इसीलिए उन्होंने ऐसे शब्दो का अधिक प्रयोग किया है। यह एक दुखद सत्य है कि ऐसी निरर्थक, निर्जीव और असुन्दर कविताएँ हिन्दी साहित्य में ही हैं। हिन्दी-काव्य का उपहास उडाने वाले लोग पन्त जी की ही कविताएँ प्राय: उद्धृत किया करते है और उन्हे इनके मात्रा मे महान् काव्य मे ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं। अस्तु, अब उनका गीत-संचरण भी देखे, कैसा सुन्दर, सुखकर और शुचितर है--

चींटियों की काली पाँति, गीत मेरे चल-फिर निशि-भोर।
लोल लहरों से यति-गति हीन, उमड़-बह, फैल अकूल-अपार।

इसे मैं पाठकों की स्वतत्र सम्मति पर ही छोड़ता हूँ, क्योंकि मेरा विश्वास है कि इस पर भिन्न मत नही हो सकते, इसमें अनुभूति की निर्जीवता ही नही बुद्धि की यति-गति-हीनता भी स्पष्ट है।

अस्तु, गुजन का यह अन्तिम गीत है और इसके साथ ही हम भी गुजन की आलोचना का उपसंहार करते है। हमारी आलोचना से स्पष्ट है कि गुजन पल्लव से कुछ उत्कृष्ट होता हुआ भी सामान्यतया उत्कृष्ट काव्य-संग्रह नही। इसमे पन्त जी उपदेश पर अधिक उतर आए है। उन्होंने नव-युग का गायक बनने की सहज-लालसा से प्रेरित हो, उस समय के प्रचलित सिद्धान्तों और वादों को पकडने का प्रयास किया; सुख-दुख समन्वय की इतनी लम्बी तान और मानवीय सौन्दर्य की इतनी निर्जीव कथा छेडी है कि पाठक ऊब उठे और ये समझते रहें कि शायद यही घनीभूत होकर रसोत्पत्ति कर सकेंगे। यही 'जीवन के अभिनन्दन' की भी कथा है।

गुजन, छायावादी पन्त की अन्तिम काव्य-कृति है, इसके पश्चात् ज्योत्स्ना नाटिका लिखी गई, किन्तु उसके विषय मे कथनीय हम पीछे ही कह चुके है।

युगान्त—एक श्रृंखला

जैसा कि हम गुजन मे ही सकेत कर आए है, पन्त जी अब बडी उत्सुकता से नवीन वादों को पकड रहे है। युगान्त में यह और भी स्पष्ट हो गया है। युगान्त नाम से ही, जैसा कि स्पष्ट है, उन्होने छायावादी काव्य-धारा से सम्बन्ध-विच्छेद किया है, किन्तु युगान्त किसी भी पहलू से एक प्रगतिवादी कृति नही—उसका कोई चिन्ह भी नही। यह गुंजन और ज्योत्स्ना मे कार्यशील प्रवृत्तियों का ही विकास है और वास्तव में 'प्रगतिवादी' पन्त की कुछ अशत भूमिका भी, इसमे वह 'नवीन' की ओर आशा और उत्साह से देखता है और पुरातन को एक निर्जीव तथा जड पथावरोध के रूप में। युगान्त के पहिले ही गीत मे वह माँगता है—

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे त्रस्त-ध्वस्त, हे शुष्क-शीर्ण,
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत, तुम वीत राग, जड़, पुराचीन।

नवीन से उसे आशा है क्योकि मनुष्य की शक्ति और सत्प्रवृत्ति पर उसे विश्वास है। "मनुष्य"! वह सोचता है "क्या नही कर सकता?" और तब वह उसकी शक्ति और सौंदर्य के गीत गाने लगता है। किन्तु मानव-जग आज जड़ बधनों मे जकडा हुआ कराह रहा है, अतएव वह उसी की जागृति की कामना करता है। कोई भी वस्तु उसी अंश तक उसे प्रिय है जहाँ तक वह मानव के लिए कल्याणकारी है, इसी से वह कोयल से मधुर नही, आग्नेय गीत गाने को कहता है, क्योकि उसे विश्वास है कि इसी से नवीन मानवता का जन्म होगा—

गा कोयल, बरसा पावक कण,
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बन्धन,
पावक-पग धर आए नूतन,
हो पल्लवित नवल मानव-पन।

और वह विश्वास करता है कि यह नवोदित मानवता अखण्ड और अविभाज्य होगी, उसमें राष्ट्र, जाति तथा वर्गगत भेद नही रहेगे। वह तो सोचता है, "मनुष्य का परिचय क्या 'मनुष्य' शब्द ही काफी नही ?' वह अमर-शाश्वत जोति है, उसका विभाजन क्या मिथ्या और कृत्रिम नही ?" ऊर्ध्वोन्मुख मानवता ! तुम्हारा अभिनव सौन्दर्य-ज्योति के साथ उदय हो। (यह पूंजीवादी विचारधारा ही है !)—

गा कोकिल सन्देश सनातन !
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन,
वह न देह का नश्वर रज-कण,
देश-काल है उसे न बन्धन,
मानव का परिचय मानव-पन।

वह जड़वाद से अभिभूत मानवता का परित्राण चाहता है, क्योंकि इसी से आज ये युद्ध-गर्जनाएँ, उत्पीड़न और अत्याचार दिखाई पडते हैं, मानवात्मा आज जड-बन्धनों मे कराह रही है, उसका परित्राण आवश्यक है—

जड़वाद जर्जरित जग में,
अवतरित हुए आत्मा महान,
यन्त्राभिभूत जग में करने,
मानव-जीवन का परित्राण।

(बापू के प्रति)

आज वह संध्या-उषा, वसन्त-पतझड़ सभी को मानवीय-महत्व मे रंग कर देखता है; यदि इनसे मानवता सौन्दर्य-प्रेरणा, शक्ति और उपदेश नही पा सकती, तो इनका कोई लाभ नही; आज उसके लिए मानव ही प्रधान है—वही एकमात्र महत्त्व है, उसी का सौन्दर्य गेय है। विहगो का भी उपयोग वह श्रम-जीवियो के निरस्त जीवन को नव प्रेरणा-दाता के रूप मे ही देखता है—

आः, गा गा शत शत सहृदय खग,
भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली है जिनकी रग रग।

इस प्रकार युगान्त मे प्रायः सर्वत्र मानवता के नव-युग का ही आह्वान है, किन्तु यह पूजीवादी मानवतावाद और उदारतावाद से अधिक कुछ नही। उसके विचार में श्रम-जीवी यत्रवाद और जडवाद के कारण ही दुखी है, पूजीवादी अर्थ प्रणाली के कारण नही; और सहृदय खग अपने मधुर संगीत से उनमें एक नवीन सौन्दर्य-बोध और कला-चेतना का आनन्द सृजन करते है, कवि के लिए भी इतना ही क्या पर्याप्त नही ? पूजीवादी उदारतावाद बस इतना ही आगे बढता है। इनका मानव भी भाव-वाचक सज्ञा है और अतएव नव मानव-युग का अर्थ उनके अनुसार नवीन 'चेतना' और आध्यात्मिक उद्बोधन ही है। पुरातन को वे इसलिए मिटाना नही चाहते कि इसमें शोषण, अत्याचार और असमानता थी प्रत्युत् इसलिए कि उसमें वे ऐसे बंधनों का अनुभव करते थे जिन्हे वे जड़वाद-जनित समझते हैं, और उनके विचार मे वे आध्यात्मिक चेतना के साथ ही तिरोहित हो जाएँगे। इसका कारण स्पष्टतः परिस्थितियों को ठीक न समझना ही है। जाति, वर्ण और राष्ट्रों के विभाजन को भी वह जड़वाद और मनुष्य की संकुचित बुद्धि का ही परिणाम समझता है। संक्षेप में वह Trusteeship को स्थान देना चाहता है। इसी से वह प्रायः नवयुग का अर्थ

आध्यात्मिक उत्थान समझता है। इस 'यंत्रवाद' या जड़वाद से घबराए हुए बहुत से पूजीवादी चिर पुरातन (सभ्य पूर्व) युग के समान ही 'निश्छल' 'निर्द्वन्द्व' (?) 'स्वच्छन्द' और निर्बन्ध मानवता का युग देखना चाहते है, (जिसमें वह बुद्धि से भी स्वतंत्र था) किन्तु सौभाग्य से (?) पन्त जी यहाँ लारेंस, सात्रे इत्यादि से भिन्न नवचेतना और अधिक विकसित भावना का युग देखना चाहते हैं—विस्मृति का नही; तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि उनका यह विकास भौतिक स्तर पर क्रियात्मक और विषय प्रधान Objective नही, आध्यात्मिक स्तर पर निष्क्रिय और द्रष्टा (विषयी) प्रधान Subjective होगा। इसी से 'बापू के प्रति' कविता मे वे लिखते हैं—

विश्वानुरक्त हे, अनासक्त !

तथा

तुम मांसहीन, तुम रक्तहीन,
तुम अस्थिशेष, तुम अस्थि हीन,
तुम शुद्ध बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण, हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भव-शून्यलीन,
आधार अमर होगी जिस पर
भावी की संस्कृति समासीन ।

इन पद्यों से स्पष्ट है कि पन्त जी सूक्ष्म आध्यात्मिक प्रकाश के प्रतीक गाँधी जी के द्वारा (उन गाँधी जी के द्वारा नही जो सदैव लोक-कल्याण में तत्पर रहे) एक ऐसी सस्कृति की स्थापना चाहते है, जो सूक्ष्म चेतना द्वारा प्रतिष्ठित होगी। उनके विचार में राज्य, प्रजा, जन तथा साम्यवाद इत्यादि तंत्र शासन-संचालन के मनुष्य निर्मित (और अतएव अप्राकृतिक) तथा सापेक्षक सिद्धान्त है, इनसे परे शाश्वत मानवता की प्रतिष्ठा ही वास्तविक सुख-श्री और समृद्धि ला सकती है—

ये राज्य, प्रजा, जन—साम्य तंत्र,
शासन-चालन के कृतक यान,
मानस, मानुषी विकास-शास्त्र,
हैं तुलनात्मक सापेक्ष ज्ञान,

× × ×

मथ स्थूल-सूक्ष्म जग, बोले तुम,
मानव मानवता का विधान ।

'मानस' का अर्थ सम्भवतः 'मनोविज्ञान' होगा। इससे स्पष्ट है कि पन्त जी युगान्त मे पूजीवादी प्रवंचना से अभिभूत है। उनका मानवतावाद, आध्यात्मिकतावाद तथा निरपेक्षतावाद इतना अतिवादी तो नही जितना अन्य विदेशी लेखकों में देखा जा सकता है किन्तु उनसे अधिक भी यह कुछ नहीं। इस प्रकार युगान्त तत्कालीन पूजीवादी नवचेतनावाद का ही प्रतिपादक है।

युगान्त का काव्य सौन्दर्य

युगान्त की प्राय कोई कविता कलात्मक अनुभूति से प्रेरित होकर लिखी गई प्रतीत नही होती, यद्यपि कही कही इसका भ्रम अवश्य उत्पन्न होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूक्ष्मतावादी पन्त मानव-कल्याण में साहित्य के नियोजन का अर्थ एक स्थूल-अपनाव ही समझते है, किन्तु यह उनकी उतनी ही बड़ी भूल है जितनी छायावाद काल मे निरपेक्ष साहित्य सृजन के विचार में थी। जब तक कोई विचार अनुभूति में पच नही जाता, वह काव्य का विषय नहीं हो सकता। इसी से युगान्त में नीरसता और रूक्षता अत्यधिक है।

तो भी इसमें दो-तीन पद्य अच्छे है। यद्यपि उनमें भी काव्यानुभूति

का अभाव और रूक्षता है किन्तु कल्पना और शब्दो के सुघड संयोग से उनमें भी एक विशेष आकर्षण आ गया है, जैसे—

बांधोऽ, छवि के बन्धन बांधो !
भाव रूप में, गीत स्वरों में,
गंध कुसुम में, स्मिति अधरों में,
जीवन की तमिस्र वेणी में,
निज प्रकाश-कण बांधो !

यहाँ शब्दो की झकार मे एक विशेष सौन्दर्य है, इसके अतिरिक्त कल्पना भी बडी मधुर है। अधकार को तमिस्र वेणी कह कर उसमे प्रकाश-कण बाँधने की कल्पना को भी स्थान मिला है। ये दोनो ही चरण बहुत सुन्दर है। यहाँ निज शब्द ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार छाया कविता का भी एक पद्य देखे—

पट पर पट केवल तम अपार,
पट पर पट खुले, न मिला पार,
सखि, हटा अपरिचय अंधकार,
खोलो रहस्य के मर्म द्वार।

यहाँ छाया की रहस्यमयता कितनी सजीव हो उठी है, यह केवल कल्पना के कारण ही। किन्तु इन दोनो ही कविताओ मे ये दो पद्य ही अच्छे है, शेष तो—

कल्पना मात्र मृदु देह लता,
पा ऊर्ध्व ब्रह्म, माया विनता।

जैसे पद्यो मे दुरूह कल्पनाओ का इन्द्रजाल है। कुछेक कविताएँ युगान्त मे शुद्ध प्रकृति-सौन्दर्य की भी है किन्तु इनमे सौन्दर्यानुभूति का कोई लक्षण नही, एक अन्य छाया कविता से एक पद्य देखे—

वह सुन्दर है, साँवली सही, तरुणी है—हो षोड़शी रही,
विवसना, लता सी तन्वंगिनि, निर्जन में क्षण भर की संगिनि,
वह जागी है अथवा सोई, मूर्छित या स्वप्न विमूढ़ कोई,
नारी कि अप्सरा, या माया? अथवा केवल तरु की छाया?

इसे इस मुकदी से जरा मिलाइये—खा गया पी गया दे गया बुत्ता, क्यों सखि साजन? नासखि. . .! पन्त जी यहाँ तरु-छाया की ओट में शिकार खेलना चाहते है, उन्हे यह आश्वासन बहुत बडा है कि वह सुन्दर है, षोडशी है और सब से बढ कर विवसना है, क्या हुआ अगर सावली है तो? 'एकान्त सगिनि' और मद-मूछिता होने से वह मदघूर्णित पन्त जी की विह्वलता को शान्त तो कर ही सकती है। इसी प्रकार—

मंजरित आम्र-तरु-छाया में,
हम प्रिये मिले थे एक बार,
× × ×
तुम मुग्धा थीं अति भाव-प्रवण,
उकसे थे अंबियों से उरोज,
चंचल प्रगल्भ हँस मुख उदार,
मैं सलज-तुम्हें था रहा खोज।
× × ×
तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल वपुधरा गोद।

इसमे भी पन्त जी खूब उघडे है, रेखाकित शब्द तो विशेष ध्यान देने योग्य हे, और सब से निचले दो चरण और भी विशेष, यह सब मंजरित आम्र तरु छाया मे हुआ। यहाँ अनुभूति की तीव्रता नही, इसीसे न तो यंह सशक्त ही है और न सस्कृत ही। अनुभूति की तीव्रता 'प्रेम' में अभिव्यक्ति करती है और जुगुप्सित शारीरिक लिप्सा वासना मे।

वास्तव मे युगान्त मे कोई कविता काव्य-कोटि की नही। 'गा कोकिल बरसा पावक-कण' इत्यादि कविता के दो-एक पद्य तथा पीछे प्रशंसा के लिए उद्धृत दो-तीन पद्य ही इस सम्पूर्ण संग्रह में कुछ काव्य-कोटि के कहे जा सकते है, शेष सब तो कुछ और ही है। इनमे कुछ छन्द तो अनुभूतिशून्य आत्माभिव्यक्ति है और कुछ मानव-महत्ता तथा कल्याण का महत्व-शून्य गान। इसका समर्थन हमारे उद्धृत पदो से सहज ही हो सकना है, अतः [और अधिक उद्धृत कर हम पाठकों को थकाएँगे नही।

प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि में

जैसा कि मार्क्स ने जर्मन आइडियालोजी मे कहा है "साम्यवाद एक सैद्धान्तिक अतिविधान नही प्रत्युत् आर्थिक विकास की एक विशेष मीमा और विनिमय सम्बन्धो की एक विशेष स्थिति है, जैसे सामन्तवाद औग पूजीवाद।" जैसा कि हम 'छायावाद की पृष्ठभूमि' मे देख आए है, ये आर्थिक सम्बन्ध ही अन्तिम रूप से सामाजिक-सम्बन्धो और विचार-धाराओ के निर्णायक होते है, यद्यपि सम्बन्ध-विपर्यय में ये भी आर्थिक सम्बन्धो को—उत्पादन के साधन और विनिमय की मर्यादाओ को—निर्धारित करते है। अत· स्वभावतः साम्यवादी अर्थ-प्रणाली साम्यवादी-संस्कृति और सभ्यता को भी जन्म देगी।

पूजीवाद का मूल वैयक्तिक सम्पत्ति, आर्थिक प्रतियोगिता तथा श्रम-विक्रय मे है, अत सामाजिक सम्बन्धों मे कटुता और भीषण असमता तथा सांस्कृतिक अति विधानो Superstructure में वैयक्तिक अनुचिन्तन, निराशा, पलायन तथा सूक्ष्मता और व्यापकता सार्वजनीनता—का प्राधान्य होना है। अतएव वैज्ञानिक विकास के कारण हमारे ज्ञान और अनुभूति मे जो स्पष्टता और समृद्धि सम्भावित थी वह न आ सकी और न सामाजिक महाप्राणता का गौरवमय आधार मिल सका।*

* छा० वा० की पृ० भ० में इसे हम स्पष्ट कर आए है।

पूंजीवादी समाज में सर्वहारा और पूजीपति, दो ही वर्ग प्रधान होते है, मध्यम वर्ग एक तीसरा वर्ग होता है जो सम्पूर्ण सन्तुलन का आधार होता है। सर्वहारा का सब से उपयुक्त लक्षण 'श्रम-विक्रय को बाध्य' ही हो सकता है। वैज्ञानिक उन्नति के कारण जो सुविधाए पूजीपति को उपलब्ध होती है, जैसे, रेडियो, सवाद-परिवाहन के अन्य साधन तथा दैनिक पत्र आदि, उन्ही से सर्व-हारा वर्ग को भी संगठित होने का तथा विश्व-व्यापी मोर्चा बनने का अवसर मिलता है, इन्ही कारणो से वह पूजीवादी अर्थ-प्रणाली की प्रकृति और अपनी शक्ति से भी क्रमश परिचित होता है। अत· पूजीपति वर्ग के साथ इसका सघर्ष पूजीवाद की अभिवृद्धि के साथ ही समानान्तर पर बढता जाता है। सम्पूर्ण अर्थ-प्रणाली पर अधिकार होने से राज्य शक्ति का अधिनायकत्व भी पूजीपति के हाथो मे ही होता है अतः वह इसका प्रयोग संघर्ष मे सर्वहारा के विरुद्ध करता है। अतएव प्रजातन्त्र हो या और कुछ सर्वहारा-वर्ग उससे वचित रहने को बाध्य है, क्योकि यह पूजीपति के अस्तित्व के लिए प्रथम अनिवार्य शर्त है।

इस अवस्था मे साहित्य, राजनीति, दर्शन और विज्ञान इसी श्रेणी की धरोहर हो जाते है,— अर्थात् इनके द्वारा या इनके लिए।

वर्ग सघर्ष तो पूजीवाद के साथ ही स्थिति में आ जाता है, किन्तु उस समय मध्यम वर्ग आर्थिक सतुलन को बनाए रखता है, सर्वहारा सख्या और सगठन की दृष्टि से अभी पूर्ण-शक्तिशाली नही होता और न दूसरे वर्गो—कृषक, बुद्धिजीवी तथा निम्न मध्य-वर्गो को ही पूजीवाद की कटु अनुभूति ने क्रान्ति के लिए प्रेरित किया होता है; अतः सर्वहारा क्रान्ति करने की अवस्था मे नही होता, और यदि वह कर ही बैठे तो उसको दबा देना सहज ही होता है। इगलैड के चार्टिस्टो का आन्दोलन और क्रान्ति इसका अच्छा प्रमाण है।

सर्वहारा क्रान्ति का उद्देश्य है सर्वहारा का राज्य; यदि यह राज्य पुन: वैयक्तिक सम्पत्ति को ही किसी भी प्रकार प्रश्रय देता है, तो इस क्रान्ति का कोई अर्थ नही रह जाएगा, क्योकि यह पूजीवाद की पुनस्थापना ही होगी। अत. सर्वहारा के राज्य का अर्थ व्यक्तिगत और अतएव श्रेणी-गत प्रभुत्व को समाप्त करना है। कुछ लोगो का विचार है कि संघो या कार्पोरेशनो के रूप मे परिवर्तित पूजीवाद इतना कटु और वीभत्स नही रहता और आज वह इसी रूप मे आ भी रहा है, अत क्रान्ति की आज कोई आवश्यकता नही। किन्तु नकाब बदल कर आई हुई वीभत्सता को कन्सेशन देने का क्या अर्थ है? इससे सर्वहारा और कृषक इत्यादि वर्गो को स्वतं-त्रता नही मिल सकती, सर्वहारा तब भी अपना श्रम बेचने के लिए उतना ही बाध्य होगा जितना पहिले (आज भी) था। अत: उसका यह रूप-परि-वर्तन सर्वहारा-क्रान्ति की आवश्यकता को कम नही कर देता।

समाजवादी प्राय जमीन्दारी उन्मूलन और कुछ बडे उद्योगो के राष्ट्रीयकरण की बात कहते है, किन्तु इससे मूल समस्या श्रेणी-हीन समाज की स्थापना का कोई हल नही होता। जमीन्दारी की समाप्ति तो पूजीवाद की स्वाभाविक प्रक्रिया है और कुछ बड़े—राष्ट्रीय महत्व के—उद्योगो का राष्ट्रीयकरण भी, कटुता को कम करने के लिए, आज सभी पूजीवादी देशो मे हो रहा है, क्योंकि इससे सघर्ष टलता है; अत: समाजवादी केवल मार्क्स का नाम लेकर—और स्टालिन को गालियाँ निकाल कर—ही अपने आपको पूजीवादियो से पृथक कर लेने का दम्भ करते है। इंगलैड के समाजवादी अमरिका से गठ-जोड करने मे, मलाया इत्यादि मे भयंकर दमन मे तथा पश्चिमी यूरोप के सैन्य सगठन में चर्चिल से एक भी कदम पीछे नही और न अपने देश के आर्थिक ढाचे में ही उन्होंने कोई परिवर्तन किया है। हमारी भारत की सोशलिस्ट पार्टी भी अनेक बार अमरीका और इंगलैड की आर्थिक और राजनैतिक—विशेषत: प्रजातान्त्रिक—प्रणाली का

समर्थन कर चुकी है और देश मे काग्रेस से आगे बढ़ कर कोई कार्य-क्रम नही बना सकी। बहुत बहादुरी की तो पं० नेहरू तक बढ़ आए। उनके सम्पूर्ण कार्य-क्रम महत्वशून्य संशोधन मात्र होते है जिनका उद्देश्य सर्वहारा क्रान्ति को विलम्बित करना मात्र ही होता है। ऐतिहासिक विकास को भी आर्थिक सम्बंधों में—द्वंद्वों में—न देख कर ये उसी भावुक और मानव-वादी ढग से देखते है जैसे १९वी शताब्दी के प्रारम्भिक इतिहासज्ञ, और इसीके आधार पर ये वर्तमान को भी आर्थिक प्रणालियो में न देख कर किन्ही आध्यात्मिक आधारो पर ही देखते है। समाजवादी पार्टी के प्रधान आचार्य नरेन्द्र देव के 'विविधता मे एकता' शीर्षक लेख से एक उद्धरण ले। वे कहते है "यही उदार भाव सब प्राणियो मे अपने को और अपने मे सब प्राणियो को देखने के लिए विवश करता है। यही समत्व का योग है। इसीलिए कहा गया है कि वह स्वराज्य का अधिगम करता है, यह ठीक है कि सर्वरूपेण एकता कभी नही हो सकती विविधता होना स्वाभाविक है अत· समन्वय-बुद्धि की सदा आवश्यकता रहेगी। एकरूपता का यह कार्य बलपूर्वक नही हो सकता, यह कार्य सब बालक-बालिकाओ की समान दीक्षा से होना चाहिए और धीरे धीरे एक वेश-भूषा, एक राष्ट्रभाषा, एक कानून का प्रवर्तन होना चाहिए। आचारो की विभिन्नता राष्ट्रीयता को दुर्बल करती है। पश्चिम की शिक्षा द्वारा यह कार्य थोडा बहुत सम्पन्न हुआ था। एक राष्ट्र के भीतर एकरूपता का यह काम हो सकता है, किन्तु संसार मे तो यह विविधता बहुत दिनो तक रहेगी ही। शान्ति रक्षा के लिए तथा युद्ध को रोकने के लिए भारतीय उदार धर्म के तत्व की अब भी आवश्यकता है।"* इससे स्पष्ट है कि वे ऐतिहासिक विकास को उन पूजीवादियो से भी

* मई '५० जनवाणी।

अधिक विकृत रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं जो इसे प्रस्तर युग, ताम्र युग तथा लौह युग मे विभाजित कर देखते हैं। सब **प्राणियों** में अपने को और अपने मे सब **प्राणियों** को देखने का अर्थ है दोनो को ही न देखना, क्योकि इसका अन्त वेदान्तिक मायावाद मे ही सम्भव है। एकता लाने के लिए, उनके विचार मे, सब बालक-बालिकाओं की समान दीक्षा ही काफी होगी चाहे आर्थिक स्तरो मे कितना ही भेद क्यो न हो, सामाजिक रूपेण ने कितने ही असमान चाहे क्यो न हो। इसी प्रकार विश्व-युद्ध को (और क्रान्ति को भी---वर्ग सघर्ष को भी) रोकने का रामबाण चूर्ण है 'भारतीय संस्कृति की उदारता'। श्री राममनोहर लोहिया और जयप्रकाशनारायण के विचारों को भी इनसे दूर रख कर नही देखा जा सकता, अन्तर केवल इतना है कि वे लिखने मे अधिक सावधानी से काम लेते हैं।

समाजवादियो को मार्क्सवादियो से आपत्ति है कि वे हिसा को मान्यता देते है और उनका सचालन कामिन फार्म करती है। जयप्रकाश-नारायण ने तो एक स्थान पर मार्क्स का भी उद्धरण दे दिया है कि क्रान्ति के लिए हिंसा आवश्यक नही। किन्तु जयप्रकाश जी स्वय यह भी मानते है कि कोई स्थिर सत्य नही। वह परिस्थितियो के अनुसार apply होगा, देखना यह है कि यहाँ वे परिस्थितियाँ है जिनमें मार्क्स ने यह कहा। फिर मार्क्स ने हिंसा को भी तो बुरा नही कहा। सोशलिस्टो ने यह नही बताया उनकी अहिसा एक स्थिर सत्य है या समयोचित स्वीकृति! आज की परिस्थितियों को देखते हुए वैधानिक उपायो से पूजीवाद को समाप्त करना सम्भव नही दीखता। गाँधीजी का अनुसरण करते हुए सोश्यलिस्ट भी दिल परिवर्तन मे आशा रखते है, और उनका विचार है कि वे पूजीवाद के विरुद्ध समाजवाद के आधारो पर जन संगठन कर लेगे। किन्तु न तो गाँधी जी दिल-परिवर्तन कर सके और न स्वयं सोशलिस्टो का अपना दिल परिवर्तित हुआ है। वोटों से सोशलिस्ट पार्टी आ सकती है, क्योंकि वह

सुधारवादी पूंजीवादी पार्टी है, यद्यपि अभी उसे भी आशा नही करनी चाहिए, किन्तु कम्यूनिस्ट पार्टी का आ सकना इतना सहज नही। क्योंकि पूजीवादी, मध्यमवर्गीय तथा कृषक-श्रेणी भी, इसके लिए प्रस्तुत नही। और पूजीवादी तो प्रत्येक सम्भव उपाय से, तानाशाही से और सन्धि तथा द्वैधी भाव से भी, इन आन्दोलनों को कुचलने का पूरा प्रयास कर रहे है और करते रहेंगे। सोशलिस्टो को बडे बड़े सेठों से जो दावतें मिलती है और चन्दा मिलता है, यह हृदय-परिवर्तन के कारण नही, इसे वे लोग अच्छी तरह से जानते है।

हिंसा से सोशलिस्टो का क्या अभिप्राय है ? दुर्भिक्ष से मरना क्या हिसा नही ? फिर श्रम विक्रय, एक समय भोजन, औषध के अभाव मे मृत्यु, समुचित सुरक्षा के अभाव में बाल-मृत्यु आदि क्या हिसा नही ? तो थोडे से पूँजीपतियो के यदि खरौच ही लग जाय तो क्या हानि है ? सर्व-हारा के खरौच का, उत्पीडन का तो संभवत. सोशलिस्टो के लिए कोई अर्थ नही क्योकि उनको आज से अधिक शोषण और अपमृत्यु देखने का कभी अवसर नही मिलेगा। और वे आज भी चुप है।

सोशलिस्ट राजनैतिक नही, सास्कृतिक मोर्चा भी मार्क्सवादियो के विरुद्ध बना रहे है, जिसमे आन्तरिक आवश्यकताओं की दुहाई देकर बडी चतुराई से वही कुछ दिया जाता है जो पूँजीवाद की कुत्सित प्रवृत्तियो से भी एक कदम आगे है।

आज पूँजीवाद विकास की चरम अवस्था मे है, अत वर्ग सघर्ष में भी भीषण तीव्रता है। सघर्ष के ये लक्षण केवल राजनीति मे ही नही सभी क्षेत्रो मे परिलक्षित हो रहे है। एक नवीन आध्यात्मिकता, रहस्यवाद, सास्कृतिक संरक्षण की दुहाई, आन्तरिक आवश्यकताओ की गुहार तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य के बचाव की विह्वलता और लोकतान्त्रिक समाजवाद का सांस्कृतिक शंखनाद इस तीव्रता को कम कर पूँजीवाद को सरक्षण देने

के ही विभिन्न उपाय है। नवसस्कृति सघ के घोषणापत्र और विवरणो मे और जयप्रकाश तथा लोहिया के व्याख्यानो मे उन्नीसवी शताब्दि के 'सच्चे सोशलिस्टो' का पुनर्जागरण स्पष्ट देखा जा सकता है, जो सभी आन्दोलनो को आध्यात्मिक व्यष्टि मे ही केन्द्रित कर देखते थे।

मानववाद का प्राथमिक रूप कुछ ईमानदार पूजीवादियो का यथार्थ मे पलायन था, किन्तु आज, जब कि वर्ग-सघर्ष की तीव्रता ने सब कुछ स्पष्ट कर दिया है, यह आत्म-सरक्षण का रूप ले रहा है। पूजीवाद मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य और मानव महत्ता की जो प्रशस्तिया गाई जाती है उनका कोई भौतिक मूल्य नही हो सकता। समाज जब से आर्थिक विकास के एक विशेष स्तर पर पहुँचा, अर्थात् जब उत्पादक और भोक्ता पृथक् पृथक् हुए तथा एक व्यक्ति दूसरो को अपने साधन के रूप मे प्रयुक्त कर सका, तभी से दास-प्रथा का जन्म हुआ। विजित-दास, क्रीत-दास, कम्मी और आज सर्वहारा, ये समाज की विभिन्न अर्थ प्रणालियो की विभिन्न दासता के निदर्शन है। पूँजीवाद इन सर्वहारा दासों पर ही आश्रित है, अत. इनको स्वतन्त्रता देने का अर्थ है पूँजीवाद की समाप्ति। प्रतियोगिता इस युग की सबसे बड़ी देन है, प्रतियोगिता के लिए यह अनिवार्य है कि पूँजीपति अधिक मे अधिक संग्रह करे (पूँजी का उत्पादन करे) और ग्राहको को कम दामों पर देकर प्रतियोगी की हत्या करे; इसके लिए अनिवार्य रूप से सर्वहारा को ही अपना पेट काटकर यह प्रबन्ध करना होता है।

अतः पूँजीवादी स्वतन्त्रता का अर्थ है, प्रतियोगिता से मुक्ति (मुक्ति सिस्टम से नही प्रतियोगी से) और सर्वहारा की स्वतन्त्रता का अपहरण कर एकाधिकार की प्राप्ति। उसका मानववाद मानव नही 'मानवता' पर मुग्ध होता है, इसी से उसके द्वारा ही उत्पीडित मानव उसकी सहानुभूति को नही उभाड सकते, वह इनसे निरपेक्ष ही मानवता की कल्पना

कर लेता है। आचार्य हजारी प्रसाद और नरेन्द्र देव का मानववाद भी इससे भिन्न कुछ नही है।

किन्तु राजनैतिक रूप से जागरूक आज का सर्वहारा वर्ग इसके अस्तित्व को खतरे में डाल रहा है। समृद्ध वैज्ञानिक साधनो ने जहा पूँजीवाद को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लूटने के अवसर दिये वहा सर्वहारा वर्ग को भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकसित होने की सुविधा मिली। आज का सर्वहारा वर्ग अपनी स्थिति, शक्ति और शोषण की प्रक्रिया से अभिज्ञ है, अत निरन्तर सघर्ष के लिए आगे बढ रहा है। पूँजीवाद ने जिन अवस्थाओ और शक्तियो को जन्म दिया था, वे आज न केवल उसकी शक्ति की सीमा से ही बाहर हो गई हैं प्रत्युत् उसके विरुद्ध सघर्ष का अस्त्र भी बन रहा है। पूँजीवाद का अनिवार्य परिणाम बेगारी, महायुद्ध और सास्कृतिक ह्रास है और उसे पूँजीवाद के द्वारा ही रोका नही जा सकता। ऐतिहासिक विकास में कोई भी घटना दैवयोग से घटित नही हो सकती, यह विकास उत्पादन के साधनो के विकास और व्यक्तियो की इच्छा से ही निर्धारित होता है। आकस्मिक घटनाएँ भी कार्य-कारण के अनिवार्य सबध मे बँधी है। व्यक्तियो की इच्छा भी एक सीमा तक ही निर्णायक हो सकती है, अर्थात् वे उसकी प्रकृति को समझ कर उसमे सशोधन और प्रगति कर सकते है किन्तु उसे पीछे की ओर नही ले जा सकते।

ऐतिहासिक विकास का रुख आज जिस ओर को है उसे हम साम्यवाद——मार्क्सवाद——का नाम देते है। यह एक नवीन युग के उदय का उपक्रम है, जिसके लिए महान सघर्ष और कटु पीडाओं मे से होकर हमारे युग को निकलना होगा। पूँजीवादी एकाधिकार मे उत्पादन के साधन ही नही मिलट्री और न्याय भी है, अत सर्वहारा वर्ग को इस एकाधिकार को समाप्त करने के लिए एक भीषण सघर्ष करना होगा। इस सघर्ष मे सर्वहारा वर्ग बुद्धिजीवी, निम्न मध्यम-वर्ग तथा अन्य असतुष्ट वर्ग पूँजीवाद

के विरुद्ध लडेंगे किन्तु इसमे मुख्य भाग तो सर्वहारा वर्ग को ही लेना होगा ।

सर्वहारा वर्ग की 'तानाशाही मे' दूसरे वर्गो को भी अवर्ग विभक्त समाज मे रहने का अभ्यास करना होगा । सभ्य-पूर्व युग मे, जब उपभोक्ता स्वय उत्पादक था और समाज अभी वर्ग-विभक्त नही हुआ था, व्यक्ति का सुख-दुख, हर्ष-विषाद भी सामान्य सामाजिक भूमि पर ही जन्म लेता था, किन्तु वह सहयोग एक अविकसित अवस्था का ही सहयोग हो सकता था जिसमे मनुष्य की पशु-सामान्य जीवन-रक्षा की प्रवृत्ति अभिव्यक्त होती थी । नृतत्वशास्त्री हमे बताते है कि इस अवस्था मे समाज और व्यक्ति प्रकृति अन्नदात्री शक्ति---से अत्यत निकट सबध मे बधे होते है तथा पृथ्वी, बादल, नदिया तथा अन्न-पशु आदि की समृद्धि उसे अपार आनन्द तथा उल्लास से आपूरित करती है, क्योकि ये सब उसे जीवन रक्षा मे सहायक होते है । उत्पादन के साधन अविकसित होने से उसे अपना अधिकाश समय अपनी रक्षा तथा उत्पादन मे ही व्यय करना होता है । इसके अतिरिक्त उसकी मानसिक विकसिति भी इसी स्तर पर होती है, अत· विषय (object) रूप मे भी प्रकृति ही उसके विचारो और भावनाओ का मुख्य केन्द्र होती है । किन्तु प्रकृति अपने 'प्रकृत' रूप मे ही उसमे प्रतिबिम्बित नही हो सकती, क्योंकि वह जीवन रक्षा की प्रवृत्ति से निर्धारित भावनाओ से ही मुख्यत. प्रेरणा ग्रहण करता है । परन्तु साम्यवाद मे उत्पादन के साधन अत्यधिक विकसित तथा व्यक्ति सजग और 'स्वतन्त्र' (प्रकृति से, विषय से) होंगे, अत. साम्यवादी संस्कृति पूंजीवाद से अधिक सूक्ष्म और स्वतन्त्र तथा पूर्व साम्यवाद से अधिक सशक्त तथा सप्राण होगी । किन्तु पूजीवादी संस्कृति और 'स्वतन्त्रता' में पले बुद्धि जीवी तथा मध्यम वर्गों के लिए यह सहज नही कि वे एकदम नवीन अर्थ प्रणाली के लिए तैयार हो सके ।

× × × ×

अस्तु, जैसा कि हम 'स्थापना' मे देख आए है, भावना के क्षणों में व्यक्ति सामूहिक अनुभूति से अनुप्राणित होता है किन्तु चिन्तन मे वह अपने आपको कुछ दूर पर रखकर भी देख सकता है। कविता भावना के क्षणो की अभिव्यक्ति होने से सामूहिक अभिव्यक्ति है। किन्तु भावना को विचार भी निर्धारित करते है; विचार मनुष्य की दृष्टि का—प्रतिबिम्बन का—पर्याय होने से उसकी भावना का दिशा-निर्देशक है, अत यदि परिवृत्ति में वैयक्तिक स्वार्थों की प्रधानता होगी तो अनुभूति सामूहिक चेतना से अनुप्राणित नही हो सकती, उस अवस्था मे उसका निर्बल हो जाना स्वाभाविक ही रहेगा। पूजीवाद मे व्यक्ति अस्वाभाविक रूप से समाज से विच्छिन्न कर दिया गया है अतएव इस युग मे किसी महान् काव्य की रचना असभव है; आज के पात्रो मे वह महाप्राणता नही हो सकती जो महाभारत के पात्रो मे थी। गीतो मे भी वह ओजस्विता, महत्ता और गौरवमय माधुर्य होना सभव नही जो वेदो के मन्त्रो मे, जिनमे उषा, पर्जन्य वरुण तथा इन्द्र इत्यादि प्राकृतिक समृद्धि के प्रतीको की सामाजिक समृद्धि के लिए स्तुति की गई है, इनमे सामूहिक अनुभूति, सामूहिक उपार्जन तथा सामूहिक उपभोग का आनन्द ही सजीवता ला सका है। आज का पात्र एक वैयक्तिक निराशा के बोझ से दबा हुआ दार्शनिक वाक्यो मे अन्तर्विरोधो को रहस्यमय बनाकर तिरोहित कर देता है। इस युग की भावना कभी भी दार्शनिक बोझ या किशोरता-सुलभ छिछलेपन से ऊपर नही उठ सकती। इसका कारण कवियो का वैयक्तिक जीवन नही, समाज की अराजक स्थिति ही थी जिसमे आध्यात्मिक निराशा के अतिरिक्त और कुछ नही उत्पन्न हो सकता था। साम्यवादी वर्ग-रहित समाज मे, व्यक्ति और समाज के स्वार्थो मे और अतएव विचारो और अनुभूति मे भी कोई सघर्ष—स्वार्थो का, व्यक्ति और समाज का—नही होगा। व्यक्ति को सघर्ष की कटुता से बचाने के लिए आत्म विस्मृति या पलायन की आवश्यकता भी नही होगी, अतः व्यक्ति

सजग होने से उस अनुबन्ध मे जो भावन करेगा वह स्वस्थ और सजीव आनन्द की सृष्टि कर सकेगा ।

आज हम उस युग की कल्पना ही कर सकते है जो बहुत दूर नही, किन्तु यह भविष्य मे पलायन नही। भविष्यत् कल्पना यदि सामाजिक विकास का एक अग है और ऐतिहासिक विकास की शृखला मे है तो—भी वास्तव मे सामाजिक सृजन की महद् आवश्यकता है, जो व्यक्ति के समाज के प्रति अमित विश्वास की परिचायिका है और जो परिवृत्ति के पुर्ननिर्माण का उपक्रम है । इस कल्पना के आधार पर हम वर्तमान से सघर्ष करते है । किन्तु इस सघर्ष मे या कल्पना मे उस साहित्य का सृजन नही हो सकता जो उस युग में उत्पन्न होगा, आज का साहित्य तो वर्ग-सघर्ष का और भविष्यत् कल्पना का ही साहित्य हो सकता है । कुछ लोग 'तटस्थ' रहने का प्रयास भी करते है, किन्तु यह वास्तव में परिवृत्ति के प्रति निष्क्रिय स्थिति मात्र है । इस काव्य में केवल 'प्रभाव' का ही वर्णन होता है और प्रतिफलन आध्यात्मिकता और निराशा का सघर्ष काल सदैव सास्कृतिक ह्रास का काल होता है क्योंकि उसमे विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया को न समझ कर सामाजिक जीवन से पलायन होता है, सामाजिक शृखलाएं बिखर जाती है और वे एक अनुत्तरदायित्व और पशुता को जन्म देती है । इस पलायन की प्रकृति पूंजीवादीयुग के पलायन की सी नही होती, क्योंकि पूजीवादी पलायन का कारण सामाजिक विशृखलता होता है । सघर्ष की निराशा और जुगुप्सा को पलायन न कहकर असामाजिकता और पशुता यदि कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा । महादेवी के अध्यात्मवाद में और आज के स्वच्छन्दतावादियो में जो अन्तर है वह इसे और भी स्पष्ट कर देगा। ये आन्दोलन काफी पुराने है, किन्तु इन्हे पनपने का पूर्ण अवसर तो आज ही मिला है । अतएव आज स्वच्छन्दतावादी और प्राकृतिकतावादियों का इतना बोलबाला है । ये लेखक यथार्थ का नाम लेकर—जो

प्रगतिवादियो का भी प्रयुक्त है—यौन लिप्साओ की वीभत्स अभिव्यक्ति करते है।

संघर्ष काल मे ही संघर्ष का काव्य भी लिखा जाता है, और आज,—क्योकि संघर्ष के प्रति मनुष्य सब कालो से अधिक जागरुक है—यह संघर्ष का साहित्य ही वास्तव में जीवित साहित्य है। सर्वहारा का यह साहित्य कटुता का साहित्य है, किन्तु उसके प्रगतिशील वर्गो के साथ सयुक्त होने से उसमे अस्वस्थ प्रवृत्तिया स्थान नही पा सकती। आज का प्रगतिशील काव्य इस कटुता का काव्य है; इसमें व्यग्य,—प्रताडन, या प्रहारो का ही आधिक्य होता है, (यद्यपि कुछ और भी हो सकता है और जिसे होना चाहिए किन्तु उस विषय मे हम आगे लिखेगे।) और होती है भविष्यत् की झलक। और प्रगतिवादी साहित्य की परिभाषा ही "सघर्ष मे सर्वहारा की ओर से आक्रमक" होना है, इसके लिए मार्क्स की ऐतिहासिक व्याख्या आधार-भूत सिद्धात है।

अनेक साहित्यिक पूँजीपतियो की ओर से भी वकालत कर रहे है। इससे सभवत. कुछ लोग चौकें, किन्तु चौकने की ऐसी कोई बात नही, ठीक तो यह है कि प्रगतिवादी साहित्य के अतिरिक्त आज का अधिकांश साहित्य सोद्देश्य रूप से पूँजीवादी है, किन्तु विशेष रूप से नूतनरहस्यवादी, मानवतावादी या नवसंस्कृति सघी (राजनीति मे सोशलिस्ट) और स्वच्छन्दतावादी (सोशलिस्टो की ही एक श्रेणी) इस श्रेणी के अन्तर्गत आते है। कुछ लोग इमान्दार होकर भी अपनी विशेष स्थिति या ज्ञान की अस्पष्टता तथा विशेष धारणाओ के कारण प्रतिक्रियात्मक साहित्य का निर्माण करते है, और वास्तव मे वे ऐसा करने को बाध्य है क्योकि सघर्ष के युग मे कोई तटस्थ नही रह सकता।

आज की साहित्यिक परिस्थितियो की इस आलोचना के पश्चात् अब प्रचलित विचार और भाव-धाराओ से भी पर्यालोचना करनी अनुपयुक्त नही होगी।

२

विश्व में दृष्टिगत होने वाला विकास घटनाओ का क्रम है; हमे कुछ भी पूर्ण नही मिला, संपूर्ण वर्तित्व 'भवति' के रूप मे ही उपलभ्य है। दृष्टि की स्थूलता के कारण इस गतिमान घटना समूह को, जो कारण-कार्य संबध मे बँधा प्रतीत होता है हम पूर्ण सभूति के रूप में देखते है। किन्तु प्रत्येक नवीन भोर का सूर्योदय एक नवीन घटना है, प्रत्येक क्षण नवीन घटनाओ के साथ आता है।

अत मूलत कुछ 'सत्य' नही, क्योकि कोई 'अस्तित्व' नही—कम से कम हम उसका अनुधावन नही कर सकते। हम भी उतनी ही तीव्रता से बदल रहे है, किन्तु हमने स्मृति ओर भावना शक्ति के आधार पर उस प्रगति को शिथिल कर लिया है। पशु भावन नही कर सकता, अत. उसके लिए कुछ अस्तित्व नही हो सकता।

मनुष्य अपने जैवी विकास के आधार पर समाज बना सका, (उसके हाथो का उसके इस निर्माण मे विशेष महत्व है) और उसके माध्यम से उसने भावन करना सीखा। सामाजिक विकास की प्रथमावस्था में, जब वह प्रकृति से अल्पतम स्वतन्त्र था, और विकास की उत्तरावस्था मे, जब वह प्रकृति पर आशिक विजय भी पा चुका है, वह एक परिवृत्ति मे ही था (ओर है) और उसी से अपने चेतनातन्तुओ द्वारा एक सजीव संबध मे अनिवार्य रूप से बँधा है। अतः स्पष्ट ही उसके सामाजिक विकास मे उमका जैवी विकास (Biological development) कारण है किन्तु समाज स्वय एक जैवी प्रक्रिया या घटना नहीं।

संभवतः प्रथमावस्था मे समाज केवल आत्म-सरक्षण की पशु-सामान्य प्रवृत्ति (Instinct) का परिणाम रहा होगा और शायद उसी के द्वारा मनुष्य ने प्रकृति का पुनर्निर्माण करना सीखा होगा। पुनर्निर्माण (Reproduction) की यह प्रक्रिया एक शैली मे अपनी अभिव्यक्ति

करती है जो उसकी मनस्थिति के विकास से सीमित है। अभिव्यक्ति के लिए एक ठोस आधार भी आवश्यक है और शैली के लिए एक निश्चित रूपरेखा तथा प्राणदायिनी अनुभूति। रूपरेखा और अनुभूति इतनी सम्पृक्त होती है कि उन्हें पृथक् कहा ही नही जा सकता। अभिव्यक्ति का ठोस आधार और रूपरेखा—चाहे वह रगहीन होती है—दोनो बाह्य परिवृत्ति या विषय object है, इस प्रकार ये बाह्य विषय ही अन्तर का दिशा निर्देश करते है, इसी प्रकार बाहर उपस्थित वस्तु की प्रकृति और स्थिति के अनुरूप ही वह अभिव्यक्त होगी। अत. प्राकृतिक परिवृत्ति मनुष्य के जैवी विकास मे ही नही सामाजिक विकास मे भी समान रूप से प्रभावशाली होगी, क्योकि सामाजिक विकास उत्पादन क्षमता पर ही निर्धारित है। अरबो और भारतीय आर्यों के सास्कृतिक विकास मे अन्तर का यही प्राथमिक कारण है। इसे एक और उदाहरण से भी सिद्ध किया जा सकता है। पुनर्निर्माण का अर्थ है पूर्व निर्मित से असन्तुष्टि; यह असन्तुष्टि पुन किसी पूर्व तुष्टि की ओर संकेत करती है अथवा किसी पश्चात् तुष्टि के आभास की ओर, इस प्रकार यह अभाव और भाव या भाव और अभाव की प्रकृति वस्तु से निर्धारित होकर हमारी अनुभूति को निर्धारित करती है। अतः मनुष्य की अनुभूति और विचार स्वतन्त्र रूप मे कुछ भी नही हो सकते थे, उन्हे अस्तित्व मे आने के लिए विषय से निर्धारित होना और अस्तित्व ग्रहण करना होता है।

इस प्रकार मनुष्य का जैवी विकास बाह्य प्रकृति से मर्यादित है, किन्तु समूह और समाज भी जो स्वयं जैवी विकास से निर्मित हुए हैं, इसके सहायक और कारण भी है। सभी प्राणी और मनुष्य भी, नकल से चलना-फिरना सीखते है, इसके बिना यह भी सभव न हो; अत अनभूति इत्यादि मानवीय स्थिति तक पहुँचने के पूर्व मानव ने विकास की जो अवस्थाएं पार की है उनसे उसके हाथ के विशेष विकास तथा समूह का महत्व

ज्ञात होता है। समूह मे रहने वाले पशु भी अपेक्षाकृत अधिक सजग पाए गए है। इस परीक्षण के लिए अमरीका मे एक लडकी 'आना' को छ. वर्ष की आयु तक एक कमरे मे बन्द रखा गया, और जब उसे निकाला गया तब ज्ञात हुआ कि वह न केवल कुछ बोल ही नही सकती, चल फिर भी नही सकती*। इसी प्रकार एक कमला नाम की लडकी की कथा भी प्रसिद्ध है जिसे भेडिये उठा ले गये थे और उन्ही के पास उसका लालन-पालन भी हुआ था। जब वह किसी तरह लाई गई वह भेडिये के समान ही आवाज करती थी और चार टागो से चलती थी। अकबर ने भी खुदा की भाषा जानने के लिए एक लडके को एक कुटिया मे बन्द कर दिया था, और जब उसे निकाल कर देखा गया तो वह कुछ न बोल सकता था। यदि कोई महाशक्ति होती तो, अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिए ही सही, उसे कोई भाषा अवश्य सिखा देती।

अस्तु, मनुष्य अब जैवी विकास से सामाजिक विकास की ओर आता है, अब वह प्रकृति से नही, प्रकृति का क्या होना चाहिए से भी प्रयोजन रखता है, वह प्रवृत्ति को भावना, प्रतिबिम्ब न शक्ति-चेतना को विचार और स्मृति, तथा प्रकृति को आकृति मे बदलना सीखता है। इस प्रकार वह यथार्थ से सत्य का निर्माण करता है। प्राकृतिकतावादी इसे मनुष्य की पराधीनता या छलना कहते है, किन्तु जैसा कि हम 'स्थापना' और छायावाद की पृष्ठभूमि मे देख आये है, यह उसकी अपनी प्रकृति पर विजय है, अब वह मात्र स्नायविक प्रतिक्रियाओ का दास नही रहा।

अध्यात्मवादी और प्राकृतिकतावादी—या उपचेतनावादी—प्राकृतिकता पर भिन्न भिन्न आधारो से बल देते है। आध्यात्मवादी सामाजिकता को चेतन तत्व पर एक परदे के रूप मे देखते है, जो उसे, उनके विचार

* Society, 1949.

मे, उस अनन्त सत्य-शिव और सुन्दर से पृथक् किये हुए हैं। नैतिकता की उपयोगिता उनके लिए यही है कि इससे उनका आत्म विस्तार होता है और इस प्रकार भूमा में तन्मयता का आनन्द मिलता है। किन्तु उनकी नैतिकता का अर्थ सामाजिकता नही निष्कामता है। यह विचार-धारा सामाजिक रूप मे निष्क्रियता या समाजविरोधी अस्वस्थ प्रवृत्तियो को जन्म देती है, क्योकि वे लोग इसका उपयोग जघन्य काम-प्रवृत्ति की 'निष्काम' तृप्ति मे करते है। इन लोगो का कहना है कि जो प्राकृतिक है वही सत्य है, जो सत्य है वह नैतिक है। एक प्रश्न का उत्तर देते हुए जैनेन्द्र जी ने इसे बहुत अच्छी तरह से 'समझाकर' बताया है। वे कहते है "मैं मानना चाहता हूँ कि सत्य के सिवा और किसी की भी हस्ती नहीं है। जो है, उसमे अश्लीलता नही हो सकती। इसलिए अश्लीलता सदा छल मे है।" अर्थात् जैनेन्द्र जी और 'सुनीता' की हस्ती या भावना या क्रिया विशेष इसलिए है क्योकि वह सत्य है, और क्योकि वह सत्य है इसलिए अश्लील और नैतिक है, क्योंकि सत्य कभी अश्लील नही हो सकता। या, क्योकि मैथुनेच्छा है इसलिए वह सत्य है और क्योंकि वह सत्य है इसलिए वह अश्लील नही हो सकती। किन्तु अश्लीलता की भी तो हस्ती है, इसलिए वह भी अश्लील और नैतिक होगी। छल तो कुछ भी नही, जब हम 'हस्ती' मात्र को सत्य मान लेते है; क्योकि छल स्वय एक हस्ती है। किन्तु जैनेन्द्र जी खूब अच्छी तरह जानते है कि सुनीता की सभी क्रियाए और भावनाएं केवल विद्यमानता के कारण ही श्लील नही हो सकती, क्योकि श्लीलता का अस्तित्व समाज के कारण और समाज के ही लिए है। समाज से निर-पेक्ष न तो श्लीलता-अश्लीलता ही कुछ है और न मनुष्य का विस्तार-सकोच ही। 'प्राकृतिक प्राणी' के लिए दोनो का कोई अर्थ नही। एक वार मेरा एक बन्दर कुछ 'अश्लील' काम कर बैठा, मुझसे उसकी शिकायत की गई। मै उस बहुत नाराज व्यक्ति को अपने बन्दर के पास ले गया और

बन्दर से पूछा 'क्यो भई, यह क्या शिकायत करता है ?'' उसने एक बार मुँह उठाकर मेरी ओर देखा और फिर उपेक्षा से ऑखे झुकाकर बैठ गया। मैंने चिढकर उसका कान खेचा और कहा ''क्यो रे, तू बोलता क्यो नही, तूने ऐसा क्यो किया ?'' किन्तु एक बार 'ची' कर उसने मुँह फेर लिया। आखिर दो-तीन बार की रस्सा कशी के बाद मैने उस व्यक्ति से कहा कि वह स्वय ही पूछ ले, मुझसे तो यह रूठ गया है। इस पर वह ,यद्यपि कुछ झेप के साथ, नाक भौ चढाता हुआ चला गया। सभव है बन्दर श्लीलता-अश्लीलता से ऊपर उठ गया हो, किन्तु जैनेन्द्र जी को आज भी, जब कि वे ऊपर उठने के प्रयास मे है—सुनीता को श्लील सिद्ध करना पडा है। इन दार्शनिक बन्धुओ के विचार क्रिया और कर्ता की, विषय और विषयी की सजीव सबध स्थिति से उत्पन्न नही होते, प्रत्युत विषय से दूर ज्यामिति की प्रतीक पद्धति (Geometrical symbol process) के समान Suppositions होते है जिन्हे ये निश्चयात्मक वाक्यो में प्रकट करते हैं।

प्राकृतिकतावादी—'आध्यात्मिक' यथार्थवादी—किसी और ही स्विच को दबाते है। उनके विचारो मे मनुष्य सभ्यता का मुलम्मा चढाकर महज दम्भ कर रहा है और इस प्रकार कष्ट पा रहा है। उपचेतन मे दबी वासनाए 'कुनमुनाते कीडो' के समान, उसे आज भी पशु सामान्य भाव-भूमि पर ही ला खड़ा करती हैं। अत· उसका पवित्र कर्तव्य है कि वह इस खोल को उतार फैके और पन्त जी के अनुसार 'पशुओ से प्रणय-कला' सीखें। इस संक्रामक विचार धारा को हम स्थापना और 'छायावाद की पृष्ठभूमि में' काफी उधेड आये है अत. पुन. यह लिखना आवश्यक नही। हिन्दी साहित्य मे श्री इलाचन्द्र जी इस सप्रदाय के प्रवर्तको में मुख्य है। उनका कोई वाक्य उद्धृत करना उनका अपमान करना होगा क्योकि उन्होंने तो 'तन-मन-धन' से इसका ही प्रचार किया है। इधर नवबर के

नया समाज मे उनका 'साबुन का बुल्ला' लेख प्रकाशित हुआ है, जो पठनीय है।* इस सप्रदाय ने जो काव्य हिन्दी साहित्य को दिया है वह स्थूल अग वर्ण मे लालसा के कुत्सित दहन का वीभत्स प्रदर्शन है। इलाचन्द्र जी सौभाग्यवश काव्य क्षेत्र मे तो नही आए, किन्तु उपन्यास और कहानी क्षेत्र में इन्होंने जो कुछ दिया उसे हिन्दी साहित्य कभी नही भूलेगा। आज के सास्कृतिक ह्रास के युग मे,जब कि एक ओर श्रम-विक्रय की पीडा सर्वहारा वर्ग को सौन्दर्य-बोध और कलात्मक चेतना से वचित कर रही है और पूँजीपति वर्ग प्रतियोगिता की तीव्रता तथा वर्ग सघर्ष की कटुता से त्रस्त है, इलाचन्द्र जी के साहित्य की बडी माग है और वे आप लिखकर और दूसरो से लिखाकर अपना महान् कर्तव्य पूरा कर भी रहे है। इस ओर के काव्य निर्माताओ मे सर्वश्री अंचल, बच्चन, सुमित्रानन्दन पन्त और कभी कभी श्री अज्ञेय जी भी बडा बढ चढकर भाग ले रहे है। इनके पीछे श्रद्धालु शिष्यो की एक बडी श्रेणी समिद पाणि मन्त्रोच्चार करती काव्य-यज्ञ-शाला को मुखरित कर रही है। अचल जी बहुत दिनो से प्रगतिवादी होने का उपक्रम करते रहे हैं और आज भी करने का प्रयास करते है, किन्तु वे अभी इससे (प्राकृतिकतावाद से) मुक्त नही हुए, उनकी प्रगतिवादी कविताए एक जबरदस्ती के भार से लदी हुई हैं। यद्यपि प्रेयसि का नाम ले लेकर वे रस सृष्टि का पूर्ण प्रयास करते हैं। बच्चन जी ने तो जैसे आजीवन इस व्रत को निभाने का निश्चय किया है। अस्तु स्वच्छन्दतावादियो ने भी (जो राजनीति मे सोशलिस्ट है) इस ओर उन्मुक्त दान दिया है और आज ओर भी उत्साह से आगे बढ रहे है। श्री शम्भुनाथ सिह इस ओर काफी योग्यता प्रदर्शित कर रहे है। अपने एक-एतत् संबधी लेख मे वे गिरिजा कुमार का निम्न पद्य उद्धृत कर जो टिप्पणी करते है वह पठनीय है—

* नूतन रहस्यवाद में इसकी आलोचना की है।

और ब्लाउज महीन चटकीले,
जिसमें थे पड़ गए पहिनने से,
चिन्ह रंगीन गठीले अंगों के,
सभी कोमल-कठोर उतार चढ़ाव।

"ये कविताए यथार्थ जीवन से सबधित हैं। वर्ण्य वस्तु को, इन्द्रियो के विषयो का चित्रण करके, मानस प्रत्यक्ष कराया गया है। स्थूल के भीतर निहित सूक्ष्म का उद्घाटन भी जरूरी है, पर स्थूल का सम्यक् चित्रण करके पाठकों की सवेदना शक्ति को परिष्कृत और अभ्यस्त बनाना उससे भी अधिक जरूरी है। यह कार्य न तो छायावादियो ने किया और न फुटकल कवियो ने।"* और अब इसे सोशलिस्ट स्वच्छन्दतावादी करेंगे। किन्तु स्थूल का यह चित्रण, जिसमे ब्लाउज मे से उभरते अगो का उतार चढाव दिखाया गया है, सवेदना से और विशेषत उसके परिष्कार से क्या संबध रखता है? ऐसा चित्रण सवेदना नही लिप्सा को ही जागृत कर सकता है। इसी लेख मे इस प्रकार के अनेक पद्य है, जिन्हें उद्धृत करना व्यर्थ विस्तार करना होगा। जो भी हो, नव-सस्कृति सघ के ये सरक्षक काव्य के नाम पर हमे जो कुछ दे रहे है वह किसी भी प्रकार से स्पृहणीय नही हो सकता। इनके प्रेम काव्यो मे जुगुप्सा तथा 'राजनैतिक काव्यों' मे निर्जीवता होती है क्योकि इनमे संवेदना नही होती। हा, श्री छोटेलाल भारद्वाज की कविताए अवश्य सराहनीय होती है।

यूरोप में, और हमारे यहां भी, पूँजीवादी अन्तर्विरोधो से व्याकुल कुछ पूँजीवादी बुद्धिजीवियो ने अतीत की ओर लौट चलने का नारा लगाया है। इनकी मुख्य शिकायत विज्ञान से है, क्योकि ये पूँजीवाद को इन सामाजिक विकृतियों और अन्तर्विरोधों का कारण नही समझते। डी० एच०

* जनवाणी, नवम्बर १९५०।

लारेंस लंदन के बडे बडे भवनो और विशेषत. मिलो की चिमनियो को मानवता के लिए विज्ञान का एक बहुत बडा अभिशाप समझते है। 'उल्लास का कही नाम नही, प्रकृति के रूप सौदर्य के लिए कही आन्तरिक प्रेरणा नही', वे अनुभव करते है, और वे समझते है कि यह विषमता के कारण ही है, किन्तु उनके विचार में इनका सुलझाव विज्ञान की समाप्ति तथा प्राकृतिक जीवन में ही मिल सकता है। वे कहते है—

The utter negation of the gladness had soaked through everything. The utter negation of the gladness of life, the utter absence of the instinct for happy beauty which every bird and beast has.

किन्तु पक्षी या पशु जीवन और उसके उल्लास का उस प्रकार से अनुभव नही कर सकते जैसा कि लारेंस ने कहा, उनकी प्रसन्नता या उदासी केवल स्नायविक प्रतिक्रिया का परिणाम होती है। इसी प्रकार आकृति-सौन्दर्य की 'प्रवृत्ति' मुझे समझ नही आई, क्योकि पशु मे सौन्दर्यानुभूति का होना सभव है, ऐसा मेरा विचार नही। सौन्दर्य के लिए प्रवृत्ति Instinct नही भावना उपस्थित होती है, अतः पशु मे यह सभव नही। फिर उल्लास और सौन्दर्यानुभूति की क्षीणता का कारण विज्ञान को बताना तो और भी सशयास्पद है। विज्ञान मनुष्य की शारीरिक शक्ति है जिसके द्वारा वह बाह्य प्रकृति से अधिक सफलता से संघर्ष कर सकता है। आन्तरिक प्रकृति से स्वतन्त्रता इस पर निषेधात्मक रूप मे आश्रित नही और न उल्लास से ही उसका विरोध है। यह पूँजीवाद का तो कारण हुआ, किन्तु विज्ञान स्वय पूँजीवाद नही। विज्ञान पूँजीवाद का कारण वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था के पूर्व-कारण रूप मे होने से ही हुआ। इससे कैसे व्यापक निराशा और पलायन भावना की सृष्टि हुई, इसे हम पीछे, छायावाद की पृष्ठभूमि मे, देख ही आए है। हमारे यहा श्री अज्ञेय

जो, आज भी उसी प्रकार के विचारो की आवृत्ति कर रहे है। उनका कहना है "मशीन से केवल रोजगार ही नही मारा जाता, मशीन से मानव का एक अग ही मर जाता है , उसकी संस्कृति नष्ट होती है और उसका स्थान लेने वाली कोई चीज नही मिलती। मशीन युग मे मानव का जीवन दो अवस्थाओ मे बॅट जाता है—एक जिसमे मेहनत है पर जीवन स्थगित है. दूसरा जिसमें जीवन को पाने की उत्कट प्यास है।

"यह नही है कि पुराने जमाने मे अवकाश नही होता था। निस्सदेह तब भी किसान लोग सुस्ताने बैठते थे, लेकिन यह सुस्ताना जैसे जीवन का उपाग था उसका ध्येय या अन्त नही।"*

हॉ, विज्ञान से यह समस्या उत्पन्न हुई है, क्योकि विज्ञान ने उत्पादक और उपभोक्ता के बीच एक बडी खाई खोद दी है और स्व-निर्मित वस्तु तथा निर्माता में सबध-विच्छेद कर दिया है। श्रम-काल मे मजदूर का न तो अपने श्रम पर कोई अधिकार होता है और न स्व-निर्मित वस्तु पर; उसे केवल उपलब्ध वेतन तथा प्राप्य अवकाश मे ही रुचि हो सकती है, यही कारण है कि कार्य-काल मे उसका जीवन स्थगित रहता है। फिर उसके अवकाश के क्षणों मे भी विश्राम की और संस्कृत अभिव्यक्ति की कोई सुविधा नही होती, अत स्वभावत ये विश्राम क्षण उसे विकृत अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करेंगे, क्योकि न तो उसे इस अवकाश मे ही चिन्ता से अवकाश है और न जिस श्रम के लिए तैयारी हो रही है, उसके प्रति उत्साह। किन्तु तो भी उसके मनोरजन की प्रकृति कम से कम सत्तर प्रतिशत मनोरजन के उपलब्ध साधनों पर ही अवलंबित होगी, यद्यपि यह ठीक है कि मनोरंजन और कार्यकाल विच्छिन्न तब भी रहेगे ही और इसका बडा प्रभाव होगा ही। किन्तु इसका कारण श्रम-विक्रय है।

* त्रिशंकु, पृ०१५।

किन्तु क्या इस विच्छिन्नता का कारण विज्ञान है? जैसा कि अज्ञेय जी कहते है ? यह ठीक है कि ट्रैक्टरो से सामूहिक कृषि करने वाले साम्यवादी कृषक और लकडी के हल से व्यक्तिगत तथा पूर्व पुरुषो की धरती जोतने वाले सामन्त युगीन कृषक की सास्कृतिक स्थिति मे महान अन्तर होगा क्योंकि साम्यवादी समाज का कृषक रूढि-मुक्त, जीवन जगत के विषय से अभिज्ञ और जागरूक तथा दासता और प्रतिस्पर्धा से स्वतन्त्र होगा। उसे घर में आने पर पत्नी से डडे से बात नही करनी होगी क्योकि उसकी पत्नी उसके समान ही सस्कृत होगी; और न उसे गाली गलौच तथा हत्या आदि मे ही सास्कृतिक विलास करना होगा ।

विज्ञान पूँजीवाद का कारण बना, किन्तु इससे सामन्तवादी आर्थिक सबधो को जो धक्का लगा और उससे जो सास्कृतिक परिवर्तन आए वे सामन्तवादी बधनो मे जकडे युग के लिए वरदान ही साबित हुए जैसे आज साम्यवाद । पूँजीवादी अवकाश की समस्या तथा कार्यकाल मे जीवन से विच्छिन्नता का भी उपयुक्त समाधान साम्यवाद मे ही हो सकेगा. जैसा कि हम पीछे देख आए है ।

अज्ञेय जी—तथा उनके अनुकर्ता या अनुकृत लेखको—के चिन्तन का मूल-आधार 'निरपेक्षता' या 'विषय-निरेक्ष' प्रतीक पद्धति है, जिससे वे किसी भी घटना या स्थिति को ठीक तरह से नही देख पाते, कार्य-कारण सबध नही खोज पाते । उद्धृत वाक्यो मे भी उन्होंने सास्कृतिक समस्या को इसी प्रकार देखा है । विज्ञान को आर्थिक और सांस्कृतिक समस्या का पृथक् पृथक् जनक उल्लेख कर उन्होंने समस्या को मूलत ही कही और ले जा पटका और इससे उन्हे पीछे की ओर लौट चलने को कहने का अवसर मिला । विज्ञान से किस प्रकार पूँजीवाद को प्रोत्साहन मिला और तब कैसे सास्कृतिक समस्या उपस्थित हुई, इसे न समझकर, आज की इस समस्या का क्या समाधान हो, यह भी समझना असभव हो गया । किन्तु सस्कृति

को विज्ञान से आहत मानकर वे उसे आर्थिक सबधो से निरपेक्ष मानने का क्यो आग्रह करते है ? अवकाश की समस्या क्या आर्थिक समस्या का ही एक भाग नही ? अपनी इस अतर्कपूर्ण स्थिति के कारण आगे चलकर उन्हे 'बोध', भावना और विचार को भी विषय-निरपेक्ष कहना पडा, क्योकि उनके विचार मे चेतन 'केवल' स्रष्टा है। वे कहते है 'ससार की अनुभूतिया और घटनाए साहित्यकार के लिए मिट्टी है, जिनसे वह प्रतिमा बनाता है। वह निरी सामग्री है, उपकरण है। वह कलाकार को बॉध नही सकती, कलाकार उसका मनमाना प्रयोग कर सकता है, मन चाहे अश को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है।* "किन्तु यह मानते ही कि कलाकार अपने मे पृथक् किसी वस्तु पर क्रियाशील होता है, वे मानने को बाध्य है, कि कलाकार उन वस्तुओ की प्रकृति से बधा है, वह 'मन चाहा' सृजन नहीं कर सकता। और यदि वे यह मानते है—और उन्हे कलाकार की कला को उसके स्वभाव की, चिन्तन-दिशा की अभिव्यक्ति मानते हुए मानना पडेगा भी—कि अभिव्यक्ति कलाकार के स्वभाव और सामर्थ्य का प्रतिबिम्ब है तो उन्हे यह भी मानना होगा कि उस 'सामग्री' के अतिरिक्त उसकी अनुभूति या ज्ञान कुछ भी नही, क्योकि अभिव्यक्ति सामग्री के गुण-धर्म और सीमा से निर्धारित होकर कलाकार के स्वभाव और सामर्थ्य को भी निर्धारित करती है। अनुभूति आकृति से और आकृति वस्तु से बधी है, और इस प्रकार वस्तु आकृति के द्वारा हमारी अनुभूति और अभिव्यक्ति को प्रभावित करती है। अर्थात् कलाकार का 'मन चाहा' उस 'सामग्री' की स्थिति से अथवा कलाकार की परिवृत्ति से अधिक कुछ नही।

किन्तु वे इस निरपेक्षता को और भी आगे बढ़ाते है और कहते है "फिर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दुखी और सुखी की कोई आत्यंतिक श्रेणिया

* त्रिशंकु, पृ० ६२।

तो जीवन मे है नही। दुःख अपूर्णता और पीडा--ये सर्वव्यापी है। ग॰ ने इनका ठेका नही लिया।" किन्तु जनाब, अमीर गरीब के बारे मे लिखन - का अर्थ विशेष व्यक्तियो के बारे मे लिखना नही है, अमीरी और गरीबी के बारे मे लिखना है जिनसे व्यक्ति पीडित या सुखी है। जो व्यक्ति गरीबी से मुक्त हो जाएगा वह 'गरीब' नही होगा, जैसे जीवन से मुक्त सजीव ओर कला से मुक्त कलाकार नही होगा। अत 'गरीबो' के ठेके का प्रश्न नही, प्रश्न है इस अवस्था को मिटाने का। ये अवस्थाए निरपेक्ष नही, सापेक्ष और ठोस व्याप्तिया है। इनके आत्यतिक न होने से इनका न होना सिद्ध नही और न हम ही इन अवस्थाओ के प्रभाव से मुक्त हो जाते है, क्योकि आत्यतिक तो कुछ भी नही, जीवन भी नही और न कला ही, जिसे अक्षुण्ण रखने की अज्ञेय जी वकालत करते है। क्योकि कोई भी आजीवन न तो कलाकार रह सकता, और न कला-रहित होना ही अवश्यम्भावी है।

इन सभी दार्शनिक उक्तियो से स्पष्ट है कि ये सर्वथा निराधार और पूजीवादी विडम्बनाए है। इनका हमारे साहित्य मे इतना बोलबाला है कि आज ये ही समस्याए बन उठी है। बडी सूक्ष्मता से ये वर्ग-सघर्ष को तिरोहित कर कल्पना मे प्रवासित कर देती है, जो कल्पनाए यथार्थ से विच्छिन्न और अतएव निर्जीव है।

३

हमने पीछे भावना और विचार, सत्य और सौन्दर्य तथा व्यक्ति और समाज से लेकर नैतिकता और प्राकृतिकता तथा धर्म और दर्शन और इनसे प्रभावित होते हुए काव्य इत्यादि सभी विषयो पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार करने का प्रयास किया। मै नही कह सकता, मार्क्सवाद की दृष्टि से अथवा यथार्थ दृष्टिकोण से मेरे इन विचारो मे कहा तक समीचीनता है, किन्तु मेरे विचार मे यही मार्क्सवादी, और यथार्थ भी, दृष्टि-

कोण है । मार्क्सवाद का मूल आधार है भौतिक साम्यवाद ऐतिहासिक-समाज-दर्शन और परिवृत्तिवाद (environmentalism) । यह दृष्टिकोण केवल सैद्धातिक नही, प्रधानत क्रियात्मक है, क्योकि वह समाज को, और अतएव व्यक्ति को भी, एक क्रियात्मक सजीव शक्ति मानता है, जो सपूर्ण अतिविधानो (superstructure) का निर्धारण करती है ।

आज हमारा युग सक्रान्ति की अवस्था मे है, क्योकि आर्थिक-विकास एक नवीन दिशा की ओर सकेत कर रहा है, अतएव साहित्य और दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र सभी क्षेत्रो मे नूतन और पुरातन के तीव्र सघर्ष की आवाज सुनाई पड रही है । काव्य इससे अछूता नही रह सकता, क्योकि कवि अपनी परिवृत्ति से बच नही सकता ।

काव्य सामाजिक अनुभूति का उपयुक्त-मान-दण्ड है, अतएव सघर्ष काल के काव्य की दिशा और स्थिति का अर्थ है, सामाजिक सघर्ष की अनुभूतिगत दिशा और स्थिति । किन्तु यह आवश्यक नही कि प्रत्येक छन्द काव्य हो, अतएव छन्दो का परिमाण अनुभूति के परिमाण का उपयुक्त मापक नही । काव्य की आवश्यक और प्रथम शर्त है कि वह अनुभूत हो (किन्तु यह नही भूलना चाहिए कि अनुभूति और लिप्सा मे बडा अन्तर है) और पाठक की अनुभूति को भी जागृत कर सके । यदि उसमें यह गुण नही तो वह कितना ही प्रभावशाली और कल्याणकारी क्यो न हो, काव्य नही हो सकता । किन्तु केवल अनुभूति प्रधानता भी महान काव्य का लक्षण नही अर्थात् न तो 'सखि यह रातो की रात, नही सोने की' इत्यादि गीत महान् काव्य है और न 'रात रात भर अब्बुल्ला को नीद नही आती है' इत्यादि छन्द काव्य । सक्षेप मे, किसी भी शब्द को काव्य होने के लिए अनुभूति से अनुप्राणित होना होगा और किसी भी काव्य को महान होने

के लिए सामूहिक कल्याणाकांक्षा, सामूहिक सस्कृति तथा सामूहिक आवश्यकता से अनुभावित ।

आज पूजीवाद का अनिवार्य परिणाम-वर्ग-सघर्ष, तीव्रतम है, अत आज का काव्य पूर्ण रूपेण सामूहिक काव्य नही हो सकता, क्योकि कवि एक वर्ग की ओर से अथवा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से—जो पूजीवादी दृष्टिकोण ही है—लिखने को बाध्य है, फिर भी ऐतिहासिक विकास के अनुसार प्रगतिशील व्यक्तियो के साथ आगे बढता हुआ कवि यदि वर्गीय सामूहिक चेतना की अनुभूति से अनुप्राणित होकर काव्य-सृष्टि करता है तो वह निश्चय ही एक महान् काव्य को जन्म देगा ।

निरन्तर तीव्र होता हुआ वर्ग सघर्ष वास्तव मे हमारी जागरूकता का ही परिणाम है, इस तीव्रता और कटुता का साहित्य मे प्रतिनिधित्व सर्वहारा वर्ग की ओर से हमारा प्रगतिवादी काव्य कर रहा है। आज के व्यापक निराशा के वातावरण मे, जो पूजीवाद की मरणशील प्रवृत्तियो के कारण उत्पन्न हो गया है, प्रगतिवादी काव्य ही सपूर्ण सजीवता और प्रगति का सूत्रधार है । कुछ लोग इस पर रूसी या एकोन्मुखी (सर्वहारा वर्ग की ओर) होने का आरोप लगाते है, किन्तु मै उनसे सहमत नही हूँ, क्योकि आज यही समस्या सर्वप्रमुख है, और वे लोग, जो इस पर आरोप लगाते है, वास्तव मे या तो अपनी व्यक्तिगत दुर्बलताओ और (Neurotic) स्नायविक विक्षिप्तताओ से प्रताडित होकर जुगुप्सा का काव्य चाहते है या संघर्ष को बचाकर पूजीवाद को स्थायी रखने का प्रयास करते है । मेरे विचार मे 'रूसी' या एकोन्मुखी न होना ही सशयास्पद है, जैसा कि हम इसी अध्याय के प्रथम और द्वितीय भाग मे देख आए है । अत प्रगतिवादी काव्य का आधार अत्यधिक प्रशस्त और सभावनाए अत्यत उज्वल है ।

किन्तु दुर्भाग्यवश इस क्षेत्र मे कुछ विशेष-व्यक्ति अपना आधिपत्य इतनी दृढता से जमाए बैठे है कि और किसी का इस ओर आ सकना और

आगे बढ़ सकना इन्ही की क्रूर इच्छा-अनिच्छा पर निर्भर है। ये लोग साहित्य में भी राजनीति के समान ही—एक ऐसा सगठित मोर्चा बनाने की बात करते है, जिसके सदस्यो का काम बस केवल पार्टी के अनुशासन मे जकडा हुआ हो, वह पार्टी यदि चीन के पक्ष मे लिखने को कहती है, तो इनकी अनुभूति की धारा चीन की ओर प्रवाहित होने लगे और किसी अन्य के विपक्ष में, तो उस पर प्रहार के लिए वज्र उठा ले। सभवत मेरी इस बात से बहुत से प्रगतिवादी शत-वज्र-प्रहरण के लिए सजग हो उठेगे, किन्तु वे अपने से ही पूछ देखे, क्या यह सत्य नही ? कुछ दिन पूर्व (२०-९-५० को) मुझे इलाहाबाद मे पहाडी जी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, मैंने उनसे पूछा, "क्या प्रगतिवादी इसी प्रकार अनुभूति-शून्य कविताए और कलात्मक-बोध Sense of art से रहित कहानिया-नाटक आदि देकर अपने आपको कृतार्थ समझते रहेगे ? मुझे तो आप लोगो का अधिकाश साहित्य पसन्द नही। जैसे श्री अमृत राय की कहानिया प्राय: स्पीचे होती है, जिनमे अस्वाभाविक रूप से एक आदर्श व्यक्ति को सफल होते हुए दिखाया गया होता है, तथा छन्द लेखको के छन्दो मे एक ऊपरी बौखलाहट मात्र होती है।" इस प्रकरण मे मैंने नागार्जुन की "रात रात भर अब्बुल्ला को, नीद नही आती है" इत्यादि कविता उद्धृत की। उन्होने इसे स्वीकार करते हुए कहा "इसके लिए हमे पार्टी इन्स्ट्रक्शन्स थी, हम पार्टी मेंबर है, अत. हमे इसे स्वीकार करना पडता था। अब पार्टी का नया नेतृत्व कायम हुआ है, इसलिए अब वैसा साहित्य हम आपको नही देंगे। अब आप नया साहित्य के नवीन अको मे भी दूसरी ही बात देखेंगे।" और उन्होने प्रकाशन के लिए गए हुए नया साहित्य की विषय सूची दिखाई। मैंने सराहना की। और तब उन्होंने बडे जोश से कहा, "माओत्से तुग का लेख आ रहा है, हमने नया साहित्य मे भी उसका एक अंश दिया है, आप उसमें देखेंगे, हम भी अब अपनी नीति उसी के अनुसार निर्धारित कर रहे

है।" इससे और अधिक दयनीय बात और क्या हो सकती थी, किन्तु वही बात हुई; अब हम प्रत्येक प्रगतिवादी पत्र मे चीनी कम्युनिस्टो के लेख या उनके उद्धरणो से अलकृत लेख-मालाए तथा अधिकाश ऐसी ही कविताएं और कहानिया पा रहे है, जिनमे नव-चीन की गुण गाथा हो। नया चीन सचमुच ही हम कम्युनिस्टो के लिए वरदान जैसा है, क्योकि इससे हमारी शक्ति मे अपार वृद्धि हुई है। किन्तु इस प्रकार अपनी मौलिकता को छोडकर बौखला पडना तथा साहित्य को कुछ गरम-नरम शब्दो का सग्रह मात्र समझ बैठना, लाभप्रद नही हो सकता। चीन मे कम्यूनिस्टो ने कैसे प्रगति की, अब वे किस प्रकार पुर्निर्माण कार्य मे सफल हो रहे है, यह न दिखाकर उनके शब्दो को आदेश रूप मे ग्रहण करना तथा कविता और कहानियो को उनसे सजाना बुद्धिमत्ता नही।

नया चीन हमारी कविता का विषय हो सकता है और होना ही चाहिए, सर्वहारा की ओर से प्रहरणशील कविताएँ भी हमारा लक्ष हो सकती है और यही होना भी चाहिए, किन्तु ऐसा काव्य लिखने के लिए आवश्यक है कि ये परिवर्तन और इनकी महत्ता हमारी अनुभूति मे उतर चुकी हो। पर प्रगतिवादी कविताओ मे ऐसी दो-चार ही कविताएँ चुनी जा सकती है। इसकी शिकायत मैंने नागार्जुनजी से की थी; मैंने कहा "आप लोगो की कविताओं मे काव्यत्व का, अनुभूति का, अभाव होता है, अतएव उनमे कला का वह निखार नही होता जो अपेक्षित है।" उन्होने कुछ चिढ कर कहा "क्या सभी कविताएं ऐसी है ?" "नही" मैंने कहा "किन्तु अच्छी कविताएं बहुत कम है, जैसे केदार के दो-तीन जन गीत, शकर शैलेंद्र के दो-चार लोग गीत और आपके एक-दो व्यंग्य; बस।" इसे स्वीकार करते हुए उन्होने काव्य के प्रति प्रगतिवादी दृष्टिकोण उपस्थित करने का प्रयास किया "फार्म (Form) तो आखिर अच्छी होनी ही चाहिए (उनका अर्थ कला से था) इसे हम भी मानते है, क्योकि इसके बिना कोई

भी कृति प्रभावशाली नही हो सकती ।" मुझे इस पर बड़ी आपत्ति थी, क्योंकि मेरे विचार मे कला फार्म नही, चेतना है, सौन्दर्य चेतना का ही पर्याय। मैं कबीर और मीरा के गीतो मे केशवदास से कही अधिक कलात्मकता देखता हूँ। किन्तु मै मौन रहा।

अस्तु, प्रगतिवादियो की इस अधी और कठोर सगठन प्रणाली और कलात्मक-बोध के प्रति इस नकारात्मक दृष्टिकोण के कारण ऐसे अनेक लेखक उनसे दूर हो गए या होने को बाध्य हुए, जो अपने आपको इनका साथी समझते थे और प्रगतिवाद को ही एकमात्र वर्तमान काव्य की जान समझते थे। इसका अर्थ यह नही कि गलत की कटु आलोचना नही होनी चाहिए। अवश्य होनी चाहिए, किन्तु शत्रु के समान नही, और इसी प्रकार अपनी भी कटु आलोचना होनी ही चाहिए। इसके लिए टाल्सटाय की लेनन द्वारा आलोचना आदर्श हो सकती है। प्रगतिवादी अपने सगठन के विश्वस्त मैंबरो की तो कभी आलोचना नही करते और यदि करते ही हैं तो उनके मुह में पहिले माखन-मिश्री देकर और उनसे अपनी जुबान भी नरम और मीठी कर के, यह मृदुता उपाहास्पद रूप तक ग्रहण कर लेती है।

आजकल प्रगतिवादियो ने माओत्सेतुग का लेख पढ लिया है और अब वे पहिले से भी अधिक छिछलेपन मे (जितना उन्होंने लक्ष्मण-लकीर खैंच कर दिखाया था) नरेन्द्र शर्मा आदि दूसरे लेखको को बुला रहे है, वे भी कोरिया या चीन के लिए दो तुक भिड़ा कर इनको कृतार्थ कर देते हे यह साफ तौर पर एक गलत तरीका है। अपने आन्दोलन को अधिक व्यापक बनाने का अर्थ प्रभावहीन बनाना नही होना चाहिए। इसका अर्थ यह नही कि इन्हें न आने दिया जाय, प्रत्युत् यह कि इनको अपनी कविता के प्रति ईमानदार होने को कहा जाय, और यह नागार्जुन इत्यादि से भी कहना चाहिए।

इस अनाचार और स्वेच्छाचार दोनों को बन्द करने का केवल एक ही उपाय है, स्वतंत्र आलोचना को उत्साहित करना यद्यपि प्रगतिवाद की सीमा मे ही। नरेन्द्र हो या नागार्जुन यदि वह गलत लिखता है, उसकी कटु आलोचना होनी चाहिए। केवल दो-चार ऊपर के कवियो से हमारा (प्रगतिवादियों का)सतरण नहीं हो सकेगा। प्रगतिवादी आलोचना दबी घुटी और गतानुगतिकता के कारण नितान्त अस्पृहणीय हो गई है। जो श्री रामविलास लिखते है उसी को प्रकाशचन्द्र जी दुहराते है और वही सभी प्रगतिवादी कवियो के छन्दों में बजने लगता है। यदि कोई नवीन आलोचक अपने स्वतंत्र मान-दण्डो के साथ आना चाहता है, तो प्रगतिवादी खेमों से उसे प्रतिक्रियावादी घोषित कर दिया जाता है। स्वतत्र आलोचना को दबा कर हमें अधिक सफलता की आशा नहीं करनी चाहिए चाह कितने ही नवीन कवि-कीरोसे हम प्रगतिवादी छन्द रचवाते रहें। अपने दायरे को विस्तृत करने का भी यही तरीका है कि हम प्रत्येक ईमानदार लेखक को साथ लें और कडी से कड़ी आलोचना द्वारा अपने और उनके विचारों में संशोधन का अवसर बनाए रखें।

प्रगतिवादी आलोचना अभी तक प्राय: मताभि व्यक्तियों से आगे नही बढ़ी, ये लोग 'आभिजात्य वर्ग की कला', और 'सर्वहारा की कला' जैसे कुछ 'टिपिकल Typical शब्दों का प्रयोग कर किसी भी विचार या कविता का खण्डन कर देते है। किन्तु यह आलोचना नही। किसी बात को गलत प्रमाणित करने के लिए हमें उपयुक्त और पर्याप्त तर्क देने चाहिएं। आलोच्य पद मे कौन सी बात आभिजात्य वर्गीय है और कैसे गलत है यह भी बताना चाहिए, अन्यथा वह सब निरर्थक और महत्व शून्य ही रहेगा प्रकाशचन्द्र का 'आभिजात्य वर्ग की कला' लेख इस टिपिकल विद्वत्ता का अच्छा प्रमाण है, और वास्तव में अधिकांश प्रगतिवादी लेख इसी कोटि के होते है। यह सब तब और भी उपहासास्पद बन जाता है जब सभी जानते

हों कि लेखक स्वयं कौन वर्गीय है और अपनी अयोग्यता के कारण ही ऐसे शब्दों के द्वारा लेख को सजीव बनाने का प्रयास कर रहा है।

एक बार मुझे श्री गगा प्रसाद पाण्डेय से मिलने का अवसर मिला। मैंने उनसे नया पथ—प्रगतिवाद का—अपनाने का अनुरोध किया। पहिले तो उन्होंने कुछ सैद्धान्तिक आपत्तियाँ की और मैंने यथासम्भव उत्तर देने का प्रयास किया, आखिर अन्त मे उन्होने मुझसे सहमति प्रकट की। इसी अवसर पर उन्होने मुझे एक 'माननीय' प्रगतिवादी लेखक के लिए बताया कि "एक बार उन लेखक महोदय ने महादेवी जी की 'मैं नीर भरी दुख की बदली' कविता में नश्वरता की भावना देखी और लिख डाला। मैंने उन्हे कहा कि 'यह कविता तो मेरी है ?' इस पर वे कुछ खिसियाए और क्षमा माँगते हुए बोले, "मैंने कही शिवदान सिंह चौहान के लेख मे ऐसा पढ़ा था, उन्होने तो यही लिखा था, इसीलिए गलती हो गई।" मेरे विचार में पाण्डेय जी ने यह सब 'घड़ा' न होगा, कम से कम मुझे इस पर कोई सन्देह नही। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रगतिवादी लेखको का अध्ययन नही, ऐसा व्यक्ति विशेष के लिए ही कहा जा सकता है, किन्तु इससे भी निषेध नहीं किया जा सकता कि गतानुगतिकता, दबाव, संकीर्णता और 'बुर्ज्वा' इत्यादि शब्दो का दुरुपयोग प्रगतिवादी आलोचना तथा अन्य साहित्यांगों का भी कुख्यात गुण है।

× × ×

प्रगतिवाद की आयु हिन्दी काव्य में पन्द्रह वर्ष से अधिक की हो चुकी है। इस अन्तर में संसार मे और हमारे देश मे भी बड़े बड़े परिवर्तन हुए। इस काल की प्रगतियों का सब से बड़ा और प्रभावशाली परिणाम है वर्ग-संघर्ष की तीव्रता। यह तीव्रता हमारे काव्य मे समान रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। छायावाद की, अथवा पूंजीवादी आध्यात्मवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पहिले पहिल प्रत्येक स्थूल वर्णन को मार्क्सवादी समझा गया।

यहाँ तक कि अनेक बडे बडे आलोचक और कवि भी मार्क्सवाद को भौतिकवाद मात्र समझ बैठे, जिसमें अर्थ के साथ साथ नारी भी साझी होगी। साम्यवाद की यह कल्पना बहुतों को बडी सुखद मालूम हुई। यह भ्राति यहाँ तक बढी कि पन्तजी ने भी युगवाणी मे प्राकृतिकतावाद को साम्यवाद के अभिन्न अंग के रूप में देखा नगेन्द्र जी आज भी फ्रायडवाद को प्रगतिवाद का अभिन्न अग मानते हैं, जैसा कि उन्होने अपनी 'विचार और अनुभूति' पुस्तक मे युगवाणी से उद्धरण दे कर लिखा है।

किन्तु समय तथा वर्ग सघर्ष की तीव्रता के साथ साथ ये भ्रान्तिया स्पष्ट होती गई। उस समय हमारे साहित्यिक और राजनीतिज्ञो को बृटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध लडना पड़ रहा था, अतः मार्क्सवादियो के लिए भी यही सब से बड़ी समस्या थी। प्रायः इसी कारण से वर्ग-संघर्ष भी स्पष्ट न था, क्योकि उस समय मुख्य शत्रु विदेशी साम्राज्यवाद था। अतएव मार्क्सवाद उस समय सैद्धान्तिक ही अधिक हो सकता था। हस के प्रगति अक इसके अच्छे निदर्शन है, जहाँ सम्पूर्ण अतीत को सामन्तवादी षड़यंत्र कह कर कालिदास और तुलसीदास को बुरा-भला कहा गया है, और कही बड़े गलत तरीके से मार्क्सवाद की भौतिक व्याख्या को उपस्थित किया गया है। यह स्वाभाविक भी था क्योकि तब तक न तो मार्क्सवाद का ठीक अध्ययन ही हो सका था और न उसे क्रियात्मक आधार ही मिल सका था।

आज, जब कि हम विदेशी साम्राज्यवाद से सुलझ चुके है, वर्ग संघर्ष मुख्य हो उठा है। इन परिस्थितियो में काव्य में भी इसका जो व्यापक और गम्भीर प्रभाव अपेक्षित था वह नही हो सका। प्रगतिवाद की सीमाएँ तो अवश्य स्पष्ट हुई है, और यह स्वाभाविक भी था, किन्तु व्यापकता और गम्भीरता के अभाव ने इस स्पष्टता को उपहासास्पद ही बना दिया है। कुछ गिने चुने लेखको के अतिरिक्त, जो सभी प्रगतिवादी पत्रो को अलकृत करते है, कोई भी इस ओर आने का साहस नहीं करता, और यदि आ ही जाए,

तो उसे बाहर धकेल दिया जाता है। फिर ये प्रगतिवादी लेखक भी आलो-चकों के अंकुश में Poultry की पालतू मुर्गियों की तरह प्रतिदिन 'अंडेनुमा' एक ही साँचे में ढली कविताएँ और कहानियाँ प्रस्तुत कर देते हैं या करने को बाध्य हैं। इनमे अनेक लेखक तो यह भी नही जानते कि वर्ग संघर्ष या मार्क्सवाद क्या बला है। आज सभी दूसरे लेखक उद्भ्रांत से इधर-उधर की हाँकने मे व्यस्त हैं, अधिकाँश तो किसी प्रेयसी की कल्पना कर अपनी भावनाओ को गैस देकर ही अपने शब्दों मे संगीत भरने का प्रयास करते हैं, यदि उनको थोडी सी ठीक दिशा दी जा सके तो, उनमें जो रोगी नही है, प्रायः सब प्रगतिवाद के उपयुक्त सगठन में आ सकते है।

प्रगतिवादियों के पास सब मिलाकर तीन या चार कवि हैं; नागार्जुन, शैलेन्द्र, केदार और शील। केदार और शैलेन्द्र के कुछ थोडे-से पांच छः—लोक गीतों और नागार्जुन के दो-तीन व्यग्यो के अतिरिक्त किसी की भी सराहना नही की जा सकती। इनका भी वास्तव में अत्यन्त साधारण मूल्य है। व्यग्य कितना भी अच्छा क्यो न हो, महान् काव्य की कोटि मे नही आ सकता, उसका अल्पकालिक साधारण मूल्य होता है। फिर जहा व्यग्य भी न हों? एक उदाहरण ले—

> **पूरब-पच्छिम के गीधों की छिप न सकेगी साजिश,**
> **सारी दुनिया के आकाश को नोच खाने की साजिश,**
> **मिटते मिटते और नहीं तो, दो छिन टिक जाने की साजिश,**
> **अमन चैन की दीवारों से, ईंटें खिसका ने की साजिश।**
> **इनकी लाशों का ढेर तैरता दीख पड़ेगा,**
> **थूकों की निर्बन्ध नदी में।**

यहां साजिश और गीध शब्दों से क्रोध और घृणा जगाने का प्रयास है, जब कि कवि स्वयं तीव्रता से कुछ भी अनुभव नहीं कर रहा है, इसी से

इसमें वह गम्भीरता और वह ओज नही, जो इस प्रकार की कविताओ में स्वाभाविक है। 'थूकों की नदी' से कवि उन 'गीधो' के प्रति जुगुप्सा जगाना चाहता है, किन्तु इससे पाठक का अपना ही जी जुगुप्सा से मतलाने लगता है। इन भोड़े के और अनुभूतिहीन शब्दो की 'साजिश' लेखक के छिछलेपन को ही प्रकट करती है। इसी प्रकार—

नहीं तुम्हारा नहीं हमारा, काश्मीरी जनता का है काश्मीर,
जोड़ नहीं सकता अब कोई, हरीसिंह की यह फूटी तकदीर।
सोच नहीं सकता है ज्यादा, सठियाया अब कल का बांग़ीशेर,
धरती पर से नजर उठ गई, आसमान को रहा रात-दिन देख।
गिल्गित के अड्डे पर अमरीकी कुत्ता भूकेंगे
काश्मीर का बच्चा बच्चा अब इनपर थूँकेगा।

यहा भी वही बात है। जब भाव-प्रवेग तीव्र या गम्भीर हो, तब ऐसी वाचालता सम्भव नही स्पष्ट है कि कवि काश्मीरी जनता के दुख दैन्य से यहा विगलित नही है, काश्मीर की मासूम क्यारियो मे इस हत्याकाड से भी वह व्यथित नही, और न गिल्गित का अड्डा चला जाने से वह कोई पीडा का अनुभव कर रहा है; उसे कही अखबार में खबरे पढ़ते पढ़ते इस पर भी कवित्त लिखने का ध्यान आ गया, और बस! 'फूटी तकदीर, सठियाया शेर, अमरीकी-कुत्ता, तथा थूकेगा' आदि शब्दो मे घृणा की तीव्रता नही तीव्रता का बहाना है। इस तरह का गालीगलौज किसी भी काव्य के लिए लज्जाजनक है। फिर अब्दुल्ला को ऐसे गालिया निकाली गई है जैसे काश्मीर मे कम्यूनिस्टो को उसी ने रोका हो। मेरे विचार मे ऐसी शब्दावलि किसी भी साहित्य के लिए अत्यन्त लज्जास्पद है।

उद्धृत कविताएं प्रगतिवादी काव्य का ठीक प्रतिनिधित्व कर सकती हैं, ऐसी कविताएं किसी भी प्रगतिवादी पत्र मे पर्याप्त सख्या मे मिल सकेंगी, अतः ऐसे ही और उदाहरण देना व्यर्थ का विस्तार बढाना होगा। सम्भवतः

कुछ उग्र प्रगतिवादी इसे मेरी बुर्ज्वा प्रवृत्ति कहेगे, किन्तु कविता मे अनुभूति की माग बुर्ज्वा नही है। उत्तरी कोरिया मे अमरीकी गुर्गो की चोटो से आहत एक प्रगतिशील महिला की कविता से कुछ पक्तियां देखे और इन्हे नागार्जुन के 'काव्य' से मिलाए—

पहाड़ी गुलाब सफेद हैं, प्रत्येक ऋतु मे खिल खिल उठते हैं,
स्वच्छ जल पूरे वेग से बहता है, और कितना शीतल है यह स्थल !
बनों में घनी सुगन्धित घास है, और सेब के घने वृक्ष,
यह है मेरी जन्म-भूमि उत्तरी कोरिया, जहां चरागाहोंमें धुँधला प्रकाश फैला है।

× × ×

जन्मभूमि के एक छोर से दूसरे छोर की ओर जाने में,
मैंने सोचा कोई मुझे रोकेगा नहीं ।
एक समय यह देश रुदन करता था। फिर जंजीरे खुल गई, खुशी का दिन आया। समूचे देश ने खुशी का ढोल बजाया, अब कहां छुप गई तुम्हारी वे खुशियां ? आज रात अड़तीस वें अक्षांश पर, विलुप्त होते राष्ट्र की चीखें सुन रहे हो तुम ! किसके निर्णय की बाट जोहता है, कोरिया का अड़तीसवां अक्षांश ? ठंडी रात के समय, जन्मभूमि के सब दुख दर्द और चिन्ताएं काँप काँप उठती हैं, भाग्य से भयभीत !*

'मेरियन मो' की यह कविता कोरियन से इॅंगलिश और इंगलिश से हिन्दी मे अनूदित होकर गद्य रूप मे हमारे पास पहुची है, उसने ३८% अक्षाश से आगे बढने को तय्यार अमरीकी फौजो से पीडित कोरिया का चित्र अंकित किया है। इसे पढ़कर कोई भी 'मनुष्य' स्थिर नही रह सकता। इसका एक एक शब्द जन्मभूमि के प्यार, आहत निरीहों की पीड़ा और व्यथा से सजल है। क्या कोई भी प्रगतिवादी कविता इस की समकक्षता में रखी जा सकती है ? इसी प्रकार श्री प्रेमसागर शास्त्री की 'वैशाखी

* 'आजकल', नवम्बर १९५० से।

कल' कविता से एक पद्य देखें—

(था आत्ममग्न)

झुट पुटी सांझ, विहगों का दल, भरकर ऊँची नीची उड़ान,
था लौट रहा निजनीड़ों को, बीथी में शिशुओं की कल कल—
उल्लास भरी, वैशाखी कल। (होकर विषण्ण)
बोला मैं—"तेरी तनख्वाह है, पच्चीस रुपल्लि, जिसमें से—
पन्द्रह देने रामेसर के, गंगाधर के भी देने।" वह
गिड़गिड़ा उठा—"वैशाखी कल।"

(एक रुपया माँगने आया चपरासी)

इसे प्रगतिवादी पत्रों ने लौटा दिया था। इसमे यथार्थ चित्रण के साथ साथ कवि की कल्पना और इनमे व्याप्त अनुभूति की गम्भीरता वातावरण को अत्यन्त गहराई से हृदय मे उतार देती है। शास्त्री जी तो बूर्ज्वा हो सकते हैं, किन्तु सम्भवतः 'मेरियन मो' को कोई ऐसा कहने का साहस नही करेगा।

अस्तु, अब हम कुछ ऐसी कृतिया भी देखेगे जो प्रगतिवादी काव्य मे उत्कृष्ट स्थान रखती है, यद्यपि इन्हे हिन्दी काव्य की उत्कृष्ट या साधारण उत्कृष्ट कविताओ में भी नही रखा जा सकता। इन में सर्व प्रथम स्थान केदार और भजन-बिहारी के जन गीतो को ही मिलना चाहिए। इनकी प्रथम विशेषता भाषा गत है, यह मधुर होने के साथ साथ ग्रामीण गीतों की सी स्वाभाविक भी प्रतीत होती है। दूसरे इन मे एक अजीब मस्ती और अल्हड़पन है। एक व्यंग्य देखे—

गुम्बद के ऊपर बैठी है कौंसिल घर की मैना
सुन्दर सुख की धूप मधुर है, सेंक रही है डैना।
तापस-वेष नहीं है उसका, वह है अब महारानी,
त्याग तपस्या का फल पाकर, जी में बहुत अघानी।

इन पंक्तियों मे राजगोपालाचार्य का उपहास उड़ाया गया है। इन्हें पढकर पक्ष-विपक्ष का कोई भी पाठक हँसे बिना नही रह सकता। ऐसा सुन्दर कार्टून अन्यत्र मिलना असम्भव है। इसी प्रकार—

नीचे उसके, कौंसिल घर में मन्त्री है मद छाके,
एक एक से गुणी-धनी हैं, एक एक से बाँके।

यहाँ निचली पंक्ति विशेष पठनीय है। इन्हे पढ़ते हुए ऐंठते-मूछें मरोडते कार्टून सामने नाचने लगते हैं। इनमे भाषा तो प्राय. वही है जो हम बोलते है पर फक्कडपन विशेष है। इसी प्रकार भजन-बिहारी (सम्भवतः शैलेन्द्र) के गीत भी काफी व्यंग्यपूर्ण और चुभते हुए होते है। एक उदाहरण लें—

जानी तोर दिल का हवाल, सेठ मोटे लाल।
तोर कुट नितिया कमाल, सेठ मोटे लाल।
हमुरी कमैया पर भैसा जस मुटा गैल,
घेघरा निकला, गाल-फुट बाल, सेठ मोटे लाल।

इसी प्रकार—

चलो रे मन टेम्स नदी के तीर
टेम्स नदी पर लन्दन नगरी, सन्तन की भई भीर,
स्वर्ग धाम की राह बतावें, बेबिन गुरु गम्भीर।
मेरा मन कामिनी वेल्थ में, पर मैं हूँ कंगाल,
बिन छदाम क्या होगा, बेटी वाले बड़े अमीर।
एक जुगत है घर बेचूँ, करजा लूं कर लूँ ब्याह,
ट्रूमन सेठ बड़ा अच्छा है, कर देगा तदबीर।

ये दोनों गीत तीव्र व्यंग्य है, सम्भवत. सेठ और नेहरू भी इसे पढकर हँसे बिना नही रह सकते। दूसरे व्यंग्य में तो नेहरू की बड़ी बड़ी बातें

अदना-से आदमी की उछल-कूद से कुछ अधिक प्रतीत नही होती। एक व्यथा-गीत भी लें—

केकरा स्वराज हो, केकरी अजादिया, हमरो तो सेई मरनियाँ हो,
ऊंची दुकनिया के फीके पकनवा, कहि गैले बूढ़ पुरनियां हो।
देखि के फूला मदार, कैसे कहब कि बहार, अपुनो तो जेठ तपनियाँ हो।

इस गीत में व्यथित किसान याश्रमिक की आहें जैसे केन्द्रीभूत हो गई है। उसे कहा जाता है कि अब आजादी मिल गई है और तुम्हे अब कोई तकलीफ नही होगी। पर अगर तुम कुछ बोले तो हमारी आजादी की गने तुम्हारी छाती को छेद देंगी। ऐसा प्रतीत होता है जैसे आजादी की गोलियो से घायल किसान ही यह गीत गा रहा हो।

इस प्रकार से कुछ गीत साधारणत: अच्छे है, इनके अतिरिक्त गिरिजा-कुमार माथुर तथा नागार्जुन के गीत (व्यंग्य) भी अच्छे हे, किन्तु इनकी सख्या पांच-छ: से अधिक नही।

इधर श्री छोटेलाल भारद्वाज के कुछ गीत जनवाणी में प्रकाशित होते रहे है। इन गीतों का प्रवाह, सजीवता और संवेदनीयता अत्यधिक सराहनीय है। उनके गीतों की प्रेरणा शत प्रतिशत वही है जो प्रगतिवादियों की, किन्तु पता नही क्यो वे इस ओर (प्रगतिवादी पत्रो की ओर) नही आए। वास्तव में वे प्रगतिवादी कवियों में शिरस्थानीय है।

यह सब है, किन्तु हिन्दी साहित्य क्या ऐसे कवि को भी जन्म दे सका है जिसकी कविताएँ महान काव्य कही जा सकें? जिनमें पर्याप्त महाप्राणता, संघर्ष की तीव्र ज्वाला, श्रमिको की मूर्त व्यथा, विद्रोह, घनीभूत अन्तर्दृष्टि तथा एक नवीन सौन्दर्य बोध हो? दुर्भाग्यवश हमे ऐसी कविताओ के लिए विदेशियो की ओर झाँकना पड़ता है। इसका एक बडा कारण हमारी परिस्थितियाँ और जातीय स्वभाव (?) भी है और प्रगतिवादियो की गलत नीति भी।

प्रगतिवादी पन्त के विचार

'सीमित'–प्रगतिवादी पन्त के विचारो को क्रम मे रख कर उनकी आलोचना कर सकना सहज नही, क्योंकि ऐसा कर सकने का अर्थ है उनमें एक सगति बिठा लेना––अन्त: सूत्र खोज लेना । इनके एतत् सम्बन्धी विचारो का अध्ययन करने के लिए हमे आधुनिक-कवि (२) की भूमिका और युगवाणी तथा ग्राम्या की कविताए ही साधन रूप मे उपलब्ध है। इन मे कोई तारतम्य हमे नही मिल सका। ऊपर से एक विहगम-दृष्टि डालने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे भौतिक क्षेत्रो मे मार्क्सवाद और आध्यात्मिक क्षेत्र में वेदान्तवाद तथा गान्धीवाद को प्रतिष्ठा देते है, किन्तु यह समन्वय कितना असगत और असम्भव है इसे हम थोडा सा भी ध्यान देकर जान सकते है । इसी से जहा वे कुछ भी गम्भीरता से यथार्थ मे पैठने का प्रयास करते है––यद्यपि उन्होने जानबूझकर कही भी ऐसा नही किया––तभी उलझ जाते है, और असगत तथा दुर्बोध बातें कह बैठते है ।

इसका कारण एक व्यवहारिक कठिनाई है । मार्क्सवाद एक ऐतिहासिक विकास-दर्शन है जो सामाजिक-विकास का मूल आर्थिक उत्पादन के साधनो को मानता है और उन्हीं को सम्पूर्ण अतिविधान (superstructure) का निर्णायक और निर्धारक । सामूहिकता समाज की प्रथम शर्त है, अर्थात् कोई भी समाज समूह के बिना नही बन सकता, चाहे प्रत्येक समूह को समाज न भी कहा जाए । समूह स्वयं एक उत्पादन का साधन है; अत: समाज की विशेष समूह-स्थिति भी उत्पादन के साधनो का निर्धारण करती है और उत्पादन के साधन समूह-स्थिति का; इसी प्रकार समूह-स्थिति की प्रकृति अतिविधानो का और अति

विधान समूह-स्थिति का निर्धारण करते है, जैसे० यक्तिवादी और साम्य-वादी समूह का दर्शन और आचार-विचार सर्वथा भिन्न भिन्न ही होंगे, कभी एक से नही हो सकते । यह सम्बन्ध इतना सम्पृक्त होता है कि इसे पृथक् कर नही देखा जा सकता, पृथक् कल्पना भर की जा सकती है । जब हम मार्क्सवाद को मान लेते है तब हमे उस की यह विचार प्रणाली भी स्वीकार करनी ही होगी, क्योकि इसके बिना मार्क्सवाद का कोई अर्थ नही रह जाएगा !

पन्त जी इस से अपने हृदय का मेल नही बिठा सके । वे इसे यो स्वीकार तो करते है, किन्तु 'हार्दिक-सत्य' का समाधान उसमे नही पाते, इसलिये भूल कर जाते है । एक स्थान पर वे कहते है—

विकसित हो बदले जब जब जीवनोपाय के साधन,
युग बदले, शासन बदले कर गत सभ्यता समापन,
सामाजिक संबंध बने नव अर्थ-भित्ति पर नूतन,
नव विचार, नवरीति नीति, नवनियम, भाव, नवदर्शन ।

इसी प्रकार "उत्पादन के नवीन यत्रो पर जिस वर्ग-विशेष का अधि-कार रहा है, उसके हाथ जन साधारण के शोषण का हथियार भी लगा है, और उसी ने जन समाज पर अपनी सुविधानुसार राजनीतिक और सास्कृ-तिक प्रभुत्व भी स्थापित किया है ।"

यह ठीक है, किन्तु जब वे आध्यात्मवादी के रूप मे एक दूसरी बात सामने लाते है तब बड़ा विरोधाभास सा उत्पन्न हो जाता है । जैसे वे कहते है—"ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय आध्यात्मवाद मे मुझे किसी प्रकार का विरोध नही जान पडा, क्योकि मैंने दोनो का लोकोत्तर कल्याण-कारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है । मार्क्सवाद के अन्दर श्रमजीवियो के संगठन, वर्ग संघर्ष आदि से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनैतिक-क्रान्तियां ही कर सकती हैं,

मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से, मानवता एवं सर्व भूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदान्त मे मिली है उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन मे भी।" तब फिर आप मार्क्सवाद को स्वीकार किस रूप मे करते हैं ? मार्क्सवाद मे लोकोत्तर तो कुछ भी नही ? बाह्य दृश्य (आर्थिक और राजनैतिक क्रान्ति) को आप पसन्द नही करते, तब फिर बिना कुछ दूसरा पक्ष बताए ही आप किसकी विशद भावना का गुण गाते हैं ? इतना ही नही, वे भारतीय आध्यात्मवाद की समकक्षता मे आर्थिक-साम्यवाद को नही (क्योंकि यह आर्थिक क्रान्ति है (?) 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' को रखते है, जो निरन्तर बदलती आर्थिक परिस्थितियों को सामाजिक और अतएव आध्यात्मिक भी अतिविधानो का निर्णायक मानता है; जब कि आध्यात्मवाद समाज निरपेक्ष किसी असीम और लोकोत्तर सत्ता को ही स्वीकार करता है। स्पष्ट है कि इन दोनो में कोई मेल नही, किन्तु फिर भी पन्त जी इन्ही के मेल पर अपने समन्वय को रख कर मार्क्सवाद की आर्थिक क्रान्ति से विरोध प्रकट करते हैं; पर उन्हे यह भूलना नही चाहिए कि मार्क्सवाद या ऐतिहासिक विकास का मूल स्रोत आर्थिक क्रान्ति ही है। आगे वे वेदान्त को मानवता और सर्वभूतहितवादी के रूप में देखते है, किन्तु वेदान्त मे इन दोनो की कहीं झलक भी नहीं, क्योंकि वहा तो जीव दया (जो सर्व भूतहितवाद का प्रथम मत्र है) भी मोह समझा जाता है, और निष्काम होकर भी ऐसा विचार और कर्ममात्र 'अहमात्मिका वृत्ति'। अतः अब वे इसे भी सीमित करते है—"पर भारतीय दर्शन की, सामन्तकालीन परिस्थितियों के कारण जो एकान्त परिणति प्राकृतिक मुक्ति* में हुई है (दृश्य जगत एवं ऐहिक जीवन के माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उप-

* इसका अर्थ हमारी समझ नें नहीं आया।

संहार मात्र है) और मार्क्स के दर्शन की पूजीवादी परिस्थितियों के कारण जो वर्ग युद्ध और रक्त-क्रान्ति मे परिणति हुई है,—ये दोनो परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नही जान पडे।" सामन्तवादी परिस्थितियों ने केवल विराग को जन्म नही दिया, उसने उस सम्पूर्ण दर्शन-परम्परा को उत्पन्न किया था विराग जिसका स्वाभाविक परिणाम है। विराग आध्यात्म दर्शन के सपूर्ण तर्कों का आश्रय है, अन्यथा उसके सम्पूर्ण तर्क अभावग्रस्त हो जाये। पूजीवादी आध्यात्मिक दार्शनिक भी एक भिन्न प्रकार के विराग की ही बात कहते है, और कुछ 'बर्गसा' इत्यादि लेखक अधिक उलझ कर 'प्राकृतिक-मुक्ति' की (मनुष्यता से मुक्त होकर प्राकृतिक जीवन में निर्वासन की) जो विराग की ही, पन्त जी के शब्दो में, अधोमूल स्थिति है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार तो यही परिणाम निकलेगे। मार्क्स के दर्शन का भी उतना अंश ही वे स्वीकार करना चाहते है जो 'पूजीवाद की प्रतिक्रिया नही' अर्थात् जो निरपेक्ष सत्य है, और इसी से वे वर्ग सघर्ष की उसकी बात नही मानते। किन्तु वर्ग सघर्ष तो पूजीवादी अर्थ प्रणाली का अनिवार्य परिणाम है मार्क्स की शरारत नही'—इसे पन्त जी समझ नही पाते। मार्क्स तो ऐतिहासिक विकास का अध्ययन कर केवल इतना बताता है कि यह जो वर्ग सघर्ष हो रहा है, अभी और तीव्र होगा, और इसका परिणाम साम्यवादी अर्थ प्रणाली और अतएव साम्यवादी जीवन दर्शन होगा। पन्त जी को चाहे यह पसन्द हो या न हो। मार्क्स को यह पता ही न था कि उनके टिप्पणीकार पन्त जी होगे, नही तो वह अपने ग्रथ के प्रत्येक अध्याय के साथ इस सीमित ऐतिहासिक भौतिकवाद और सीमित आध्यात्मवाद का निषधेक वाक्य अवश्य जोड़ता।

इसी प्रकार वे सापेक्ष-निरपेक्ष के सांस्कृतिक 'मानो' को लेकर विरोधी बातें कह जाते हैं। पृष्ठ उन्नीस पर वे कहते है "मनुष्य की सास्कृतिक चेतना उसकी वस्तु-परिस्थितियो से निर्मित सामाजिक-सम्बन्धो का प्रति-

बिम्ब है । यदि हम बाह्य परिस्थितियो मे अन्तर ला सके तो हमारी आन्तरिक धारणाए भी उसी प्रकार बदल जाएंगी ।" यह मार्क्सवाद का परिवृत्तिवादी दृष्टिकोण है, किन्तु साथ ही वे कह देते है "फ्रायड जैसे अन्तरतम के मनो-वैज्ञानिक 'इड' के विश्लेषण मे सापेक्ष के स्तर से नीचे जाने का आदेश नहीं देते । वहा अवचेतन पर, विवेक का नियत्रण न होने के कारण वे भ्रान्ति पैदा होने का भय बतलाते है । भारतीय तत्वद्रष्टा, शायद, अपने सूक्ष्म नाड़ी मनोविज्ञान (योग) के कारण सापेक्ष के उस पार सफलतापूर्वक 'तदन्तरस्यसर्वस्य तत्सर्वस्यास्यबाह्यत:' सत्य की प्रतिष्ठा कर सके है ।" इस निरपेक्ष सत्य की स्वीकृति का अर्थ है परिवृत्तिवाद से निषेध, क्योकि परिवृत्तिवाद निरपेक्ष सत्य के निषेध और सापेक्ष सत्य की स्वीकृति पर ही आधारित है । इस प्रकार वे स्वय अपनी बात को काट देते है । (फिर सूक्ष्म नाडी विज्ञान* (योग) को मनोविज्ञान कहना और उसे फ्रायड-मनोविज्ञान से मिलाना भी कितना उपहासास्पद है !) इसी से वे मानव और मानवता को भौतिक परिस्थितियो से ऊपर रख देते है——

भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित,
है श्लाघ्य मनुज का भौतिक संचय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमे विकास ?

स्पष्ट ही यहा वे मानवी-भावना को आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त कर रहे है । इसीं आध्यात्मिक भावना की कमी के कारण——उनके विचार में——मनुष्य दुखी है——

* विज्ञान शब्द का यह प्रयोग गलत है, क्योंकि विज्ञान वास्तव पर तर्काश्रित प्रयोग के अर्थ में ही प्रयुक्त हो सकता है ।

सेवक हैं विद्युत्-वाष्प शक्तिः धन बल नितान्त,
फिर क्यों जग में उत्पीड़न? जीवन यों अशान्त?

वे जानते है कि इसका कारण पूजीवाद है; जैसा कि उन्होने आ० क० की भूमिका मे कहा है भी है "पूजीवादी युग ने संसार को जो 'विविध ज्ञान-विज्ञान, कला यंत्रो का अद्भुत कौशल' दिया है उसके अनुरूप सभ्यता और मानवता का प्रादुर्भाव न होने का मुख्य कारण पूजीवादी प्रथा ही है।" किन्तु वे बार बार इसे भूल जाते है। वे उद्धृत कविता मे ही आगे फिर कहते है—

चाहिए विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
बापू! तुम पर हैं आज लगे जग के लोचन,
तुम खोल नहीं जाओगे मानव के बन्धन?

इस प्रकार उनका ऊर्ध्वारोहण क्रमशः समृद्ध होता जाता है, और वे ऐतिहासिक भौतिकवाद से क्रमशः दूर ही हटते जाते है। उनकी भावी मानवता का स्वप्न भी अब दूसरे ही रंग मे आता है—

आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानवता?

इससे स्पष्ट है कि उन्होने मार्क्स-वाद को कभी भी ठीक नही समझा। इन उद्धृत वाक्यो और पद्यो से यह न समझना चाहिए कि ये उत्तरोत्तर विचार-विकास में बदले है, ये आगे पीछे से चुन कर ही इस प्रकार रखे गए है, इसी से मै कहता हूँ कि उन्होने मार्क्सवाद को समझा ही नही और असंगत बातें कह गए हैं।

फिर भी मार्क्सवाद को अपनाने के प्रयास मे वे वस्तु सापेक्षता का काफी ध्यान रखते रहे, अनेक बार तो उन्होंने भावात्मैकता से वितृष्णा भी प्रकट की है। वे कहते है—

सुन्दर शिव सत्य, कला के कल्पित रूपमान,
बन गए स्थूल जग जीवन से हो एक प्राण।

और :— **व्यर्थ विचारों का संघर्षण, अविरत श्रम ही जीवन-साधन ।**

× × ×

भाव सत्य पीड़ित मानव मत धरो स्वप्न के चरण,
वाष्प-जगत के योग्य तुम्हारा, भाव-सत्य विश्लेषण ।

इससे उनके विचार और भावनाए काफी उपयुक्त और ठोस आधार पा सकी है, अब वे विज्ञान को भी मानव के लिए आकस्मिक अभिशाप के रूप मे नहीं प्रत्युत ऐतिहासिक-क्रम मे विकऐसित वरदान के रूप में मानते है—

जड़ नहीं यन्त्र, वे भावरूप, संस्कृति द्योतक,

× × ×

वे कृत्रिम निर्मित नहीं, जगत-क्रम में विकसित ।

इस भाव-सत्य से वस्तु सत्य की ओर, आध्यात्मिक से भौतिक की ओर तथा वैयक्तिक से साम जिक की ओर आने से उनके विचारों में आमूल परिवर्तन दृष्टिगत होता है । अपने प्रणय सम्बन्धी विचारो मे भी अब वे छायावादी सूक्ष्म काल्पनिकता से अधिक वास्तविक आधार पर आते हैं । अब उनके लिए प्रणय का अर्थ स्वप्न-सचरण नही जिसमें प्राकृतिक युग्मेच्छा के प्रति विभ्रम और भयमिश्रित कुतूहल का रुख होता है, अब उनके लिए यह प्राकृतिक आवश्यकता का मनुष्योचित उन्नयन है—

क्षुधा, तृषा ही के समान, युग्मेच्छा प्रकृति प्रवर्तित,
कामेच्छा प्रेमेच्छा बनकर, हो जाती मनुषोचित ।
युग युग से रच शत शत नैतिक बन्धन,
बाँध दिया मानव ने पीड़ित पशु तन,
नहीं रहे जीवनोपाय तब विकसित,
जीवन यापन कर न सके तब इच्छित,

मानव-पशु ने किया आज भव अर्जित,
मानव-देव हुआ अब वह सम्मानित,
मानव के पशु के प्रति,
मध्य वर्ग की हो रति ।

इस प्रकार वे मानव-पशु को मानव-देव बनाना चाहते है; गत युगो ने इसकी बलि देवो के लिए दी, आज वे उसका दमन नही करेगे क्योकि अब मनुष्य अधिक समर्थ हो चुका है और समझता है कि इससे घिनौनापन ही फैलेगा । वह जानता है कि इस पशु-बलि का क्या अर्थ था—

योनि मात्र रह गई मानवी, निज आत्मा कर अर्पण,
पुरुष-प्रकृति की पशुता का, पहिने नैतिक आभूषण ।

किन्तु यह विरोधाभास तभी मिट सकता है जब आर्थिक क्रान्ति हो और नारी को भी पुरुष के समान अधिकार प्राप्त हों । वास्तव में तभी नैतिक मानों में अन्तर आएगा और 'योनिमात्र' समझी जाने वाली नारी मानवी बन कर युग्मेच्छा को प्रेमेच्छा का मानवीय रूप दे सकेगी । किन्तु आर्थिक-क्रान्ति के बिना ही पन्त जी यह सब चाहते है । खैर; वे यहां तक आकर एक कदम और भी आगे बढ जाते हैं—

पशु-पक्षी से सीखो फिर प्रणय कला मानव,
जो आदि जीव, जीवन-संस्कारों से पोषित ।

यह प्राकृतिकवाद एक बडी भ्रान्ति को जन्म देता है, क्योंकि मनुष्य इससे सभ्यता, नैतिकता और सयम को एक अनाकांक्ष्य ओप समझ कर पशु की भूमिका में उतरने को ही प्रस्तुत हो जाता है । मनुष्य अब जीवन संस्कारों से पोषित आदि जीव नही और न ऐसा हो सकना उसके लिए तब तक सम्भव ही है जब तक कि वह सभ्यता का बलिदान नहीं दे देता । इस अवस्था में ऐसी विचार धारा सामाजिक विशृंखलता और अनुत्तरदायित्व को जन्म देकर सांस्कृतिक ह्रास का कारण बनती है ।

अस्तु, किसी भी रूप में हो, वे आज परिवर्तन चाहते है। उन्होंने अनेक स्थानो पर परिवर्तन की आवश्यकता पर बल दिया है, वे कुछ अधिक भावुकता से कहते है—"यदि इस विज्ञान के युग मे, मनुष्य, अपनी बुद्धि के प्रकाश और हृदय की मधुरिमा से, अपने लिए पृथ्वी पर स्वर्ग का निर्माण नहीं कर सकता और एक नवीन सामाजिक जीवन आज के रिक्त और सदिग्ध मनुष्य में जीवन के प्रति नवीन अनुराग, नवीन कल्पना और स्वप्न नहीं भर सकता तो, यह कही अच्छा है कि, इस 'दैन्यजर्जर-अभाव-ज्वर पीडित', जाति-वर्ग मे विभाजित रक्त की प्यासी मनुष्य जाति का अन्त हो जाय।" इस सात्विक क्रोध का हम सम्मान करते है; किन्तु वे परिवर्तन स्वप्न और कल्पना मे ही क्यों चाहते है? यदि यह भावि स्वप्न सामूहिक अनुभूति से सप्राण नही तब इसे पलायन से अधिक और क्या कहा जाय! खैर, वे परिवर्तन चाहते है, किन्तु यह कैसे हो? वे जानते है कि युग विवर्त होगा, वे कहते है—

नहीं जानता युग-विवर्त मे होगा कितना जन-क्षय,
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा, इष्ट रहेंगे निश्चय।

सत्य और अहिसा मे विश्वास ही मनुष्य की मनुष्यता है, किन्तु यदि उसके सम्मुख विकल्प ही दो बुराइयो मे से एक हो, तब? उन्हें रक्त-क्रान्ति पसन्द नही, जैसा कि उन्होंने आ० क० की भूमिका तथा अन्यत्र भी अनेक बार लिखा है, किन्तु जहा रक्त-क्रान्ति एक स्थायी अहिसा और सत्य को जन्म दे सके और अविरत रक्त-स्राव को रोक सके तब उसका क्यों स्वागत न किया जाय? जहा मूढ, असभ्य, उपेक्षित, युग युग के भारवाह लाखो मनुष्य केवल कुछ लोगों के जीवन के कारण पशुता का जीवन बिताने को बाध्य हों, वहा रक्त-क्रान्ति से क्यो भय दिखाया जाय? वे इसे जानते हैं—

जन युग की स्वर्णिम किरणों से होगी भू आलोकित,
नव संस्कृति के नव प्ररोह, होंगे शोणित से सिंचित ।

किन्तु उनका हार्दिक सत्य उनके साथ नही, इसी से वे बार बार उलझते-सुलझते है और कोई भी सुलझाव नही पाते ।

उनके इस विचार-विश्लेषण से स्पष्ट है कि वे न केवल सुलझे ही नही हुए प्रत्युत् मार्क्सवाद इत्यादि को ठीक तरह से प्रस्तुत भी नही कर सके, इसी से उनके 'प्रगतिवाद' का आधार ठोस नही ।

पन्त का प्रगतिवादी काव्य

काव्य-सौन्दर्य अनुभूति और वर्ण्यवस्तु के सम्बन्ध की मात्रा और दिशा या गुण पर अवलम्बित है। अनुभूति-शून्य कोई भी शब्द काव्य नही हो सकता---जैसा कि हम पहिले भी कह आए हैं---किन्तु केवल कवि का अनुभूत विषय भी काव्य का विषय नही हो सकता यदि वह सामान्य न हो, अर्थात् वह पाठक की अनुभूति को यदि प्रेरित न कर सकता हो। परन्तु क्योंकि अनुभूति सदैव सामूहिक तत्वो से बँधी होती है, अतएव उसका स्तर भी सदैव साधारण होता है, इसीलिए प्रायः प्रत्येक अनुभूति काव्य का प्राण हो सकती है।

इस दृष्टि से पन्त जी की युगवाणी और ग्राम्या का काव्य-सौन्दर्य देखते हुए हमारे सम्मुख एक कठिन समस्या उठ खडी होती है, क्योकि युगवाणी को वे स्वय गीत-गद्य कह चुके है और ग्राम्या को उन्होने बौद्धिक सहानुभूति से प्रेरित कहा है। इस अवस्था मे इनका काव्य-गत मूल्य क्या हो सकता है ?

पन्त जी के विचार में सक्रान्ति-काल मे समस्याओ का कवि प्रायः बौद्धिक स्तर पर ही काव्य निर्माण कर सकता है, क्योंकि ये समस्याएँ अभी जातीय हृदय का स्पर्श नहीं कर चुकी होती; दूसरे इनका सुलझाव बौद्धिक स्तर पर ही अभीष्ट है, क्योंकि इनके प्रति भावुक होकर कोई इनका सुलझाव नही खोज सकता। किन्तु यदि कवि जातीय-जीवन के निकट सम्पर्क मे है, तो वह स्वाभाविक जीवनानुभूति से प्रेरित होकर इन समस्याओं को अनुभूति के स्तर पर ग्रहण कर सकता है और यही स्वाभाविक भी है। जैसे एक श्रमिक अपने वर्गीय जीवन के निकटतम सम्पर्क में होने

से श्रमिक जीवन की समस्याओं को सहज जीवनानुभूति से प्रेरित होकर ही ग्रहण कर सकेगा, अर्थात् श्रमिक जीवन की समस्या उसके जातीय और अतएव वैयक्तिक जीवन का भी संकट होगी और इसीलिए वह समस्या अनुभूति को स्पर्श कर के ही उसे (व्यक्ति को) समाधान या प्रतिरोध के लिए प्रस्तुत करेगी। यहां प्रार्कणिक रूप से मुझे एक अप्रार्कणिक बात भी कह देनी चाहिए. पूजीपति या पूजीवादी वर्ग का कोई कवि वर्गीय-जीवनानुभूति से प्रेरित नही हो सकता यद्यपि उसके वर्ग के सम्मुख आज एक बडा सकट है। इसके दो कारण है, (१) क्योकि इस वर्ग का आधार सामूहिक नही वैयक्तिक स्वार्थ है, (२) क्योंकि इसका प्रतिनिधि कवि भी जानता है कि इसका समर्थन स्पष्ट रूप से नही किया जा सकता, क्योकि यह सामाजिक शोषण का वैयक्तिक साधन है, जो मानवता के नाते गर्हणीय है। सारांश यह कि जातीय जीवन के निकट सम्पर्क मे होकर कवि समस्या के युग में भी तीव्र जीवनानुभूति से अनुप्राणित होकर अधिक सशक्त काव्य दे सकता है, और यह भी कि आज ऐसी काव्य-रचना श्रमिक या कृषक वर्ग की ओर से ही सम्भव है, पूजीवादी वर्गीय कवि की ओर से नही।

विवेचना के इस स्तर पर खडे होकर हम सहज ही देख सकते है कि क्यो पन्त जी कृषक वर्ग को केवल बौद्धिक सहानुभूति ही दे सके; क्योकि वे अपने वर्ग से असन्तुष्ट होकर कृषक वर्ग की ओर तो आए, किन्तु अपने व्यक्ति को उस समष्टि का अंग नही बना सके, उन्होने उनकी समस्याओं को अपने (पूजीवादी-व्यक्तिवादी) वृत्त से ही खडे होकर देखा। किन्तु पन्त जी इसका कारण देते है "ग्राम्य–जीवन मे मिलकर, उसके भीतर से मै इसलिए नही लिख सका क्योंकि मैने ग्राम-जनता को रक्त मॉस के जीवो के रूप मे नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयवस्वरूप देखा है और ग्रामों को सामन्तयुग के खन्डहर के रूप में।" इतना ही नही,

आगे वे यह भी कहते हैं कि "उनके साथ अनुभूतिगत सहानुभूति का अर्थ प्रतिक्रियावादी साहित्य को जन्म देना होगा।" किन्तु यह एकदम गलत है, कृषक वर्ग के साथ अनुभूतिगत सहानुभूति का अर्थ पूजीवादी मानवतावादी ढंग से सोचना नही है, जैसा कि उन्होने आगे अपने विचार रखते हुए कहा है "वह तो ग्रामीणो के दुर्भाग्य पर आँसू बहाने या पराधीन, क्षुधाग्रस्त किसानो को तपस्वी की उपाधि देने के सिवाय हमे आगे नही ले जा सकती।" किन्तु ऐसी बात नही, कृषक वर्ग से हार्दिक सहानुभूति का अर्थ है अपने आपको उस वर्ग का ही एक सदस्य समझ कर उन समस्याओ के प्रति संघर्षशील होना, जैसे प्रेमचन्द या गोर्की थे। प्रेमचन्द ने गोदान में कृषको की निम्नतम अवस्था और स्वभाव का उद्‌घाटन किया है, उसने उन्हे तपस्वी नही कहा, किन्तु उसे क्या कोई बौद्धिक सहानुभूति कह सकता है? पन्त जी वास्तव मे यहाँ एक मध्यम वर्गीय क्रान्तिकारी की भूमिका मे ही आए है, जिसकी क्रान्ति बहुत कुछ सुधारवादी प्रवृत्ति की होती है। इससे इनके प्रगतिवादी काव्य के मूल्य का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

× × ×

युगवाणी में काव्य-सौन्दर्य

युगवाणी मे पन्त जी ने प्राय: अपने विचारों को ही पद्य-बद्ध करने का प्रयास किया है, जिन विचारो को वे युग की विचारधारा का प्रतिनिधि समझते है। इन विचारों की आलोचना हम पीछे कर ही चुके हैं अत: अब हमें युगवाणी के काव्य-सौन्दर्य पर ही दृष्टिपात करना चाहिए।

इस दृष्टिकोण से—मेरे विचार में —युगवाणी का कोई मूल्य नहीं। प्रकृति-वर्णन की कुछेक कविताओं में से चार-पाँच कविताएं ही ऐसी चुनी जा सकती है जिनका कुछ साहित्यिक महत्व हो, किन्तु इनमे भी जहां बलात्

'युग-वाणी' लाने का प्रयास किया गया है वहा ऐसे 'काव्य' के प्रति तीव्र विरक्ति हो उठती है। जैसे, 'गगा की सांझ' कविता से एक उदाहरण ले —

अभी गिरा रवि ताम्र-कलशसा, गंगा के उस पार,
क्लान्त-पांथ जिह्वा विलोल, जल में रक्ताभ प्रसार।
भूरे जलदों से धूमिलनभ, विहग छदों से बिखरे,
धेनुत्वचा से सिहर रहे, जल में रोओं से छितरे।
शान्त-स्निग्ध-संध्या सलज्ज-मुख, देख रही जल तल में,
नीलारुण अंगों की आभा, फहरी लहरी जग में।

इस वर्णन मे यथार्थ मे बहुत हल्के रग भरे गए है, जो उसी मे घुल-मिलकर एक हो गए है, यहा वस्तु और आकृति भिन्न भिन्न दिखाई नही पडते। अतः यह वर्णन बहुत ही सुन्दर और आकर्षक है; किन्तु कवि अपनी 'युग-वाणी' उद्घोषित करना यहा भी भूलता नही, वे लिखते है—

(किन्तु) मानव की सजीव सुन्दरता, नहीं प्रकृति-दर्शन में।

इससे सम्पूर्ण चित्र-पट ही बदल जाता है, हमारे सामने पहेली आ खडी होती है, आखिर मनुष्य और प्रकृति मे कौन अधिक सुन्दर है? यदि यह 'अनुभव' करके कहा गया होता, तब और ही बात होती; तब तो मानव-सौन्दर्य प्रकृति-सौन्दर्य को कम किए बिना ही हमारे हृदय में साकार हो उठता, किन्तु हम यहां न तो मानव-सौन्दर्य के लिए ही कोई प्रेरणा पाते है और न प्रकृति-सौन्दर्य के लिए। इसी प्रकार 'गंगा का प्रभात' में भी हम देखते हैं। इस कविता में भी प्रकृति चित्रण काफी कुशलता से किया गया है, देखें—

गलित ताम्र-भव, भृकुटिमात्र रवि,
रहा क्षितिज से देख,
गंगा के नभ-नील-निकष पर,
पड़ी स्वर्ण की रेख।

सिहर-अमर जीवन कम्पन से
खिल खिल अपने आप,
केवल लहराने को लहराता,
मृदु लहर कलाप ।

यहा प्रथम पद्य मे वर्णन इतना सजीव है कि हमारे सम्मुख अर्ध-उदित सूर्य और आकाश में धनुषाकार फैलती किरणों की रेखाएं सहज ही मूर्त हो उठती है। 'भृकुटि' और 'निकष' से वर्णन में चित्रमयता बहुत ही उघडी है। दूसरे पद्य में लहरों की मस्ती, अल्हडता बेपरवाही और मौज अत्यन्त सजीव हो उठी है, यद्यपि वातावरण मे एक उदासी और नीरवता सी प्रतीत होती है, जो इनमें कुछ हल्कापन ला देती है। सम्भवतः कवि गहराई से इस सौन्दर्य मे आत्म विभोर नही हो सका है। आगे वे इस दृश्य को कुछ दार्शनिक चित्र-पट भी देते हैं, जिससे यह 'नीरवता' सार्थक और सजीव हो उठती है--

सृजन-तत्व की सृजन-शीलता से हो अवश अकाम,
निरुद्देश्य जीवन-धारा, बहती जाती अविराम।
देख रहा अनिमेष,--हो गया स्थिर निश्चल सरिताजल,
बहता हूँ मैं, बहते तट, बहते तरु, क्षितिज, अवनि-तल।

दूसरे पद्य में दृष्टि की सूक्ष्मता से कवि जो यथार्थ अंकित कर सका है वह बहुत ही आकर्षक है। प्रथम पद्य की काव्यमय दार्शनिकता के कारण जो नदी की धारा जीवन-धारा के रूप में परिवर्तित हो जाती है, दूसरे पद्य में 'बहता हूँ मै, बहते तट, बहते तरु, अवनि, क्षितिज-तल' आदि के साथ फिर उसी अपने रूप मे आ जाती है, किन्तु उस पर उसका थोडा सा छाप स्पष्ट रहता है, और दूसरे पद्य को यथार्थ और प्रतीकात्मकता का मिश्रण सा बना देता है। इससे यह सब और भी सुन्दर और मंजुल प्रतीत होने लगता है। किन्तु इसके एक दम ही पश्चात्--

मानव-जीवन, प्रकृति-संचालन में विरोध है निश्चित,
विजित प्रकृति को कर उसने की, विश्व सभ्यता स्थापित।

स्पष्ट है कि यह नृतत्व-शास्त्रीय मूल्यांकन गंगा के प्रभात वर्णन से कोई अवान्तर सबंध भी नही रखता। इस पद्य मे उन्होंने जो कुछ कहा है वह हमारे तर्क को प्रेरणा देता है अनुभूति को नही, अतः यह न केवल, काव्यत्व-हीन पद्य मात्र है, प्रत्युत अप्रार्काणक होने से असगत भी है। प्रसिद्ध प्रकृति-कवि पन्त को प्रकृति से कोई विशेष प्रेरणा नही मिली, वे बस कुछ लिखने के लिए लिख डालते है। युगवाणी मे कुछेक कविताए शुद्ध प्रकृति वर्णन की भी है, जिनमे 'युग-वाणी' का कोई हस्तक्षेप नहीं, किन्तु वे नीरस और कभी कभी तो असगत भी है। असगत कल्पनाओ को बाँधना तो शायद पन्त जी के भाग्य मे ही बदा है, अत· उनका इसमे कोई दोष नही। एक पद्य देखें—

ओस बिन्दु! लघु ओस-बिन्दु!
नीले, पीले औ हरे लाल, चंचल ताराओं से जल जल,
फैलाते शीतल सजल ज्वाल।

और फिर—

ये पक्षी, मधुमक्खी, तितली,
जुगनू, मछली, रवि, ऋक्ष, इन्दु,
निज नाम रूप खो जान बूझ,
सब बने हुए है ओस-बिन्दु।

इस निचले पद्य का क्या अर्थ बना?—समझ नही आया। पक्षी, मक्खी, तितली, जुगनू और भालू-चाँद आदि मे मेल क्या है? फिर ये ओसबिन्दु भला कैसे बने होगे? और सब तो कुछ कुछ शायद बन भी सकते हो, मधुमक्खी भी सम्भव है किसी तरह सफेद हो गई हो, या दर्शक उसे प्रतिच्छायित समझ ले, किन्तु भालू को बेचारे को उसमें समाने को कहना

तो बड़ा अनर्थ है ! पन्त जी ने यद्यपि कहा है कि नाम रूप खोकर वे ओस-बिन्दु बने हैं, पर तब तो पन्त जी भी बन सकते थे ! इसी प्रकार एक और 'कृष्ण-घन' से उदाहरण लें—

दिग्विदीर्ण कर भर गुरु-गर्जन,
चीर तड़ित से अंध-आवरण,
उमड़ घुमड़ घिर झूम-झूम,
बरसाओ नव-जीवन के कण, ।

यहां कवि जी ने लगभग सारा जोर शब्द ध्वनि उत्पन्न करने मे लगाया है, किन्तु अनुभूति-शून्य शब्द अलंकरण कितना छिछला रह जाता है यह हमें कवि केशवदास जी से सीख लेना चाहिए । 'झूम-झूम' या 'दिग्विदीर्ण' जबरदस्ती की 'कसरत' के अतिरिक्त और कुछ भी प्रभाव नही डाल सकते ।

युगवाणी से ऐसे उद्धरण कितने ही दिए जा सकते हैं, क्योंकि इसमें पन्त जी का 'प्रकृति-प्रेम' खूब उमड़ा है, किन्तु पाठक इन्ही से सब अनुमान लगा सकते है, अतः व्यर्थ अधिक उद्धरणों से हाट सजाना लाभप्रद नही हो सकता । फिर भी एक और उदाहरण देखना ही चाहिए ।

पाठको में से बहुतों ने 'काफिया-बाँधना' सुना होगा, इसको हिन्दी में 'तुक-जोड़ना' कहते हैं, किन्तु इसमे वह ध्वनि नही जो 'काफिया-बाँधने' में है, अतः आप इसे ही ध्यान में रखे और निम्न पद्य 'आम्र-विहग' में से देखें—

विश्वास अंध,
संघर्ष द्वंद्व,
बहु तर्कवाद,
उरके प्रमाद,

गत रूढ़ि रीति,
मृत धर्म नीति,
ये हैं जगती की ईति-भीति ।

हों अन्त
दैन्य जग के दुरन्त,
आवें वसन्त,
जीवन दिगन्त,
फिर से हो स्मित कुसुमित वसन्त।

इनमें पहिले पद्य मे तो 'षडेता· ईतय· स्मृता.' के स्थान पर मौलिक उद्भावना की गई है और दूसरे मे आम्रविहग से, जैसे स्वर्णकिरण के 'कोविदार के शकुनि' (कव्वे) से, समिद-पाणि होकर प्रार्थना की गई है। किन्तु दोनो ही पद्यो मे कवि का न तो आम्र-विहग से कोई हृद्गत सम्बन्ध है और न वसन्त के लिए प्रार्थना से। और वास्तव मे बुद्धिगत शृखला भी नही है।

न जाने क्यो पन्त जी ने युगवाणी मे 'सिद्धान्त-सूत्रों' के साथ साथ प्रकृति वर्णन की ये 'मानव-कल्याण-कारी कविताए' रखनी भी आवश्यक समझी। दो-एक कविताए कुछ अच्छी भी हैं, जैसे ओस के प्रति, किन्तु ये बहुत या साधारण उत्कृष्ट भी नही कही जा सकती।

ग्राम्या

ग्राम्या में काव्य-सौन्दर्य

युगवाणी मे पन्त जी का मुख्य उद्देश्य काव्य सृजन नही था, जैसा कि उन्होने स्वय भी कहा है, अत वहां हमने कुछ प्रकृति-सौन्दर्य की कविताओ को ही काव्य के अन्तर्गत रखा। किन्तु ग्राम्या मे वे काव्य-निर्माण ही कर रहे है, सिद्धान्त-स्थापना नही, अतः इसकी सब कविताओ का मूल्याकन मुख्यत. काव्य-दृष्टि से ही हो सकेगा सैद्धान्तिक आलोचना से नही। वैसे पन्त जी ने इसके आमुख मे ही इसे 'ग्रामीणो के प्रति बौद्धिक सहानुभूति' की प्रेरणा कह कर इसके काव्यगत मूल्य का पूर्वभास करवा दिया है, किन्तु फिर भी हम इसका नाप तोल करेगे ही।

हम एक बार* ग्राम्या को पल्लव से भी उत्कृष्ट कह चुके है, यद्यपि कोमल-कल्पना के प्रसिद्धतम काव्य-संग्रह के प्रति हमारी यह सम्मति बहुतो को पसन्द नही होगी, किन्तु वह कोमल-कल्पना कितनी आकाशीय है, यह हमारी पल्लव की आलोचना को देख कर सहज ही समझा जा सकता है। ग्राम्या मे यह निराधार उड़ान कहीं भी नही, अतः वह कम से कम इस आधार भूत दोष से तो मुक्त है ही।

इसके प्राय. सभी गीत ग्राम्य जीवन से अथवा ग्राम के प्रति कवि की प्रतिक्रिया से ही सम्बन्ध रखते है, इनमे भी दूसरी प्रकार के गीत ही अधिक हैं। ग्राम्या का कवि अपने युग और समस्याओं की ओर पूर्णत. सजग

* साहित्य सन्देश के सितम्बर १९५० के अंक में 'महाकवि पन्त की एक कविता पर पुनर्विचार' शीर्षक लेख देखें।

है और अपने काव्य की सीमा उसी के अनुसार निश्चित करना चाहता है, अतएव कभी कभी उसके छन्दो मे समस्याए काव्य से अधिक प्रधान हो उठी है; और दूसरे, उसे वही लिखना है, जो उन समस्याओं से सम्बन्धित हो। इस कारण से ग्राम्या मे ग्राम्य जीवन के कुछ थोडे से पहलू, वह भी गौण रूप से, आ पाए हैं। किन्तु अनुभूति हीनता के लिए यह कोई ठीक बहना नही, जैसे निम्न पद्य मे देखे—

यहां नहीं शब्दों में बंधती, आदर्शो की प्रतिमा जीवित,
यहां व्यर्थ है चित्र गीत में, सुन्दरता को करना संचित।
यहां धरा का मुख कुरूप है, कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुन्दरता का मूल्य वहां क्या, यहां उदर है क्षुधित, नग्नतन ?

ग्राम्य जीवन का यह 'तटस्थ' अवलोकन है; कवि की करुणा का एक भी कण 'गर्हित-जन' के क्षुधित उदर और नग्नतन् के लिए 'व्यर्थ' नहीं हुआ। ऐसे स्थानो पर कवि की तटस्थता उसकी अयोग्यता का ही प्रमाण है। ऐसे पद्य ग्राम्या में बहुत कम नही, अतः उन्हे उद्धृत कर सकना भी सम्भव नही। किन्तु ग्राम्या में उत्कृष्ट कविताए भी बहुत है, और कुछेक तो विशेष भी। इसके प्रकृति चित्रों मे मासलता, वर्णन में एक विचित्र रुक्षता और साधारणता, तथा चित्रों में सजीवता, यथार्थता और ग्राम्यता; पल्लव की नपुसक और निर्बल कोमलता से कही अधिक चित्ताकर्षक है, कम से कम मुझे तो अधिक चित्ताकर्षक लगी है। ग्राम में 'सध्या के बाद' का एक दृश्य देखें—

माली की मँड़ई से उठ, नभ के नीचे नभ की धूमाली,
मन्द पवन में तिरती, नीली रेशम की सी हल्की जाली।
बत्ती जला दुकानों में बैठे सब कस्बे के व्यापारी,
मौन मन्द आभा में, हिम की ऊंघ रही लंबी अंधियारी।

धुँआ अधिक देती है टिन की ढबरी, कम करती उजियाला,
मन से कढ़ अवसाद श्रांति, आँखों के आगे बुनती जाला।
छोटी सी बस्ती के भीतर, लेन देन के थोथे सपने,
दीपक के मंडल में मिलकर, मँड़राते घिर सुख-दुख अपने।
कँप कँप उठते लौ के सँग, कातर उर क्रन्दन मूक निराशा
क्षीण ज्योति ने चुपके ज्यों, गोपन मनको दे दी हो भाषा।

यहा ग्राम मे संध्या की घिरती हुई उदासी का वर्णन है। भाषा भी शिथलित और उदासीन-सी, जैसे स्वय उदासी अपनी कथा कह रही है। वर्णन में कल्पना बस हाथ भर बँटाती है, बाकी सब यथार्थ ही प्रतिबिम्बित है। अन्तिम पद्य तो बहुत ही आकर्षक है। गहन अंधकार मे दीपक की लौ का कम्पन कैसा होता है—उससे 'कातर-उर के क्रन्दन' और 'मूक निराशा के कम्पन' मे तो व्यंजकता बहुत ही काव्यत्वपूर्ण है। आगे इस कविता में ही ग्राम पर पूजीवाद का प्रभाव और सामन्तवादी गतिहीनता से उत्पन्न निर्जीवता को दिखाते हुए पन्त जी कुछ अधिक गद्यमय हो गए है, फिर भी छिछलापन सीमा तक नही पहुँचा। अस्तु, एक चित्र गाँव की दीनता का भी देखें—

बृहद् ग्रंथ मानव-जीवन का, काल ध्वंस से कवलित,
ग्राम आज है पृष्ठ, जनों की करुण-कथा का जीवित।
घर घर के बिखरे पन्नों पर, नग्न क्षुधार्त कहानी,
जन-मन के दयनीय भाव, कर सकती प्रकट न वाणी,
मानव-दुर्गति की गाथा से, ओत-प्रोत मर्मांतक,
सदियों के अत्याचारों की, सूची यह रोमांचक।

यहां करुणा यद्यपि तीव्र नही, और इसकी हमे आशा करनी भी नही चाहिए, किन्तु फिर भी उसकी हल्की आहट ही यहां पीडा को काफी

गहरा कर रही है । दूसरे पद्य मे तो यह बहुत ही गहन हो उठी है । इसी प्रकार—

यह रवि-शशि का लोक, जहाँ हँसते समूह में उड़गन,
जहां चहकते विहग बदलते क्षण क्षण विद्युत् प्रभघन ।
यहां वनस्पति रहते, रहती खेतों की हरियाली,
यहां फूल है, यहां ओस, कोकिला आम की डाली,
प्रकृति धाम यह, तृण तृण कण कण जहां प्रफुल्लित, जीवित,
यहां अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण, जीवन-मृत ।

सूर्य-चन्द्र-ताराओ के इस नित्य-प्रकाशित प्रदेश में, जहा प्रकृति घनी अमराइयो मे अपनी सुषुमा का वैभव बिखरा देख स्वयं मुग्ध हो उठती है, मनुष्य इस प्रकार क्यो वचित है ? उस का सांस्कृतिक और साम्पत्तिक उत्तराधिकार आज उसे क्यो प्राप्य नही ? 'तृण तृण, कण कण जहा प्रफुल्लित' है वहां 'मानव ही चिर विषण्ण, जीवन-मृत' क्यो है ? यह विरोधाभास मिटना ही चाहिए ।

ग्राम्या में ग्राम्य जीवन के भी कुछ चित्र है' जिनमे चित्रात्मकता बहुत ही कलापूर्ण तथा व्यंग्य अत्यन्त चुभते हुए है । इनमे नृत्यों का स्थान सर्वोत्कृष्ट और प्रमुख है । ऐसे वर्णन या चित्रण हिन्दी के लिए आज भी अपूर्व है । इसका अर्थ यह नही कि ये महान् या सर्वाधिक महान् है, प्रत्युत् यह कि ऐसे 'काव्यो' का भी किसी भी साहित्य में अनिवार्य स्थान है, और इनके बिना साहित्य की 'समष्टि' अधूरी है । पन्त जी के ये 'नृत्य-चित्रण' काव्य बहुत अच्छे हैं, देखें—

उसके पैरों में घुँघरू कल
नट की कटि में घंटियां तरल,
वह फिर की सी फिरती चंचल,
नट की कटि खाती सौ सौ बल,

लो छन छन, छन छन,
छन, छन, छन छन,
ठुमक गुजरिया हरती मन ।
वह काम शिखा सी रही सिहर, नटकी कटि में लालसा-भँवर,
कँप कँप नितम्ब उसके थर थर, भर रहे घंटियों में रति स्वर,
फहराता लंहगा लहर, लहर, उड़ रही ओढ़नी फर, फर, फर,
चोली के कन्दुक रहे उधर, (स्त्री नहीं गुजरिया, वह है नर)

इस उद्धरण मे ग्रामीणों की कुरुचिपूर्ण कला का अत्यन्त चुभता चित्रण है और (स्त्री नही गुजरिया, वह है नर) मे तो उन्होने उस पर असह्य रूप से कटु व्यंग्य किया है । वास्तव में यह यथार्थ है, किन्तु पहिला सारा वर्णन इस यथार्थ को भी व्यग्य बना देता है, और फिर यह यथार्थ ही क्या हमारे समाज के प्रति कटु व्यंग्य नही ? अब जरा चमारों का नाच भी देखें—

अररर.....
मचा खूब हुल्लड़ हुड़दंग, धमक धमाधम रहा मृदंग,
उछल, कूद बकवाद, झड़प मे, खुल रही खुल, हृदय उमंग,
यह चमार चौदस का ढंग ।
मजलस का मसखरा करिंगा, बना हुआ है रंग बिरंगा,
भरे चिरकुटों में वह सारी, देह हँसाता खूब लफंगा,
स्वांग युद्ध का रच बेढ़ंगा ।
बँधा चाम का तवा पीठ पर, पहुँचे पर बद्धी का हंटर,
लिए हाथ में ढ़ाल टेंडुही, डुमुहा सी बल खाई सुन्दर,
इतराता बन वह मुरलीधर ।

इसमें भी चित्र खूब उघड़ा है । इन दोनों ही नृत्य-चित्रों के शब्द भी प्रस्तुत विषय के ही समान ग्रामीण हैं और असभ्य तथा भोंडे भी, जिससे

वर्णन में बहुत स्वाभाविकता आ गई है। पन्त की शब्द-कुशलता पल्लव में नही, यहा अधिक सराहनीय है।

हमारे गाँवों में आज भी सभ्य पूर्वकाल तक के तत्व विद्यमान है। ये नृत्य-गीत, सौन्दर्य बोध, शृंगार, अति देवी विश्वास, सामूहिक जीवन की प्रागैतिहासिक स्थिति तथा विवाह-मृत्यु आदि की रीतिया न केवल वर्तमान से ही पिछडी हुई है, सामन्त-युगीन नागरिक प्रगति से भी पीछे है। आज के युग मे यह पिछडापन किसी भी देश के लिए लज्जा की बात है। हमारे गाँवो मे यही नही, भूख है, प्यास है, अभाव है और दीनता भी हैं, और ये ग्रामीण ही हमारे आज वास्तविक प्रतिनिधि है। पन्त जी ने इस चित्रण मे नृत्य और दर्शको की उमंगों को दिखा कर इस असस्कृत रुचि को उघाड कर रख देने का प्रयास किया है। मेरे विचार मे, इसमें वे पर्याप्त सफल रहे है। इन चित्रो का महान काव्य की दृष्टि से तो कोई स्थान नही, किन्तु हमारे जीवन के विशेष पहलू को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत कर सकने के कारण यह अत्यधिक सराहनीय है और इसका इसीलिए विशेष स्थान भी है। ऐसे चित्र इसी प्रकार से—अर्थात् पद्यो में ही—प्रस्तुत किये जा सकते हैं, गद्य मे नही, किन्तु हिन्दी-साहित्य मे किसी को अवकाश ही नही मिला कि वह इस ओर ध्यान दे, अतः इनका महत्व और भी अधिक हो जाता है। इसी प्रकार एक 'कहारो का रुद्र नृत्य' भी ग्राम्या मे है किन्तु वह अच्छा नही बन पाया, इसमें वे कुछ दार्शनिक रूप मे ही वर्णन करने लगे है, जिससे नृत्य का हुल्लड-हुड़दग चित्रित नही हुआ। एक पद्य देखें—

रंग रंग के चीरों से भर, अंग चीर वासा से,
'२' दैन्य शून्य में अप्रतिहित जीवन की अभिलाषा से,

× × ×

हुलस नृत्य करते तुम अटपट, धरपटु-पद, उछृंखल,
'४' आकांक्षा से समुछ्वसित, जन-मन का हिला धरातल !

फड़क रहे अवयव-आवेश-विवश मुद्राएं अंकित,
प्रखर लालसा की ज्वालाओं सी अंगुलियां कंपित ।
'७' उष्णदेश के तुम प्रगाढ़ जीवनोल्लास से निर्भर;
बर्हभार उद्दाम कामना के से खुले मनोहर ।

यहा दूसरी, चौथी और सातवी पक्तिया शिथिल और 'दार्शनिक' है, सातवी तो निरर्थक भी है, क्योकि उष्ण देश के जीवनोल्लास (प्राकृतिक समृद्धि) से वे वंचित है और ग्राम्या का भी यही दृष्टिकोण है । इसी प्रकार

खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में क्षण भर

इसमे भी वही रोमैंटिक फिलासफी ही है । चाहे वास्तव मे ही उनके हृदय में उससे जन-सस्कृति का सौन्दर्य-स्वप्न जागृत हुआ हो, किन्तु यहा तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे इसे उचित और आवश्यक समझते हो किन्तु महसूस न करते हो । ऐसे और भी अनेक पद्य है ।

इसी प्रकरण मे यद्यपि कुछ भिन्न रूप से, ग्राम-वधु का भी स्थान है । इसे लेकर पन्त जी को काफी बुरा-भला कहा गया है, क्योकि इसमे पन्त जी ने यथार्थ का वह रूप ही सामने रखा है जो मधुर नही, जब कि यथार्थ का एक दूसरा पहलू भी था । हमारा सास्कृतिक प्रतिनिधित्व 'शकुन्तला' का चतुर्थाक ही कर सकता है, पन्त की ग्राम-वधु कविता नही । काव्य की दृष्टि से भी गृह-वियोग की उस मधुर विह्वलता मे जो महत्ता और उदात्तता है वह इसमे सम्भव ही नही; उसमे हमारी पारिवारिक संस्कृति और दुहिता (दूरेहिता) का बाबुल (पिता) भाई और माता से सम्बन्ध , नैहर से प्यार बहुत ही मधुर और गौरवपूर्ण है । किन्तु यह उदात्तता जब केवल रूढि रह गई हो, जैसे प्रताप के वशजो का भूमि-शयन, तब ? पन्त जी यहा यही दिखाने बैठे हैं; उनका प्रकरण ही भिन्न है, अत. शकुन्तला का गृह-वियोग

यहा प्राकर्णिक ही न होता। अतः वे इस मधुरता के मोह को छोड़ कर इस हृदय-शून्य प्रथा पर ही चोट कर रहे हैं—

भीड़ लग गई लो स्टेशन पर,
सुन यात्री ऊंचा रोदन-स्वर,
झाँक रहे खिड़की से बाहर,
जाती ग्राम वधू पति के घर।
चिन्तातुर सब, कौन गया मर,
पहियों से दब, कट पटरी पर,
पुलिस कर रही कहीं धर पकड़,
जाती ग्राम वधू पति के घर।

सूरदास के प्रेम-लीला के गीत स्पृहणीय हैं, किन्तु नाथूराम शकर की मूर्ति पूजा पर चोट भी काव्य-दृष्टि से या सांस्कृतिक दृष्टि से भी, खीझने योग्य नही, शकुन्तला का चतुर्थ अध्याय मधुर है, किन्तु पन्त की ग्रामवधु भी अवाछनीय नहीं। ऐसी कविताओं के लिए तो सहानुभूति की बात भी नही उठाई जा सकती, क्योकि इन प्रथाओ पर तो प्रहार कर ही इन्हें समाप्त किया जा सकता है। एक पद्य और देखें जो अत्यन्त तीक्ष्ण है—

नहीं आँसुओं से तर अंचल,
× × ×
रोती वह रोने का अवसर,
× × ×
लो अब गाड़ी चल दी भर भर,
बतलाती धनि पति से हँस कर
जाती ग्राम वधू पति के घर।

मैं नही समझता कि यह यथार्थ नही और इस पर मधुरता और 'आध्यात्मिकता' का मोह छोड कर चोट नही करनी चाहिए। (किन्तु ऐसी कविताए काव्य के महत्व की नही होती।)

आज पूजीवादी अन्तर्विरोधो के कारण हमारी समाज मे जो नैतिक-मूल्य निर्धारित हो गए है, जो व्यक्ति और समाज को दो भिन्न और कभी-कभी विरोधी भी, चेहरो के रूप मे ला खडा करते है, उससे व्यक्ति मे आज एक कुत्सित द्वद्व-ग्रथि उत्पन्न हो गई है, जो उसकी मानसिक शिथिलता और ऊष्णता का कारण बननी है। इस पर भी पन्त जी ने वज्र-प्रहार किया है। इसको लेकर उन्होने हमारी नागरिका पर कुछ यग्य कसे है। एक स्थान पर वे ग्रामीण-नारी के प्रति कहते हुए नागरिका के लिए कहते है—

> **कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,**
> **उद्दीप्त न करता, उसे भाव-कल्पित मनोज।**

इसे सकारात्मक वाक्यों मे नागरिका के लिए कहा जा सकता है, और पन्त जी का यही उद्देश्य भी है। 'कृत्रिम-रति की आकुलता' और 'भाव-कल्पित मनोज' हमारे युग की द्वद्व-ग्रथि जनित रुग्णता को जितनी गहराई से अंकित कर सके हैं उतना अन्यत्र मिलना असम्भव सा ही है, कम से कम मैंने नही देखा। यह यथार्थ है और इसका अभिधेयार्थ ही वास्तविक अर्थ है, तब भी यह इतना तीव्र व्यंग्य है कि कोई तिलमिलाए बिना नही रह सकता। और यह यथार्थ इतना घृणित है कि उस पर चोट होनी ही चाहिए, किन्तु यह पूजीवाद की उपज होने से उसके साथ ही समाप्त होगा।

अस्तु, इन कविताओं में पन्त जी ने हमारे गाँवों की परिस्थितियों का आभास देकर हमारे समाज को उनके प्रति उद्‌बुद्ध करने का प्रयास किया है, और इसमें (चित्रण में) आप काफी सफल भी रहे है, किन्तु

इनका लक्ष सामाजिक रीतियां ही अधिक है, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियां नहीं, अत. ये सुधारवादी प्रवृत्ति तक ही सीमित रहे है। जहां कही इनका संकेत है भी, वह इतना शिथिल और गौण है कि उससे (सामाजिकता) की ही प्रतीति होती है। वास्तव में वे आर्थिक परिस्थितियो को समझते ही गौण है, जैसा कि इनकी आ० क० की भूमिका से भी ज्ञात होता है।

अस्तु, ग्रामनारि और नागरिका इत्यादि पर पन्त जी ने और भी कविताएं लिखी है किन्तु उनका कुछ भी, किसी भी दृष्टि से, कोई महत्व नही, अतः उन्हे यहा उद्धृत नही किया जा रहा।

इन सुधारवादी कविताओ और व्यग्यों के पश्चात् कुछ फुटकल कविताओं का स्थान है, जिनमे तीन-चार तो निश्चित रूप से काफी अच्छी है। ग्राम्य-जीवन के, अथवा प्रभावात्मक चित्रो के अतिरिक्त ग्राम्या में बहुत कम ही कविताए शेष रह जाती है; इनमे दो-तीन प्रकृति चित्र, भारतमाता तथा राष्ट्रगीत और नक्षत्र (अपनी काटेज के प्रति) इत्यादि कविताए विशेष महत्व की है। और इनसे पृथक् किन्तु सर्वाधिक महत्व पूर्ण कविता ग्राम-युवति है, जिसको लेकर काफी छीछालेदर हुआ है। अनेक छायावादियो ने तो यहा तक ताने कसे "नागरिका से हट कर गाँवों की मेडो पर इसीलिए भटके थे ?" और बस प्रगतिवादियो के विरूद्ध यह मुहावरा ही बन गया और प्राकर्णिक या अप्रकर्णिक रूप से उनके लिए वरता जाने लगा। अक्सर आलोचक लिखते "आज कवि मृणाल-कोमल भुज लताओ का आलिगन छोड कर मजदूरनी के कृश-कर्कश (यद्यपि यह कृषक बाला की स्वस्थ-भुजाए है) भुजदण्डो मे बँधने की बात कहता है।" अर्थात्, हमे मृणाल-बाहुओ के पाश मे ही चैन से सोना चाहिए था (मै यदि क्षम्य समझा जाऊँ तो मुझे कहना चाहिए कि "अधिकाश का यही अभिप्राय होता था, और जैसा कि मेरा अनुभव है, बहुतो ने यही

समझा भी।") यही लोग—शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि—एक दूसरी बात पन्त जी के प्रगतिवादी होने (पर यद्यपि पन्त जी ने प्रगतिवाद को कभी भी नही समझा) पर आक्रोश प्रकट करते हुए कहते है "पन्त जी के स्वभाव के यह अनुकूल नही, और वास्तव मे आज भी मूलतः वे वही है जो पहिले थे।" (यद्यपि यह भी बात नही ?)

खैर, जो भी हो प्रगतिवादी मजदूरनी की बाहुओ मे लिपटने को कभी नही भटके थे और न पन्त जी ने ही 'स्वाद-बदलने' के लिए मृणाल-बाहुओं को छोड़ा था। पन्त जी की 'ग्राम-युवति' का भी यह अभिप्राय नही है, उन्होंने साधारण रूप-चित्रण मात्र किया है जिसमे कुरुचि की कोई आहट भी नहीं। महादेवी जी को इस पर विशेष आपत्ति है। वे कहती है, "छाया युग की छाया से आया हुआ यथार्थवादी सौन्दर्य का ऐसा संस्कार लेकर आया जो अपना व्यापक चित्राधार छोड़ कर रीति-युग की सौन्दर्य-दृष्टि से भिन्न नही रह सका।" किन्तु ऐसी बात नहीं है। छाया युग की छाया पूंजीवादी नैतिक भावों के विरोधाभास का ही परिणाम थी जिसमें **पूंजीवादी** कवि का ही दम घुटा जा रहा था; अचल इत्यादि के यथार्थवाद का यही रहस्य है, और वह वास्तव मे स्वाभाविक भी था। किन्तु छाया युग के व्यापक चित्राधार का फूलों-कलियों के चुम्बन मे आत्म-तृप्ति खोजने के अतिरिक्त और कुछ भी अर्थ नही। निराला जी की 'जुही की कली' तथा 'गीतिका' के अनेक गीत, और प्रसाद के नाटकों के बहुत से गीत तथा प्रायः कविताओ मे कली मधुपो की उन्मद नोक-झोंक में चलने वाले निष्ठुर चुम्बन-परिरम्भण वाली 'छायावादी' कविताओ के सामने बेचारी मेड़ों पर घूमने वाली ग्राम-युवति की क्या मजाल ? क्या फूलों की ओट ही दृप्तवासनाओं की असामाजिक अभिव्यक्ति को शिष्ट बना देगी ? महादेवी जी को यह भी शिकायत है कि 'स्त्री के वात्सल्य का मूल्यांकन न कर उन्होने उसका शृंगारिक वर्णन ही किया है।' स्त्री

के वात्सल्य और सहृदयता का अनन्त मूल्य है, किन्तु उसका मूल्य केवल वात्सल्य और सहृदयता ही नही, श्रृंगार भी है। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास ने स्त्री के शारीरिक-सौन्दर्य का वर्णन क्या नही किया? रहस्यवादी रवीन्द्र, शेली, कीट्स या प्रसाद ने उसके वात्सल्य का कितना वर्णन किया है?

पन्त जी ने ग्राम-युवति के चित्रण मे उसकी स्वस्थता, चपलता और खुले वातावरण के खुलेपन को ही विशेष रूप से चित्रित किया है, पहिले एक मजदूरनी का चित्र देख ले, इससे हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जाएगा——

तुम प्रिय हो मुझे, न छूती तुम को काम-लाज

× × ×

यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से।

यहां निचली पक्ति मे उसका स्वास्थ्य वर्णित है, जो उसके वातावरण और कर्म निरत जीवन के सौन्दर्य का प्रतीक है यद्यपि यह यथार्थ नही। इसी प्रकार ग्राम-नारी का भी एक चित्र देखे——

स्वाभाविक नारी-जन की लज्जा से वेष्टित,
नित कर्म-निष्ठ, अंगों की हृष्ट-पुष्ट सुन्दर,
श्रम से है जिसके क्षुधा-काम चिर मर्यादित,
वह स्वस्थ ग्रामनारी, नर की जीवन-सहचर।

यहां भी कही वात्सल्य नही शरीर का ही वर्णन है जो श्रम से पुष्ट कहा गया है, यद्यपि यहा कवि का जोर श्रम पर है। ग्राम-युवति में युवति के अगो का वर्णन भी बड़ी ललित भाषा मे है, किन्तु मुझे उसमे लिप्सा और उत्तेजकता कही नही दीख पडी। एक चित्र देखे——

तन पर यौवन सुषुमा शाली
मुख पर श्रम-कण, रवि की लाली,
सिर पर धर स्वर्ण-शस्य बाली,
वह मेड़ों पर आती जाती,
उरु मटकाती,
कटि लचकाती,
चिर वर्षातप हिम की पाली,
धनि श्याम वरण
श्लथमन्द चरण,
अधरों से धरे पकी बाली ।

यहा रेखाकित पक्तियो को देखे, इनमे और 'ग्राम' नारी से उद्धृत पिछले पद्य मे क्या अन्तर है सिवाय इसके कि इसमे एक गति है, और चित्रण में अधिक कुशलता है । 'उरु मटकाती, कटि लचकाती, ' उसके 'प्राकृतिक' ओर स्वस्थ शरीर का स्वाभाविक वर्णन है, जिसमे यौवन की स्वस्थ अभिव्यक्ति स्वतः फूट पडती है । और अन्त मे––

रे दो दिन का उसका यौवन,

कहने का अर्थ 'मनुष्य के अनुरजन के लिए प्राप्त स्वास्थ्य' के मिटने की चिन्ता नहीं

दुःखों से पिस,
दुर्दिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन,

पर जोर है, जो ग्राम्या का प्रकरण है । महादेवी जी को छायावाद की छायामयता से इतना मोह है कि वे फूलों की ओट में दृप्तवासना का प्रदर्शन तो देख सकती है, और किंचितदपि स्पष्टता की आहट पर, चाहे

उसका उद्देश्य कुछ भी हो वज्र-प्रहार के लिए प्रस्तुत हो उठती है। यथार्थ कह कर बहुत कुछ कुत्सित दिया गया, और उसका विरोध हम भी स्थान-स्थान पर बड़ी तीव्रता से कर चुके है, किन्तु इस कविता मे मुझे कोई ऐसी भावना नही दीख पडी।

'ग्राम युवति' कविता मे लय की गति, चित्राकन की कुशलता तथा शब्दों मे माधुर्य और नृत्यमयता बहुत ही उत्कृष्ट और कलात्मक है। एक चित्र देखे—

उन्मद यौवन से उभर,
घटा सी नव-असाढ़ की सुन्दर,
अति श्यामवरण,
श्लथमन्द चरण,
इठलाती आती ग्राम-युवति,
वह गज-गति सर्प डगर पर।

निचली पक्ति की गतिमयता विशेष दर्शनीय है। प्रथम दो पंक्तियो मे उसके श्यामवरण, उन्मद यौवन तथा उन्मद सौन्दर्य का चित्र बहुत कलात्मक है। इसी प्रकार उसके सहज-प्राकृतिक-जीवन का भी एकचित्रलें—

कानों में गुड़हल खोंस धवल,
या कुँई, कनेर, लोध, पाटल,
वह हरसिंगार से पट सँवार,
मृदु मौलसिरी के गूंथ हार,
गउओं से करती वन-विहार,
पिक चातक के सँग दे पुकार,
वह कुन्द-काँस से, अमलतास से,
आम्र, मौर, सहजन पलाश से,
निर्जन में रच ऋतु-सिंगार।

इस पद्य मे भी ग्राम-युवति का सहज-प्राकृतिक-जीवन ही वर्णित है, इस वर्णन मे यदि उसके स्वस्थ अगो का भी वर्णन हो तो कोई आपत्तिजनक काम नही होगा। दो-एक स्थलो पर अग वर्णन मे कुछ अधिकता भी है अवश्य किन्तु वह इतनी खटकने वाली नही, कम से कम वह अक्षम्य तो बिल्कुल भी नही। जैसे—

पनघट पर, मोहित नारी नर !—
जब जल से भर भारी गागर,
खींचती उबहनी वह, बरबस—
चोली से उभर-उभर कसमस,
खिचते सँग युग रस भरे कलश;—
जल छलकाती,
रस बरसाती,
बल खाती वह घर को आती,
सिर पर घट,
उर पर धर पट।

यहा वर्णन में 'रसज्ञता' कुछ अधिक है; 'उभर-उभर कसमस' तथा 'रसभरे कलश' में तो यह बहुत अधिक हो गई है। उनका 'रस-भरे' विशेषण अच्छा सकेत नही करता, और आज के 'युग-प्रबुद्ध' कवि के लिए तो यह बहुत 'बडी' बात है। किन्तु इस पद्य से सारी कविता को ही बुरा नहीं कहा जा सकता। फिर छायावाद की छाया का नाम लेकर तो इसे कुछ भी कहना हिमाकत है।

ग्राम्या की इस महत्वपूर्ण कविता के पश्चात् नक्षत्रादि पूर्वोक्त फुटकल कविताओं का स्थान है, और कुछ प्रकृति-चित्र भी है। 'स्वीट पी के प्रति' कविता, काफी स्वीट (मधुर) है, किन्तु इसमें फूल अपनापन खोकर सुकु-

मार कुल-वधु ही बन गया है । शेष प्रकृति वर्णन की कविताए कोई विशेष महत्व-पूर्ण नही ।

भारत माता और राष्ट्रगीत दोनो ही कविताएं काफी अच्छी है। 'भारत माता' को यहां किसी अप्सरि के रूप मे चित्रित नही किया गया, जैसा कि प्राय: किया जाता है, और न उसके 'स्पन्दित उरोज उभार' पर चूर्ण होते आँसूओ का ही वर्णन है, जैसा कि पन्त जी आज कर रहे है, प्रत्युत् वह यहा हमारे ग्राम के समान ही शोषित, पराजित और शिथलित है; उसका आचल तारकोज्वल नही मलिन और जीर्ण है; कुछ पद्य देखे——

भारत माता, ग्राम-वासिनी,
खेतों में फैला है श्यामल, धूल भरा सा मैला आँचल,
गंगा-यमुना में आँसू-जल, मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।
तीस कोटि सन्तान नग्न तन, अर्ध-क्षुधित शोषित निरस्त-जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन, नतमस्तक तरुतल निवासिनी।

किन्तु ये मूढ, असभ्य कैसे सज्ञान और सभ्य बने ? 'प्रगतिवादी' पन्त जी कहते है——

पिला अहिंसा स्तन्य-सुधोपम,
हरती जन-मन-भय, भव-तम, भ्रम।

इस कविता मे भारत माता की दीनता, परवशता और व्यथा हमारे हृदयो को स्पर्श करती है——इसमे सन्देह नही । फिर भारत माता का यह वर्णन भी भाववाचक Abstract नही, यहा कोटि कोटि निरस्त मनुष्यो की आवाज है । राष्ट्रगीत से भी कुछ पद्य देखे——

जन भारत हे।
भारत हे!
समुच्चरित शतशत कण्ठों से
जन-युग स्वागत हे,

सिन्धु-तरंगित, मलय-श्वसित,
गंगा जल ऊर्मि निरत हे,
शरद-इन्दुस्मित अभिनन्दन हित
प्रतिध्वनित पर्वत हे,
स्वागत हे, स्वागत हे,
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे।

यह गीत सामूहिक गान में बहुत आकर्षक प्रतीत होता है। राष्ट्र-गान में जो अन्य विशेषताए —देश की महत्ता, उदात्तता, पवित्रता तथा श्रद्धेयता का चित्रण-आवश्यक है वे भी इसमे पूर्ण रूप से विद्यमान है। गगा और हिमवत इत्यादि के द्वारा देश की सीमाए भी रखी गई है, 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' के समान सार्व भौमिकता नही। कवि जन-युग, कृषक-श्रमिक युग के द्वारा सुन्दर भावि की ओर भी सकेत करता है, यद्यपि 'अहिंसास्त्र मे उसकी गाधीवादी धारणाए ही स्पष्ट होती है।

ग्राम्या के प्रायः अन्त मे 'नक्षत्र' (अपनी कॉटेज के प्रति) 'आगन से' तथा 'याद' कविताए बहुत अच्छी है। ये तीनो ही आत्मपरक कविताए हैं, अतः इनमे संवेदना अधिक है। 'नक्षत्र' तो इन सब मे उत्कृष्ट है, देखें—

मेरे निकुंज नक्षत्रवास,
इस छाया वन के मर्मर मे, तू स्वप्न-नीड सा निर्जन में,
है बना प्राण-पिक का निवास।

आती जग की छवि स्वर्ण-प्रात, स्वप्नों की नभ की रजत-रात,
भरती दिशिदिशि में चार वात तुझ में वन वन की सुरभिसाँस।
तू मुझे छिपाए रह अजान, निज स्वर्ण-मर्म में खग समान,
होगा अग-जग का कण्ठ-गान, तेरे इन प्राणों का प्रकाश।

अपने एकान्त कुटीर के प्राकृतिक सौन्दर्य मे बैठा कवि जब कुटीर

और अपने हृदय के सूनेपन का अनुभव करता होगा, उस समय उसका हृदय स्वभावतः अद्वितीय परस्पराश्रितता की अनुभूति से विह्वल हो उठता होगा। इस कविता के मूल मे कवि की यही अनुभूति प्रेरणाशील है। यहां 'स्वर्ण-मर्म' का अर्थ समझ मे नही आया, क्योकि स्वर्ण 'मर्म' का कोई अच्छा विशेषण प्रतीत नही होता। अस्तु, इसी प्रकार 'आँगन' से' कविता भी काफी सुन्दर है। एक पद्य ले—

रोमांचित हो उठे आज नव-वर्षो के स्पर्शो से,
छोटे से आँगन मेरे, तुम रीते थे वर्षो से।
जन-निवास से दूर, नीड़ में वन-तरुओं के छिप कर,
भू उरोज से उभरे इस एकान्त-मौन भीटे पर।
एक ओर गहरी खाई में सोया तरुओं का तन,
केका-रव से चकित, बिखेरे सुख-स्वप्नों का सम्भ्रम।
हरित भरित वन-नीम उछ्वसित, शाखाओं का विह्वल,
वक्ष-भार हां, रहे झुकाए, मेरे ऊपर कोमल।

यहा कवि एकान्त-सौन्दर्य मे मुग्ध-सा विश्रान्त भाव से अपने आंगन और चहुं ओर की प्रकृति-सुषुमा को निहार रहा है। यहां भी अपने 'छोटे से' आंगन से उसकी आत्मीयता बहुत गहरी है। 'छोटे से आंगन' में तो करुणा-आगन के प्रति भी और अपने प्रति भी—थकन के कारण—बहुत ही विह्वल हो उठी है।' याद' कविता भी लगभग इसी अनुभूति से लिखी गई है और वह काफी अच्छी है, यद्यपि इनसे कुछ कम।

अब हम ग्राम्या की काव्य-दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रायः सभी कविताओ को देख चुके है। इनमें कुछ उत्कृष्ट, कुछ साधारण और कुछ निकृष्ट कविताएं भी थी; किन्तु निकृष्ट कविताओं को हमने प्रायः नही लिया। तो भी इस मूल्यांकन के आधार पर ग्राम्या को सहज ही पल्लव से आगे रखा जा सकता है। ऐसा मै प्रगतिवादी दृष्टि से नही कह रहा हूँ, क्योकि इसे मै

किसी भी दृष्टि से एक प्रगतिवादी कृति नही समझता, यह सब तो मै काव्य-दृष्टि से ही कह रहा हूँ। ग्राम्या मे बहुत सी कविताए सरस, हृदयस्पर्शी हैं, और उनकी यह सरसता पल्लव की कोमल-निर्बल-कल्पनाओ से उत्पन्न सरसता के भ्रम जैसी नही। उदाहरणार्थ, छाया कविता हृदयस्पर्शी नही, उसका भ्रम है, क्योकि उसमे कोई भी कल्पना सगत नही। सरसता का भ्रम वहां इसलिए उत्पन्न होता है, क्योकि वर्ण्य विषय प्रकृति है और उपमाए या उत्प्रेक्षाए करुणाजनक या श्रृंगारिक कथाओ से ली गई हैं, अथवा ऐसे उपमान रखे गए है जो मधुर रूप मे प्रसिद्ध है। ग्राम्या मे यह बात नही हैं; वहा तो कवि को उपमा-उत्प्रेक्षाओ के बिना ही काम चलाना पडा है, अत. ऐसी कविताओ मे सरसता उस की हृदगत ही है शब्दो या उपमाओ की नही ? भाषा की दृष्टि से पल्लव बहुत उत्कृष्ट है, क्योकि उसके शब्दो मे कोमलता है, किन्तु ग्राम्या की 'भाषा भी कम उत्कृष्ट नही, क्योकि उसके शब्दों मे एक शक्ति और दृढता है (यह मुकाबला इन दोनों तक, अथवा पन्त काव्य तक ही सीमित है, अन्यथा ग्राम्या कोई विशेष उत्कृष्ट कृति नही है।)

हम पीछे देख आए है कि युगवाणी और ग्राम्या की पृष्ठ भूमि 'प्रगतिवादी' नही है, अतः इसका इस दृष्टि से कोई महत्व नही; इस अध्याय का नामकरण 'प्रगतिवाद' केवल इसीलिए किया गया है, क्यो पन्त जी, और अन्य आलोचक भी इसे इसी रूप में प्रस्तुत करते आए है। शायद बहुत से आलोचक मेरी इस संकुचित सीमा पर हँसेंगे और कहेगे कि "अन्य प्रगतिवादियों की तरह यह भी मार्क्स के विचारों का कविता में अनुवाद चाहता है।" किन्तु मैं इसे बुरा नही समझता। मार्क्स के विचारों की भी एक श्रेणी है——परम्परा है; उस दृष्टिकोण से अनुभूत वस्तु सत्य या भाव-सत्य जब अभिव्यक्ति पाएगा, तभी उसे प्रगतिवादी कहा जा सकेगा, अन्यथा नहीं।

नूतन रहस्यवाद

पीछे, प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि मे, हम लिख आए है कि "विश्व निरन्तर परिवर्तनशील घटनाओ का क्रम है," किन्तु इससे हमारा तात्पर्य वही नही है जो एक जिओमैट्रिशियन Geometrician का बिन्दुओ से बनी रेखा से होता है, क्योकि वास्तव मे न तो रेखा ही विन्दुओं का निर्माण है और न विश्व घटनाओ का। यह परिवर्तन एक प्रवाह है जिसमे कही विच्छेद नही। नदी के प्रवाह और इसमे एक अन्तर है कि जहा वह पीछे से नवीन द्रव्य पाता और आगे बढता है, यह स्वय अपने शरीर पर अतीत को चिन्हित करता है और वर्तमान मे से भविष्य की ओर अग्रसर होता है। हम अभिरुचि के आग्रह और सजगता Consciousness के कारण घटनाओ को ही देख सकते है और उनमे कार्य-कारण श्रृंखला खोजने का प्रयास करते है। हमारा वैज्ञानिक भी अपने प्रयोग इसी विन्दुओ-रेखाओं के आधार पर करता है, उसकी Mechanistic दृष्टि देश को बिन्दुओ की विशेष स्थिति और काल को घटनाओ Instants की कारणकार्य श्रृंखला मे गति मात्र ही देख पाती है और इस प्रकार घटनाओ तथा विन्दुओ के 'अन्तर' के प्रति नकारात्मक हो जाती है। यदि हम उसकी देश-काल की यह व्याख्या मान ले तो उसका अर्थ हो जाएगा कि हम केवल वर्तमान मे रह रहे है और यह कि प्रत्येक दो घटनाओ और बिन्दुओ के अन्तर मे विश्व का विलय और घटनाओ और बिन्दुओ पर पुनरुद्भव होता है। इसे यदि हम अपने शरीर पर घटित करे तो वैज्ञानिक के अनुसार बचपन कैशोर्य का कारण है और उसे उत्पन्न कर समाप्त हो जाता है। किन्तु यह कितना भ्रामक है यह हम आगे देखेगे।

वास्तव में गणित और फिजिक्स का बिन्दुओ और घटनाओ के अतिरिक्त गुजारा भी नही, किन्तु यथार्थ हमारे गुजारे का सापेक्ष्य नही है। सिनेमा के चित्र देश-काल के जिन नियमो के अनुसार गति करते है यथार्थ उन्ही के अनुसार गति नही करता। सिनेमा के चित्रो मे देश और अतएव काल लय ओर पुनरुद्भव के क्रम से चलते है। मै जब अपना हाथ क से ख तक उठाता हूँ तब वह विन्दुओ की रेखा नही बनाएगा जैसे कि सिनेमा का क से ख तक उठता हुआ हाथ। इस प्रकार सिनेमा का देश और काल केवल वर्तमान मे रहता है। वर्ट्रेंड रसल यहा कहते है—

If a tune takes five minutes to play we do not conceive of it as a single thing which exists throughout that time, but as a series of notes, so related as to form a unity. In the case of the tune, the unity is aesthetic, in the case of the atom-it is causal."*

यह भी ठीक है कि ट्यून भिन्न भिन्न स्वरो का लय है किन्तु यहां यह भी ठीक है कि वे स्वर कार्य-कारण श्रृखला मे नही बॅधे हुए और न वे इतिहास ही बनाते है, वहा बचता है केवल वर्तमान का स्वर। और सच तो यह है कि ऐटम की गति में भी यदि अविच्छिन्नता नही मानी जाएगी तो वहा भी यह सम्भावना माननी होगी।

इसी प्रकार वे अपने कथन को और भी स्पष्ट करते हुए अन्यत्र कहते है—Given an event EI, there is an event E2 and a time interval T, such that when ever EI occurs E 2 fallows after an interval T.

* An Outline of Philosophy, p. 118. Fourth Eddition, 1948

किन्तु हम आगे और भी विस्तार से देखेंगे कि इस प्रकार की कल्पना अवास्तविक ही नही अतर्कसम्मत भी है। इगलैण्ड के एक बडे भौतिक विज्ञान वेत्ता जेम्स जीन्स का विचार है कि there is no scientific justification for dividing the happenings of the world into detached events *

स्वभावत इससे प्रश्न उत्पन्न होता है 'तब सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई ?' क्योकि उसके नियम को जानने के लिए उसकी जड को समझ लेना आवश्यक है।

मुझे इस प्रश्न ने पहिले एक दूसरे रूप में आक्रान्त किया था—"मै कौन हूँ ? क्यो हूँ ?' और शीघ्र ही इन प्रश्नो को दबा कर एक और प्रश्न उठा—यह सब क्या है और कैसे है ?" इन प्रश्नो के उत्तर रूप मे मै एक प्रवाह सन्तान की कल्पना कर सकता हूँ, किन्तु इससे मेरा प्रश्न टस से मस नही होता, क्योंकि यह प्रवाह-सन्तान देश और काल ही तो है ? प्रश्न तो यह है कि यह सब कैसे बना ? क्या यह किसी उद्धत की क्रीडा मात्र है ? निरूद्देश्य ?? तो वह कौन है और क्यों निरूद्देश्य है ? स्वयं क्रीडा और मौज भी तो उद्देश्य हो सकता है ? मान लो कि वह क्रीडा करता है और सृष्टि उसका साधन है, तब ? इससे तो इस सब की कोई सगति नही बैठ सकती। क्योकि साधन साधक से पृथक् अस्तित्व होने से अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर देता है।

एक शिकारी अपने शिकार पर बूमरग** फेंकता है, उसका उद्देश्य है शिकार मारना। शिकार के यदि वह नहीं लगता तो वापिस आ जाएगा। अब हम थोड़ी देर के लिए शिकारी को भूल कर कह सकते है—बूमरंग

* Physics and Philosophy

** आस्ट्रेलिया की जंगली जाति का एक हथियार जो शिकार के न लगने पर लौट आता है।

का उद्देश्य है शिकार मारना और असफल होने पर चलने के स्थान पर लौट आना। यहा बूमरग के चलने से पहिले ही उसमे दो उद्देश्य निहित है ओर एक Supposition सम्भावना, शिकार मारना, न लगने पर लौट आना और 'यदि न लगे?'। यहा आध्यात्मवादी मुझे विह्वलता से टोकते हुए कहेगा कि 'ये उद्देश्य और सम्भावना बूमरग की अपनी नही क्योकि वह न तो शिकार को मारने की चेतना रखता है और न लौटने की।' किन्तु चेतना न होने पर भी तो उद्देश्य हो सकता है ? शिकारी के हाथ से निकलने के बाद उसका शिकारी से क्या सबन्ध, उसे शिकार के न लगने पर गिर जाना चाहिए या उसे जिधर को चाहे घूम जाना चाहिए; वह चलता ही रह सकता है, लौटना ही उसके लिए अनिवार्य क्यो है ? किन्तु वह शिकारी के हाथ मे निकल कर भी उसी से नियत्रित है, यह हम जानते हें क्योकि उसका निश्चित दिशा की ओर जाना और लौट आना शिकारी की उस कुशलता मे निहित है जो बूमरग को गति देते हुए उसने प्रयुक्त की थी और जिससे शिकारी का उद्देश्य और Supposition क्रियात्मक रूप से अभिव्यक्त हो सकी। अत हम मान लेते है कि बूमरंग ओर शिकारी अभिन्न है क्योकि मारने का और लौटने का कार्य तो बूमरंग करता है किन्तु वह इनके ज्ञान से वंचित है और शिकारी जानता है किन्तु वह न तो शिकार मारता है और न लगने पर लौटता ही है। "यह ठीक है", आध्यात्मवादी मेरी जड़ता पर खीझ कर कहेगा, "किन्तु हमें इस सम्बन्ध को ठीक तरह से रखना चाहिए और कहना चाहिए कर्ता और द्रष्टा, दोनों, शिकारी है, बूमरग साधन है और शिकार उद्देश्य। शिकारी बूमरंग फैंकता है और न लगने पर लोटा लेता है।" किन्तु इससे भी समस्या नही सुलझती, क्योंकि बूमरंग शिकार मारने का साधन तो है किन्तु लौट आने का साधन वह नहीं। तब लौट आना क्या है ?—शिकारी की दी हुई गति में निहित शिकारी की कुशलता!

अब पुलक छिपाते हुए आध्यात्मवादी कहेगा—"ठीक, सृष्टि भी ठीक इन्ही नियमों पर चलती है । यह सम्पूर्ण गति, सृजन और परिवर्तन जड से चेतन की उत्पत्ति और व्यक्तिया Species इत्यादि ईश्वर की दी हुई गति मे ही निहित है ।" और मुझे धीरज देते हुए कहेगा—"अब चाहे आप यह कहले कि यह स्वय प्रकृति में ही निहित है । नही तो बेचारे बूमरग के पास अपना उद्देश्य कहा ? पदार्थ मे स्वय ही सृजन की शक्ति कैसे सम्भव ?"

किन्तु आध्यात्मवादी यह भूल जाता है कि सोद्देश्यता सापेक्षक शब्द है, क्या-क्यो-कैसे के प्रश्न ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को खण्डित कर देंगे। दूसरे, 'उद्देश्य' अनुभूति है—'गुण', जो अपनी अवस्थिति के लिए मात्रा पर आश्रित होने को बाध्य है । फिर उद्देश्य की अनुभूति का अर्थ है अभावनु-भूति, जो ईश्वर की ईश्वरता का खण्डन है । तीसरे उद्देश्य की कल्पना के लिए पहिले ही से कोई विद्यमानता होनी आवश्यक है जिसके आधार पर वह 'जैसी' कल्पना कर सके । अभावानुभूति के लिए भी किसी भाव की पूर्व विद्यमानता आवश्यक है जिसके अभाव की अनुभूति वह हो सके । इसके अतिरिक्त प्रकृति को पृथक् मानते हुए हम यह भी मानने को बाध्य है कि कर्ता ईश्वर अपनी क्रिया के लिए प्रकृति की सीमाओं से बँधा है । यदि वह स्वय ही ईश्वर है और स्वयं ही प्रकृति तो प्रश्नों की सख्या और बढ जाती है । इस प्रकार ईश्वर, चाहे उसे निमित्त कारण कहा जाय या उपादान और निमित्त दोनो—वह ईश्वर नही हो सकता । सीमित शक्तियो वाले ईश्वर को आध्यात्मवादी भी तो पसन्द नही करता ?

शिकारी को ही कर्ता और करण मान लेने के हमारे प्रस्ताव पर शून्य-वादी आध्यात्मवादी पर हँसेगा और कहेगा—"वास्तव मे शिकारी, बूमरंग और शिकार मूलतः शून्य है । शिकारी का शिकारीत्व या अशि-

कारीत्व (हम इस शब्द का प्रयोग नकारात्मक रूप मे नही पूरक के रूप मे कर रहे है जैसे गद्य ओर पद्य) कोई नित्य धर्म नही, ये दोनो शून्य को आपूरित कर रहे है ।" शून्य की इस कल्पना का आधार भाषा मे अभिव्यक्त हमारी केन्द्रित अभिरुचि है और कुछ नही । देवदत्त शिकारी को खोजते हुए अशिकारी को सम्मुख पाकर कह सकता है 'यह शिकारी नही," इसी प्रकार अशिकारी के लिए भी, किन्तु वास्तव मे उसका अर्थ होता है 'यह अशिकारी है ।' पहिले और 'गलत' वाक्य मे हमारी केन्द्रित अभिरुचि का दुराग्रह है, शून्यता नही । शून्यवादी धारणा का एक दूसरा कारण है हमारी कार्य-प्रेरणा का यथार्थ । हम कार्य करते है अप्राप्त को प्राप्त करने के लिए, शून्य को भरने के लिए और अपूर्ण को पूर्ण करने के लिए । किन्तु शून्यवादी को यह मानना चाहिए कि पूर्ति—पूरक वस्तु—का अस्तित्व हमारी कल्पना मे है, हम कल्पना शून्य में नही करते, उसी प्रकार जैसे शिकारी के अभाव मे अशिकारी का अस्तित्व होता है और उसी पर हम शिकारी का निषेध आरोपित कर देते है । उद्देश्य स्वय शून्य होता है किन्तु हमारी कल्पना नही—हमारी क्रिया की प्रेरणा नही ।

पर यह उत्तर पूरा नही है क्योंकि यह हमारी मानसिक प्रक्रिया के लिए तो सत्य है, काल का यथार्थ नही । काल के नियम के अनुसार तो कोई वर्तमान अपने भूत मे नही रहता, तब वह शून्य होता है, तो फिर वह अस्तित्व मे कैसे आता है ? स्वय हमारी कल्पना मे निहित उद्देश्य भी अनस्तित्व से अस्तित्व मे आता है, हमारी कल्पना मे उसकी विद्यमानता अनादि नही होती ।

यह एक उलझा देने वाला प्रश्न है क्योकि हम जानते है कि कोई क्षण आवृत्ति नहीं करता—अतः किसी क्षण की पूर्व अवस्थिति—किसी भी रूप में चाहे वह क्यों न हो—नहीं मानी जा सकती, किन्तु इसका अर्थ

यह नही कि पूर्व अवस्थिति पश्चात अवस्थिति मे विकसित नही होती, भूत वर्तमान मे नही आता। यही काल का नियम है। अतः हमे अब शून्य-वादी को ध्यान दिलाना चाहिए कि शून्य का उसका आधार शिकारी और अशिकारी दोनो की पूर्व अविद्यमानता पर है न कि अकेले शिकारी की, यदि शिकारी का अनस्तित्व अशिकारी का अनिवार्य बोध कराता है तब हमारी कल्पना शून्य मे नही; इसी प्रकार, यद्यपि कुछ भिन्न रूप से, 'वर्तमान के अनस्तित्व से पूर्व अन्य धर्ममानो' की विद्यमानता थी जो इस वर्तमान मे रह रही है।

"फिर भी", शून्यवादी आग्रह करेगा कि "यदि तालाब मे पानी का अस्तित्व अनादि है तब भी आखिर तो वह खाली को ही भर रहा है ?" किन्तु पानी को अनादिमान लेने पर उसके खाली को भरने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता क्योकि उस अवस्था मे शून्यत्व कभी था ही नही। और शून्यवादी तो वास्तव मे अस्तित्व को हमारी कल्पना के द्वारा, आरोपित superposed मानता है, सत्य नही। अत॰ शून्यवादी का शून्य पूर्णतः भ्रम है, क्योकि शून्य की न तो कल्पना ही हो सकती है और न वह अस्तित्व के निषेध के अतिरिक्त कोई यथार्थ ही है।

ब्रह्मवादी यहा एक दूसरी बात कहता है जो तर्क रूप मे अधिक समर्थ होने पर भी धारणा के दुराग्रह से अधिक कुछ नही। इसके अनुसार शिकारी, बूमरग और शिकार तीनो भ्रम है, यथार्थ है केवल अनादि, अव्यय-अनाविल ब्रह्म। 'हमे यह दृश्य यथार्थ प्रतीत होता है' का उसके पास बहुत सीधा और अचूक उत्तर है 'स्वप्न भी तो सत्य प्रतीत होता है ?' इस रूपक पर बहुत सी आपत्तिया की जा सकती है किन्तु हम उसकी कठिनाइयों को समझते हुए यह नही करेंगे, तो भी प्रश्न है "भ्रम किसको ?" वह बहुत से और नकारात्मक वाक्य कह कर हकलाएगा जिनका न सिर है न पैर और अन्त मे कहेगा, "ज्ञान के लिए साधना की आवश्यकता है, युक्ति

अज्ञान का कारण होती है। आखे मीचो, समाधि लगाओ और इच्छाओ-विचारो और अनुभूतियों का विलय करो, ब्रह्मदर्शन होगे।" देखिए योगी अरविन्द—जो आज के सब से बड़े रहस्यवादी थे—की* उनके एक शिष्य द्वारा वर्णित ब्रह्म विलय की कहानी, वे कहते है "तीन वर्ष के आध्यात्मिक प्रयत्नों के पश्चात्—जिनके परिणाम अत्यन्त साधारण थे—अरविन्द को एक योगी ने चित्त को मौन मे लय करने का उपाय बताया। इस सकेतित पथ का अनुसरण करते हुए वे दो-तीन दिनो मे ही पूर्ण सफल हो गये। अब उनमे विचार, अनुभूति और चेतना की सम्पूर्ण तरगे और क्रियाए अत्यन्त शान्त थी, शेष था केवल दृश्य perception का निस्तरंग ग्रहण।

"अहम् की चेतना और साधारण जीवन की क्रियाएं पूर्णतः समाप्त हो चुकी थी और ऐसा प्रतीत होता था जैसे सभी कार्य प्रकृति की किसी आध्यात्मिकता क्रिया से ही परिचालित हो रहे हो जिसका (प्रकृति की आध्यात्मिक क्रिया का) उनसे (अरविन्द से) कोई सम्बन्ध नही। और दृश्य, जिसे वे देखते थे सर्वथा, अयथार्थ प्रतीत होते थे। उनकी अयथार्थ प्रतीति की यह अनुभूति (Sense of unreality) अखण्ड और पूर्ण थी। केवल कोई अननुमेय-अवर्णनीय यथार्थ सत्य आभासित होता था जो देश-कालातीत और किसी भी भौतिक क्रिया से शून्य था; इसके बावजूद वह सभी ओर विद्यमान था। यह अवस्था अखण्डित रूप से कई महीनों तक जारी रही और जब दृश्य के प्रति अयथार्थ प्रतीति की चेतना जाती रही और वे सब कायो मे पुनः भागी होने लगे, तब भी आन्तरिक

* **जनवरी ५१ के** The Times of India **में अरविन्द के शिष्य का एक पत्र जो** Sri Arbindo on Himself **शीर्षक से प्रकाशित हुआ।**

शान्ति और उन्मुक्तता, जो इस मौन से प्राप्त हुई थी, समाप्त नहीहुई ।

"तब उन्हें एक नवीन अनुभव हुआ, 'उनमे एक अन्य शक्ति, जो उनके अहम् के अतिरिक्त कुछ थी, उनकी क्रियाओं का अधिष्ठातृत्व करती थी ।"

इसे हम गलत तो नही कह सकते, किन्तु सम्मोहन, उच्चाटन आदि की विधिया भी क्या कुछ इसी प्रकार की फलद नही होती ? अभ्यास से अनुभव तो जो चाहे किया जा सकता है । अनेक बार हम देखते हुए भी नही देखते, सुनते हुए भी नही सुनते, इससे न तो दृश्य अयथार्थ हो जाते है और न श्रव्य । उन्होने स्वयं भी यही कहा है कि 'अयथार्थ प्रतीत होने लगा' इसका यह अर्थ नही कि अयथार्थ स्पष्ट हो गया—अनस्तित्व हो गया । इसी प्रकार 'अयथार्थ प्रतीति की चेतना जाती रही' का भी अर्थ है कि वे अपनी चेतना को यहां लौटा लाए । अस्तु, अब हमे आलोचना के लिए इसे तीन भागों में कर लेना चाहिए—

१—अहम् के विलय के साथ ही दृश्य perception की अयथार्थ प्रतीति हुई ।

२—कोई अन्य शक्ति उनमें कार्यशील हुई ।

३—ब्रह्म देश कालातीत अव्यय है ।

अहम् का अर्थ है अनुभूति और विचार, और इनके विलय का अर्थ है अहम् का विलय । अनुभूति और विचार की विवेचना करते हुए हम 'स्थापना' अध्याय में देख आए है कि प्रथम Instinct प्रवृत्ति का परिवृत्तीकरण Environmentalization है और दूसरा परिवृत्ति का क्रम-स्थापन । पशु परिस्थितियो का ग्रहण नही कर सकता—उन्हे क्रम नही दे सकता, इसीलिए वह विचार नही रख सकता और इसीलिए वह प्रवृत्ति का परिवृत्तीकरण भी नही कर सकता । वह प्रत्येक कार्य को मूलतः 'अपनी' प्रवृत्ति से प्रेरित हो करता है किन्तु 'मै' का ज्ञान नही रखता, इसी से वह प्रतिक्रिया को 'इच्छानुसार' निर्दिष्ट नही कर सकता । वह प्रतिक्रिया के

अनुसार दृश्य पर कार्यशील होता है। प्रतिक्रिया उस पर सदैव एक सी नही होती—वह भिन्न-भिन्न समयो पर भिन्न भिन्न प्रभाव छोडती है—जैसे भी Instinctive की स्वाभाविक स्थिति हो। उसकी प्रत्येक प्रेरणा स्वाभाविक प्रतिक्रिया होने से, अर्थात् उसके अचेतन होने से उसकी इच्छा—मैं—अहम् कुछ भी नही। प्रवृत्ति मे एक समझदारी होती है जरूर किन्तु वह इच्छा शासित नही होती। रोडा उठाते ही कव्वा उड जाता है—क्योकि वह 'जानता है' रोडा उठा ने का क्या अर्थ है, चूहा 'जानता' है कि बिल्ली की सावधान गति का क्या अर्थ है, बिल्ली भी शिकार पर पहुँचते हुए बडी समझदारी का परिचय देती है, किन्तु यह समझदारी कुछ प्रतिबिम्बात्मक— Reflective है और कुछ प्रवृत्ति की Instinctive।

मनुष्य इसके विपरीत चेतन है। चेतन का अर्थ है इच्छाशील और दृश्य Perception को क्रम देने वाला। मनुष्य भी पहिले Instinctively ही ग्रहण करता है और फिर स्मृति और इतिहास के आधार पर उसे क्रम में रखता है। हमारी प्रवृत्ति इतनी शासित हो चुकी है कि उसके अस्तित्व का ज्ञान अब पृथक रूप से प्राय: असम्भव है। खैर, प्रवृत्ति को क्रम देने का अर्थ है दृश्य को स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं मे नही और न दृश्य के अपने रूप मे, प्रत्युत् अपनी अभिरुचि के अनुसार, अपनी स्मृति के आधार पर ग्रहण करना। इस प्रकार व्यक्ति का अहम् उसकी चेतना है—इच्छा है; क्योंकि अभिरुचि परिवृत्ति का ग्रहण है और ऐतिहासिक क्रम है, अत: अहम् परिवृत्ति Environment और इतिहास Bite of Time है।

पशु का 'ज्ञान' Instinctive Intelligence प्रवृत्ति की समझदारी है, चेतना Consciousness नही, उसके पास कोई साचा, या 'मानसिक इतिहास' नही अतएव वह नवीन को कोई क्रम नही दे सकता और इसी से

कोई निर्माण भी नही कर सकता। वह अभ्यास से कुछ कार्य करता है अवश्य—किन्तु वह अभ्यास चेतना नही। मनुष्य आग से प्रकाश देख कर, उसे जला कर प्रकाश करता है; लकडी से डडा बनाता है, पत्थर से हथियार बनाता है, अर्थात् वह अपने से पृथक् unorganizedmatter से Tool बनाता है—जो कि पशु नही बना सकता। यही मनुष्य और पशु के बीच पहिली सीमा रेखा है। इस प्रकार अहम् परिवृत्ति, इतिहास और सृजन है। इसी कारण वह शिकारी है, बूमरग का निर्माता है और शिकार का उद्देश्य रखता है।

तब अहम् के विलय का क्या अर्थ है—निश्चित रूप से नाश नही—क्योकि उसका अर्थ होगा प्रवृत्ति Instinct हो जाना, अतः इसका अर्थ है एक से हटा कर दूसरी ओर लगाना, ससार से हटाकर अससार-ब्रह्म-की ओर लगाना।

ब्रह्म—जो कल्पना की प्रवचना है—दृश्य का Abstract है, अधिक ठीक शब्दों मे विशेषण से निर्मित भाववाचक सज्ञा है। किन्तु सम्भवत भाववाची को सोच सकना सम्भव नही, कोई आकृति आवश्यक है। 'दो' की कल्पना में यदि हम दो आकृतियो को नही ध्यान में लाए तो भी 'दो-२' शब्द या अक की आकृति ही हम कल्पित कर लेगे। सब से अधिक काल को हम Abstract रूप मे ग्रहण करने के अभ्यस्त होते है, 'एक घंटा' कहने से हम किसी आकृति पर नही पहुँचते, तो भी एक ठोस आधार खोजते है अवश्य; एक घण्टा भर पढाया, प्रतीक्षा की, हँसा, सोया इत्यादि कुछ भी। ब्रह्म की कल्पना भी इसी प्रकार सम्भव है। 'कुछ नही' की कल्पना भी हम करते है—कुछ है से, अविद्यमानता की कल्पना भी हम करते है विद्यमानता से। देवदत्त मरा नही, यह हम सोमदत्त की मृत्यु का देवदत्त पर निषेध कर रहे है। इसी प्रकार हम जीवित देवदत्त की मृत्यु की कल्पना भी कर सकते है—सोमदत्त की मृत्यु को उस पर आरोपित कर—यही

ब्रह्म की कल्पना का भी रहस्य है।

निर्गुण, अव्यय, अनाविल इत्यादि शब्द अनस्तित्व—शून्य—के ज्ञापक है अतः इस प्रकार की कोई कल्पना सम्भव नही, यह भाषा का दुरुपयोग है। ब्रह्मवादी अरविन्द जब अपने मे किसी दूसरे 'अहम्' को क्रियाशील देखता है और दृश्य को अयथार्थ, तब वह ससार की अयथार्थता की कल्पना कर किसी अन्य कल्पित जगत् Conceptual World में रहता है, अपनी अभिरुचि के कारण शिकारी—परिवृत्ति या दृश्य—को देख कर कहता है, अशिकारी नही और अशिकारी की ओर उन्मुख होता है किन्तु कल्पना सदा 'जैसी' होती है, स्वतत्र नही, अतः कल्पित जगत् बाह्य परिवृत्ति और अन्तरति क्रिया का अनुरूप ही हो सकता है यही ब्रह्म दर्शन है,* यही अहम् का विलय है और यही ससार की अयथार्थ प्रतीति का रहस्य है।

अब हमें तीसरी स्थापना को भी देख लेना चाहिए। पीछे हम कह आये हैं कि देश कालातीत का अस्तित्व सम्भव नही, उसी प्रकार देश कालातीत—अर्थात् अनस्तित्व, की कल्पना भी सम्भव नहीं। कल्पना करने वाला व्यक्ति केवल इसीलिए असमर्थ नही कि उद्देश्य शून्य है यदि ऐसा अस्तित्व हो भी तो भी व्यक्ति स्वय देशकाल होने से उसे एक ही रूप में नही देख सकना और न सारे पहलुओ को देख सकता है। इस प्रकार अरविन्द की यह कल्पना प्रवचना से अधिक कुछ नही कि वह अहम् का विलय कर मायातीत हो निर्गुण ब्रह्म में समा गया था।

अब ईश्वरवादी, सोद्देश्यवादी, शून्यवादी और रहस्यतावादी को बूम-रंग से खेलने के लिए छोड़ कर हम 'रहस्य' की यथार्थता को और समीप से देखने का प्रयास करेंगे।

* नकारात्मक नहीं सकारात्मक ठोस।

विश्व सम्भूत नही--कुछ भी सम्भूत नही--भवति है, क्योकि यह निरन्तर विकासशील है--विकास को अपने वक्ष पर चिन्हित करता है। इसी विकास को हम काल कहते है और विकसित होने वाले तत्व को देश। किसी सृजन के लिये देश का काल युक्त होना आवश्यक है, नही तो न केवल सृजन ही नही हो सकता है--अस्तित्व भी असम्भव है। हमें सीमा में सोचने की आदत सी है, सम्भवतः हम इसके लिए बाध्य भी है, इसी से सोचते है कि 'कोई बिन्दु तो ऐसा होगा ही जिसका अतीत नही था, जो आदि था, किन्तु यथार्थ इस सम्भावना का खण्डन करता है; उसके अनुसार कोई वर्तमान भूत के बिना नही हो सकता, कोई सृजन अतीत के बिना असम्भव है। यह हो सकता है कि कितनी ही बार व्यक्तियो species और जीवनो का विलय हुआ हो, ध्वस लीला हुई हो, किन्तु यह सम्भव नही कि कोई आदि बिन्दु हो जिसके इस ओर अनस्तित्व हो और दूसरी ओर अस्तित्व। खैर, यह विकास क्योकि प्रवाह रूप है--निर्विच्छिन्न, अतः कोई आवृत्ति नही हो सकती। आसानी के लिए हम क और ख बिन्दुओ की कल्पना कर लेते है जिनमे प्रवाह रूप विश्व गुजरता है। क से ख बिन्दु तक पहुँचता हुआ यह प्रवाह 'व्यतीत' होता है बढता है, अर्थात् देश इतिहास बनाता है, अत· पुन वह प्रवाह क से ख तक की स्थिति में नही आ सकता। हमारा मन भी देश-काल के इस नियम का अपवाद नही। देवदत्त 'क' मानसिक स्थिति से 'ख' मानसिक स्थिति तक पहुँचता है, इस बीच मान लो उसने कुछ नवीन नहीं देखा, किन्तु उसने सोचा है जो अतीत का ही अग्र प्रक्षेपन Forecast है किन्तु कुछ नवीन, पुरातन से भिन्न; क्योकि उसने पुरातन के आधार पर सोचा है, पुरातन से आगे। मान लो वह सोचता भी नही, तो भी उसमें (Chemical change and Physical change) रासायनिक और भूतात्मक परिवर्तन हो रहा है जो उसके मन में भी स्वभावतः परिवर्तन ला देता है

क्योकि मन भी अन्तत· भौतिक है और उसकी (Chemical) रासायनिक स्थिति उसके विचारो पर असर डालती है। इस प्रकार मन दुहरे परिवर्तन मे से गुजरता है। शरीर भी परिवर्तित होता है और मन के समान अपना इतिहास बनाता है।

ठीक यही बात निर्जीव पदार्थ unorganized matter पर भी लागू होती है। किन्तु काल की हमारी कल्पना सतत प्रवाह के इस नियम से भिन्न घटनाओ पर आधारित है। हम अपने जीवन में समय का यही उपयोग करते है कि घटनाओ को क्रम दे सके और उनमे कारण-कार्य श्रृखला खोज निकाले। हमारी यह धारणा श्रद्धा तक पहुंच जाने पर भी अयुक्ति-सगत ओर अयथार्थ है क्योकि जीवन मे ऐसा कोई बिन्दु नही, यदि हम बिन्दुओ की कल्पना करे भी तो वे कारण कार्य नही हो सकेंगे— क्योंकि उनके बीच का अन्तर, जो बिन्दुओ को बिन्दु नही रहने देता, हमारी कल्पना से ओझल होगा। अत. प्रत्येक बिन्दु सम्पूर्ण अतीत प्रवाह का परिणाम है, अपने पूर्व के बिन्दु का—जो एक दम पहिले होकर भी अन्तर पर है,* कार्य नही। प्रश्न किया जा सकता है कि जब किसी भी क्षण के बनाने मे सम्पूर्ण अतीत प्रवाह को उस पर केन्द्रित होना पडता है तो वह क्षण अपने पश्चात् के क्षण का कारण क्यो नही हो सकता? इसे मान लेने का अर्थ हो जाता है विश्व को, प्रत्येक क्षण पर, सम्भूत मान लेना और इस प्रकार भवति से निषेध करना, ओर दूसरे, जैसे कि हम पहिले भी कह आए है कोई भी क्षण पूर्ण अतीत का परिणाम हो कर भी अपने आप में वह पूर्ण फल नही। जैसे चार रगो का घोल हम दो गिलासो में बॉट·

* कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी की प्रयोगशाला में एक ऐसे यंत्र का निर्माण हुआ है जो सैकिंड के कई लाखवें भाग तक को नाप सकता है— पर तब भी वह भागों को ही नाप रहा है नैरन्तर्य को नहीं।

देते है, उनमे प्रत्येक गिलास का रगीन पानी चारो रगो का फल तो है किन्तु पूर्ण फल नही। अथवा ६ और ६ के योग का ८ और ४ मे विभाजन कर हम इनमे प्रत्येक को उनका फल तो कह सके है किन्तु पूर्ण फल नही, उसी प्रकार चिन्हित क्षण भी पूर्ण फल नही होता। काल के प्रति विज्ञान की Physics की, यह घटनात्मक (Instantaneous) पहुँच केवल यही भ्रम नही रखती प्रत्युत् वह इसे देश से सर्वथा पृथक् कर पुन Abstract रूप मे आरोपित करती है जिससे देश-काल की सार्थकता को आघात पहुँचता है*।

मैं गर्म दूध में कुछ निब्बू सत डालता हूँ कि दूध फट जाय। जैसे तैसे यह कुछ समय तो लेगा ही और तब तक मुझे प्रतीक्षा करनी होगी। अब एक वैज्ञानिक इन दो, निब्बू सत डालने और दूध फटने के, काल बिन्दुओ को गिन कर कहेगा "निब्बू सत डालने के कारण इतने क्षणो में दूध फट गया।" किन्तु वास्तविक काल गणित का यह Abstract Time नही प्रत्युत् देश का, जिस पर वह घटित हुआ है, अभिन्न अग है, अथवा यू कहे कि दूध फटने की सम्पूर्ण क्रिया, उसका सम्पूर्ण गुण, वातावरण इत्यादि, ही काल है। निब्बू सत डाल कर प्रतीक्षा करता हुआ मैं भी काल से कवलित हो रहा हूँ, और यह सब मेरा मानसिक विचार मात्र नही जिसे लौटाया जा सके—व्यतीत है, जीवन है और इतिहास है।

इतिहास निर्माण की यह प्रवृत्ति क्या द्रव्यों unorganized matter मे भी पाई जा सकती है? क्योंकि पदार्थ का परिवर्तन उसके घटक मूल तत्वो की स्थिति Position का परिवर्तन है जिसे पुनः स्थानान्तरित

*आईंस्टाइन का सपेक्षतावाद इस दोष से मुक्त है, किन्तु वह भी केवल व्यावहारिक पक्ष ही है, कुछ दार्शनिक आपत्तियाँ उस पर भी की जा सकती है, किन्तु उनके लिए यहाँ अवकाश नहीं।

कर ही पहुँचाया जा सकता है और इस प्रकार काल के चिन्ह समाप्त किए जा सकत हे। जैसे हमारे दूध का फटना दूध और निब्बू सत के घटक तत्वो का स्थिति परिवर्तन ही है, और इस परिवर्तन को प्रभाव शून्य किया जा सकता है । इसी प्रकार अमीवा Ameoba को बूढे से पुन बच्चा बनाया जा सकता है, क्योकि वह एक सैल का प्राणी है।

यह ठीक है, किन्तु वे मूल तत्व अपने आप मे भी बदलते ह, अपना इतिहास बनाते है, अत. पदार्थ मे स्थिति परिवर्तन ही नही वास्तविक परिवर्तन भी होता है, इसी प्रकार अमीवा बुढापे से पुन. बचपन की अवस्था में लाया जा सकता है किन्तु उसी बचपन मे नही क्योकि उसका सेल अपने आप में बदल रहा है।

काल की यह प्रक्रिया—देश का इतिहास निर्माण—ही वास्तव मे सृष्टि का 'मूल कारण' है। यह इतिहास क्योंकि गति का परिणाम है और इसीलिए क्योंकि यह अपने सम्पूर्ण अतीत सचय केसाथ वर्तमान में—नवीन देश में—आता है, नवीन को जन्म देता है, और क्योंकि यह नवीन की उत्पत्ति संचय के कारण संचय से कुछ अधिक होती है अत. यह स्वाभाविक ही है कि जड से देश के एक विशेष विन्दु पर और काल के विशेप क्षण मे जीवन-चेतन की उत्पत्ति हुई, यही जड से चतन विकास का रहस्य है।

विकास में घटनाएँ कुछ अन्तर न डालती हों, यह बात नही, दूध में निब्बू सत डालने की घटना ने उसका फटना सम्भव किया; घटनाएं विकास में भी सहायक होती हे और परिवर्तन भी लाती हे; किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि विकास घटनात्मक Instantaneous है।

यह विकास गति और निरोध के रूप में होता है, क्योंकि केवल गति किसी प्रकार के सृजन को सम्भव नही कर सकती थी (बम मे यदि केवल फटने का ही गुण हो तब वह बम नही हो सकेगा) । निरोध के कारण ही गति सीधी न हो कर वृत्ताकार होती है, यदि यह गति वृत्त में न हो

तो हम स्थूल कल्पना से ही समझ सकते है कि हमारे सौर मडल का क्या बना होता। निरोध के कारण ही एलैक्ट्रोन की गति भी वृत्त मे होती है।

यहाँ फिर बूमरंग से खेलता हुआ सोद्देश्यतावादी चौक कर कहेगा कि 'यदि इतिहास वर्तमान का उपादान कारण है और यदि इतिहास मे वह सब है जो भविष्यत् मे होगा तो यह भी क्यो नही मानते कि उसका विकास भी एक निश्चित् बिन्दु की ओर हो रहा है ? क्योकि भविष्यत् भूत मे पूर्णत. निहित है।'

हम कुछ रगो के साथ एक ऐसे चित्रकार की कल्पना करेगे जो चित्र बनाने बैठा है। मान लो कि एक दूसरा व्यक्ति उसके सम्पूर्ण भूत से अभिज्ञ है, वह चित्रपट की लम्बाई, चौडाई और रंगो की गुण मात्रा भी जानता है; अब वह व्यक्ति भी यह नही बता सकता कि चित्र क्या होगा क्योकि चित्रकार आत्म निर्भर नही, यदि उसे आत्म निर्भर भी मान लिया जाय तो भी इतिहास की गति निश्चित बिन्दु की ओर नही हो सकती, वह किसी भी (अनिश्चित्) दिशा मे हो सकती है। फिर जिस प्रकार की सोद्देश्यता की कल्पना सोद्देश्यतावादी करता है वह यह नही कि 'क' का परिणाम 'ख' होगा और 'ख' का 'ग' और इस प्रकार क्रमिक उद्देश्यता प्राप्त होगी, प्रत्युत् यह कि यह गति किसी अन्तिम बिन्दु की ओर विभिन्न और अनिश्चित पथो से दौड रही है, जब कि वास्तविकता यह है कि 'क' का 'ख' उद्देश्य होना भी अवश्यम्भावी नही ? चित्रकार स्वयं भी यह नही कह सकता कि उसका चित्र 'यही' बनेगा क्योंकि वह भविष्यत् मे नहीं पहुँच सकता (कल्पना कर के वह भविष्यत् मे नही पहुँच जाता। प्रत्युत् कल्पना स्वय उसका वर्तमान बन जाती है और तब वह उससे आगे बढने को बाध्य होताहै)—वह अपने इतिहास के साथ भविष्य की ओर prolong करेगा, बढेगा, भविष्य वर्तमान नही बनेगा। वर्तमान के क बिन्दु और क्षण से भविष्य के ख बिन्दु और क्षण तक बढता हुआ मन 'ख' बन जाएगा, 'क' पर 'ख' नही

बुला सकेगा। और सच तो यह है कि सृष्टि अखण्ड रूप मे ही आत्म निर्भर है खण्ड रूप मे सापेक्षक, अतः ख तक पहुँचते हुए उसे परिवृत्ति से भी प्रभावित होना होगा जो परिवृत्ति स्वय सापेक्षता मे परिवर्तित हो रही है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कल्पना और स्मृति केवल मनुष्य के पास है, अन्यत्र तो है केवल अचेतन सचय और परिवर्तन।

प्रश्न हो सकता है कि 'गगा नही जानती वह सागर मे पहुँचेगी, किन्तु फिर भी उसकी गति सूद्दिष्ट है, कितने भी पर्वतो और जगलो से टकरा कर भी वह आखिर सागर की ओर ही जा रही है, सृष्टि भी क्या इसी नियम से नही चल सकती ?' किन्तु हमे रूपक की बेवकूफी का शिकार न होकर देखना चाहिए कि देश और काल के स्वभाव मे ऐसा कोई सकेत है ? ओर फिर यह तो धारणा ही मूलत. गलत है, क्योकि अतीत न तो वर्तमान का उपादान कारण है ओर न आगे को ठेलता हुआ ओर पीछे और नवीन आता हुआ प्रवाह। उपादान कारण मिट्टी घडे का 'आकार' ग्रहण कर सकती है, किन्तु उसके लिए यह अनिवार्य नही इसके विपरीत भूत वर्तमान तक बढता है—जीवन व्यतीत करता है।

क्योंकि देश मात्रा है और काल उसका अखण्ड और अनिवार्य गुण अतः काल के द्वारा अतीत, संचय से वर्तमान का निर्माण करता है। यदि भूत न हो तो ? तो वर्तमान ओर भविष्यत् भी नही होंगे, होगा केवल अनस्तित्व, किन्तु क्योकि अस्तित्व है अतः हम यह भी जानते हैं कि अनस्तित्व कुछ नहीं।

यह एक यथार्थ है और इस यथार्थ के इस विन्दु पर आकर हम रुक जाने को बाध्य हैं क्योंकि इस यथार्थ के यथार्थ को हम नही जान सकते; कथित यथार्थ की भी कल्पना मात्र कर सकते है, उसे देख नही सकते। विज्ञान यथार्थ ज्ञान का हमारा सब से विश्वस्त साधन है किन्तु वह यथार्थ को पृथक् (Isolated) कर—ठीक शब्दों मे—अयथार्थ बना कर देखता है। कागज बनाने के लिए कागज़ के सम्पूर्ण इतिहास—वैज्ञानिक उन्नति,

प्रयुक्त वस्तुओं की भूमि, गुण, आयु, आकार, प्रकृति, परिस्थिति, सम्बन्ध और न जाने क्या क्या—को जानना आवश्यक नही, किन्तु यथार्थ ज्ञान के लिए यह आवश्यक है। यदि वैज्ञानिक अपने Mechanistic दृष्टिकोण से यथार्थ तक पहुँचने का दुःसाहस करता है तो यह उसकी हिमाकत मात्र है। फिजिसिस्ट का संसार बिन्दुओं, घटनाओं और रेखाओं का ससार है जिसमें गुण quality को स्थान नही, उसके देश-काल Abstract होते है? वह काल को वृत्ति पर टेंजेंट*लगा कर कर सीधी रेखाओं की कल्पना कर लेता है किन्तु न तो वृत्त का कोई भाग सीधी रेखा है और न फिज़िसिस्ट का संसार यथार्थ।

विश्व अपने आप में पूर्ण है और हम उसके एक शाश्वत नियम की कल्पना कर सकते हैं, किन्तु वह बदलता है और इतनी तीव्रता से बदलता है कि उसके सापेक्ष खण्डों का ज्ञान हमारे लिए सम्भव नहीं। शुद्ध तर्क से तो हम यह भी कह सकते है कि उसके शाश्वत नियम का भी अनुमान सम्भव नही क्योंकि हमने उसकी अखिलता को नही देखा है और न उसके सभी खण्डो को, तो भी जितना हम देख सके है उस पर देश-काल सम्बन्धी हमारे निर्णय पूर्ण उतरते हैं। दूसरी कठिनाई हमारे ज्ञान की प्रकृति की है—वह वस्तु को उसके अपने रूप में नही अपने इतिहास-स्मृति के आधार पर अभिरुचि के अनुसार ग्रहण करता है।

अतः हमारे सम्मुख एक बड़ी समस्या आ खड़ी होती है, यदि हमारे ज्ञान और विज्ञान दोनों यथार्थ ज्ञान कराने मे असमर्थ हैं—अपूर्ण ही नहीं नकारात्मक भी है, तब यह ज्ञान कैसे सम्भव है? "मन की स्वाभाविक
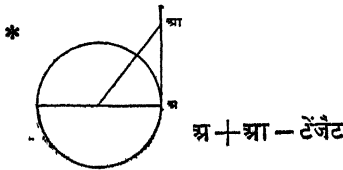
प्रवृत्ति Intuition से" प्राकृतिकतावादी कहेगा। वह बल देगा कि जब हम दृश्य का प्रथम आभास लेते है तब उसके यथार्थ रूप को ग्रहण करते है, पश्चात् हम उसके प्रतिबिम्ब को ज्ञान मे स्थान देते है। प्राकृतिक प्राणी Instinctive Animal दृश्य को, जैसा वह है उसी रूप में ग्रहण करता है—यद्यपि उसका ज्ञान नही रखता। और केवल ज्ञान, क्योकि वह क्रम है, इसलिए खोजता और पहिचानता तो है किन्तु ग्रहण नही कर सकता। किन्तु यह एक दूसरी बात है, क्योकि प्रश्न यह नही कि प्रवृत्ति कहां तक ग्रहण करती है और ज्ञान कहां तक क्रम देता है—प्रत्युत् यह कि यदि 'ज्ञान' यथार्थ ज्ञान नही दे सकता तो क्या प्रवृत्ति दे सकती है ? हम दृढता से कहेंगे "नही", यह दृश्य को क्रम देकर अयथार्थ तो नही बनाती किन्तु उसे उसके अपने रूप में ग्रहण भी नही करती। प्रवृत्ति स्वाभाविक क्रिया और प्रतिक्रिया भर है, इसी से वह मनुष्य मे प्राथमिक है और पशु मे सर्व। यह ठीक है कि प्रवृत्ति के बिना ज्ञान असम्भव है क्योकि ज्ञान तो प्रवृत्ति के ग्रहण को क्रम मात्र देता है, किन्तु ज्ञान के बिना उसका ग्रहण अंधा होगा। अतः यथार्थ ज्ञान मे प्रवृत्ति भी सहायक नही हो सकती, हा वह स्नायविक प्रतिक्रियाओ का यथार्थ अवश्य है, किन्तु हमारे लिए मूल्य यथार्थ का नहीं—यथार्थ—ज्ञान का है। सच तो यह है कि यथार्थ-ज्ञान से ही अधिक सम्भव है, प्रवृत्ति से नही। एक घटी पर तीन बार आवाज होती है, वे तीन यद्यपि सापेक्षता मे ही तीन है जिन्हे हमारे ज्ञान ने—स्मृति ने—क्रम दिया है जब कि निरपेक्षता में वे एक, एक और एक ही है। किन्तु यह निरपेक्षता प्रवृत्ति मे कहीं भी नहीं है, क्योंकि इतिहास का अर्थ ही है सापेक्षता (जिसे प्रवृत्ति नही जान सकती); जो भी हो, इस सापेक्षता को यथार्थ कहा जाय या निरपेक्षता को, इस कल्पना को ज्ञान द्वारा ही अधिगत किया जा सकता है।

इस प्रकार यथार्थ ज्ञान असम्भव है—यद्यपि मनुष्य इस ओर की जिज्ञासा को छोड़ नहीं सकता। यह एक विचित्र बात है कि चेतना विकास

की उन्नति का परिणाम ज्ञान Intellect एक बडी असमर्थता लेकर उत्पन्न हुआ है। किन्तु इसने एक और यथार्थ को जन्म दिया है और इसके द्वारा इसने यथार्थ-अयथार्थ में भेद किया है, अयथार्थ को पहिचाना है, यथार्थ का अनुमान लगाया है। प्रवृत्ति के 'पदार्थ' को वह आकृति देता है, वह नवीन सृष्टि करता है, हथियार बनाता है, वह तब मनुष्य बनता है और हथियार का समाज के द्वारा समृद्ध प्रयोग करता है—इस प्रकार वह आर्थिक प्रक्रिया को जन्म देता है, वह प्रवृत्ति को बदलता है और करण बनाता है, अन्त प्रवृति को बदलता है और भावना-समाज-दर्शन-साहित्य-राजनीति और सस्कृति तथा सभ्यता को जन्म देता है। इस प्रकार वह यथार्थ को बदलता है—बिना समझे नही, उसके एक अग को समझ कर। तब वह भिन्न भिन्न अंगो को समझता है, करण से असमर्थ हो अनुमान से; इस प्रकार वह (Hypothesis) कल्पना को आधार देता है। जीव विज्ञान Biology, भूत विज्ञान Physics और रसायन शास्त्र Chemistry इत्यादि के समानान्तर और सापेक्ष अध्ययन से सृष्टि के मूल रहस्यो तक पहुँचने का प्रयास करता है।

ये रहस्य इसी अर्थ मे है कि ये अभी अज्ञात है, इसलिए नही कि अज्ञात सूत्रधार है और मनुष्य की 'लघु' बुद्धि के लिए अविज्ञेय है। ये असंख्य है और तीव्र गतिमय है, किन्तु स्थूल है और सापेक्ष्य है। इनकी मूल और शाश्वत प्रकृति-परिवर्तन का स्वभाव है कि भविष्य का निर्माण करता है किन्तु उसके वर्तमान होने तक उसका ज्ञान नही रखता—बोध नही देता। अतः मनुष्य के बूते से यह बाहर है कि वह इसका रजिस्टर रख सके, तो भी वह इस यथार्थ को तो जानता ही है।

कुछ नूतन रहस्यवादी इस विराट् विश्व को दिखा दिखा कर सम्भावनार्थक शब्दो में किसी देश कालातीत, अणोरणीयान् महतो महीयान् शक्ति की ओर संकेत करते है, और मनुष्य क्योकि अणुमात्र पृथ्वी का परमाणु

कण सहस्राश है अतः उसे अभिमान छोड कर (वे कहते हैं) उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए जो लाखों वर्षों बाद आएगा और मनुष्य की चेतना इतनी समुन्नत हो चुकी होगी कि वह उस विराट् रहस्यमय शक्ति का (बैठे बैठे ही) ज्ञान पा ले। इलाचन्द्र जी इस 'अभिमानी' मनुष्य को धमकाते हुए कहते हैं "मल मग्न कीटो का अस्तित्व भी मानव-जीवन से कुछ कम महत्वपूर्ण नही है। अपनी नारकीयता मे भी वे महान हैं। महादम्भी मानव प्राणी को सोचना चाहिए कि प्रथम तो जीवन उत्पादन और फिर मानव-जीवन उत्पादन का इरादा सम्भवतः मूल रचनात्मिका शक्ति के मन मे कभी नहीं रहा। अतएव जीवन की सार्थकता इस सान्तक रूप से अनन्त विश्व में सम भाव से सचरण करने वाली उस महाचेतना की स्थिति तक पहुँचने मे है। पर यह स्थिति दो-चार लाख वर्षो में आ जाएगी यह अनुमान अत्यन्त भ्रामक होगा। अतएव जो महापुरुष इस आशा से मानव समाज को महोपदेश देते आए हैं कि उनकी मृत्यु के अथवा कुछ सदियों के बाद ही अन्ध मानवता की आँखे खुल जाएँगी, उनकी आशा सदा भ्रामक ही सिद्ध हुई है और होगी।"*

इस लेख के अन्तर्विरोधियों को उपेक्षित करते हुए यदि हम केवल इसके सार और उद्देश्य की ओर भी देखें तो भी यह कितना उपहासास्पद है, इसे जान लेना कठिन नही। इसकी उस तथाकथित महाशक्ति के अस्तित्व के लिए सबसे बड़ी दलील यह है कि 'विश्व विराट है।' किन्तु विश्व की विराटता का अर्थ यह तो कभी भी नही निकलता कि यह किसी अन्य शक्ति का चेरा भी है। और यह सम्भावना करके कि वह है, 'कीट तुल्य' मानव को, 'जिसे बनाने का उस शक्ति का कोई उद्देश्य नहीं था' और शायद 'जिसे उसका पता भी नहीं, उस शक्ति की खोज की प्रेरणा देना और फिर

* नया समाज, नवम्बर १९५०, साबुन का बुल्ला।

सांत्वना देना कि 'देखो वह लाखों-करोडों वर्षो के पश्चात् दर्शन देगी', जडता या मक्कारी नही तो और क्या है ? ये जल्पनाएं रहस्यवादियो का दम्भ मात्र है, जो मनुष्य की सामाजिक प्रगति के प्रयासो को कीट पंतगों के समान कह कर (इसी लेख में वे कहते है कि सामाजिक विधान और वर्ग संघर्ष इत्यादि कीट पतंगों तक में पाया जाता है—और इसीलिए यह महत्वशून्य भी है) उसे रहस्यवाद मे उलझाने की छलना है, क्योकि इससे उनका स्वार्थ साधन होता है। यदि कीट पतंगों मे समाज विधान हो भी तो मनुष्य के लिए उसका महत्व इसीलिए घट नही जाता।

'मनुष्य क्षुद्र है', इसकी सहस्रों आवृत्तिया भी यह सिद्ध नही करती कि वह किसी कल्पित महा शक्ति की रहस्य साधना करे, क्योकि क्षुद्र होने पर भी आखिर उसका अस्तित्व है और यह उसका प्राकृतिक अधिकार है कि वह अपने अस्तित्व की रक्षा करे—उसे अधिक सुरक्षित बनाए। उसके पास ज्ञान है, और चेतना है, जिससे वह मानसिक सृष्टि भी करता है, किन्तु अस्तित्व रक्षा उसके लिए भी उसी प्रकार प्राथमिक आवश्यकता है जिस प्रकार अन्य जीवो के लिए प्रथम और अन्तिम। वह अस्तित्व से अधिक आदर्शों को महत्व देता है—क्योंकि वह अब मानसिक और वैचारिक अस्तित्व भी रखता है। ये सूक्ष्म अस्तित्व वास्तव में उसके प्रथम अस्तित्व रक्षा के प्रयास के ही फल है। समाज और करण या हथियार उसकी अस्तित्व रक्षा की प्रवृत्ति का फल है और संस्कृति-विधान इत्यादि उसकी अनिवार्य परिणति और अनिवार्य आवश्यकता भी। वह जानता है कि अन्य जीवों के पास अस्तित्व रक्षा के लिए पर्याप्त साधन नही और मनुष्य के अपने पास काफी अधिक है तो केवल उसकी समाज और ज्ञान की बदौलत। समाज उसकी भौतिक आवश्यकता है—अतः उसके विधान भी उसके लिए माननीय हैं। मनुष्य की मनुष्यता क्योंकि अपने मे पृथक हथियार बनाने में है या कम से कम उस की मनुष्यता का प्रथम और स्पष्ट

प्रमाण यही है, और क्योंकि समाज की प्रथम शर्त उत्पादन की. अस्तित्व रक्षा के लिए क्षमता बढ़ाना है अत: हमारे सम्पूर्ण विधानों का आधार आर्थिक है ।

२

समाज, जैसा कि हम कह रहे थे, व्यक्ति की अस्तित्व-रक्षा के प्रयत्नो का परिणाम है; इसीलिए उसके लिए समाज से अधिक अपना अहम्-व्यक्ति-प्रधान है । यदि व्यक्ति अस्तित्व रक्षा का कोई और उपाय सोच सकता तो अवश्य वह उस ओर झुकता । पशुओं में भी कही कहीं हम समूह देखते है, कीटो मे तो काफी सुव्यवस्था भी होती है, कहते है हाथी झुड का सरदार भी बनाते हैं । यह उतना ही प्राकृतिक है जितना अधिक घने शीत मे रहने वाले पशु के बडी जटाए होना और मरुभूमि की झाड़ियो के मोटे पत्ते तथा गहरी जडे होना । और मनुष्य का समाज-निर्माण भी उतना ही और उसी तरह का अस्तित्व-रक्षा का स्वाभाविक फल है । अतः समाज की सार्थकता व्यक्ति को सुरक्षा देने मे और उसके व्यक्तित्व का सम्मान करने मे है ।

मनुष्य का समाज पशुओ से विपरीत दुहरी स्थिति रखता है—वह समूह है और 'रासायनिक' घोल भी । उसकी यह दूसरी विशेषता मनुष्य समाज की ही विशेषता है—जिसका आधार है बुद्धि Intellect । बुद्धि मूलतः व्यक्ति का ही अंग है, उतनी ही जितनी प्रवृत्ति Instinct उसकी अपनी है; किन्तु वह कार्य-रूप मे निर्वैयक्तिक है—सामाजिक है । व्यक्ति के पास सब से बड़ी वस्तु, जिसे वह सामाजिक कह सकता है अथवा जो समाज के साथ उसकी एक मात्र सम्बन्ध विधायक है, वह है विचार —बुद्धि का कार्य, जिसका अस्तित्व बुद्धि में केवल समाज के कारण है; समाज के बिना विचार असम्भव है—उसी प्रकार जैसे विशेष वातावरण के अभाव में बादल अथवा प्रकाश के बिना दृष्टि । विचार

हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं के पथ-प्रदर्शक हैं, अतएव सभी व्यापार सामाजिक हैं, चाहे नकारात्मक रूप में हो या सकारात्मक रूप मे। असामाजिक हम केवल एक ही अवस्था में हो सकते है—कि हम विचार-शून्य हो जॉय।

विचारो के सामाजिक-निर्वैयक्तिक होने का यह अर्थ नही कि ये व्यक्ति का विरोध करते है, प्रत्युत यह कि वे परिवृत्ति का सकलन हैं, अतएव ये व्यक्तिगत आवश्यकता के विरोधी (?) भी हो सकते है और समर्थक भी। यह व्यक्ति पर समाज की विजय है—यद्यपि व्यक्ति के अपने ही लिए और अपने ही द्वारा।

तो प्रधान व्यक्ति है समाज नही, किन्तु यह समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध भेडियो के झुड का सा नही, जहा किसी भी सदस्य की मृत्यु दूसरों के लिए भोजन जुटाती है, (पूजीवादी समाज मे यह भी प्रवृत्ति पायी जाती है) हमारा समाज एक सीमा तक तर्क सम्मत व्यक्तियो का समाज है (तर्क स्वयं समाज की देन है) अर्थात् उन प्राणियो का, जो ज्ञान रखते है कि समूह के लिए समझौता आवश्यक है। समझौते का अर्थ है दोनो ओर से आश्वासन और दोनो ओर की निर्भयता। अतः समाज जितना अधिक तर्क सम्मत होगा उतना ही व्यक्ति स्वतंत्र होगा और उतना ही समाज दृढ।

व्यक्ति-स्वतन्त्रता को हम शारीरिक और बौद्धिक आवश्यकताओं में बॉट सकते है, जिनकी सम्पूर्ति के लिए मनुष्य संघर्ष करता है। शारीरिक आवश्यकता एक प्रारम्भिक और आधार भूत भी आवश्यकता है जिसकी सम्पूर्ति के लिए मनुष्य ने समाज-निर्माण किया है। ये आवश्यकताएं भावोद्रक (Impulse) शारीरिक स्फुरण और सन्तुष्टि की त्रिकोण हैं जो क्रिया-व्यापार का सचालन करती है। इन्हें मुख्यतः भूख, नीद और मैथुनेच्छा में विभाजित किया जा सकता

हैं। इनमें नींद का स्पष्टतः कोई सामाजिक महत्व नही सिवाय इस सभावना के कि इसके अभाव में हमारे कार्य-काल मे बडा अन्तर पडता है; किन्तु भूख और मैथुन का एक बडा आर्थिक और सांस्कृतिक महत्व है। भूख हमारे आर्थिक विकास की आधार है और पाकशास्त्र का कला-विकास हमारा सास्कृतिक उत्तराधिकार। फिर भी भूख बहुत कुछ अपने मूल रूप मे ही अपनी स्थिति रखती हैं यद्यपि विभिन्न रसो की सामाजिक श्रृंखला उसके चारों और विद्यमान रहती है। किन्तु सबसे अधिक सामाजिक श्रृंखलाएं और दण्ड-अनुग्रह की सूचियां मैथुनेच्छा पर ही लगाई गई हैं, क्योंकि इसका सांस्कृतिक पहलू महत्तम है—लेनिन के शब्दो में यह एक व्यक्ति का ही मुआमला नही प्रत्युत विषय भूत व्यक्ति और उन दोनो की उस क्रिया की परिणाम स्वरूप सन्तान का भी मुआमला है जो अन्ततः एक आर्थिक और सामाजिक समस्या है। किन्तु इसके कुछ और पहलू भी हैं जिनका मूल है मैथुनेच्छा का मनोवैज्ञानिक पक्ष। भूख या नीद केवल शारीरिक क्रियाएं है और इनकी सन्तुष्टि शारीरिक सन्तुष्टि; मन के साथ इनका एक परोक्ष सम्बन्ध है। यह ठीक है कि दो भूखो मे एक रोटी लड़ाई का कारण होगी किन्तु मैथुनेच्छा में उद्दिष्ट व्यक्ति रोटी नही, एक सजीव इकाई है। फिर रोटी के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध केवल शारीरिक सन्तुष्टि का ही सम्बन्ध है किन्तु विषय व्यक्ति के साथ विषयी व्यक्ति का सम्बन्ध केवल स्थूल उपयोगिता का संबंध नही। यह मनोवैज्ञानिक पक्ष यद्यपि हमारे इच्छा-विकास (सामाजिक विकास) से ही सम्बन्धित है किन्तु यह हमारे मनस क्षेत्र का सर्व प्रमुख विषय बन चुका है। सम्पूर्ण कलाएं—साहित्य, सगीत इत्यादि—भी हमारी इसी मनोवैज्ञानिक स्थिति के परिणाम है। हम क्योंकि निरन्तर स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ रहे हैं अतएव मैथुनेच्छा के भी स्थूल उपभुक्ति के पक्ष से मैथुनेच्छा की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के पक्ष की ओर बढ़ रहे हैं। स्पष्टतः यह शारीरिक उद्वेग

का सयमन है जो पुनः कारण भूत सामाजिक रसायन—विचारों—की ओर संकेत करता है ।

यह मनोवैज्ञानिक पक्ष जिस व्यक्ति का जितना ही समृद्ध होगा वह व्यक्ति उतना ही सस्कृत समझा जाएगा, क्योंकि उसकी भावनाओं का स्तर ऊंचा होगा और परिणामतः वह महान् सृजन कर सकेगा, और स्नायविक प्रतिक्रिया के आधीन होने की बजाय अपनी इच्छा का स्वामी होने का गौरव पाएगा। जो व्यक्ति स्थूल उपभुक्ति से स्वतन्त्र नही हो सका उसका इस मनोवैज्ञानिक पक्ष से वंचित रह जाना ही अनिवार्य होगा। इसका अर्थ यह नही कि शारीरिक आवश्यकता हेय है प्रत्युत यह कि उस पर अपनी संस्कृत इच्छा का शासन आवश्यक है।

यह प्राप्ति सामाजिक परिवृत्ति का परिणाम है और इस प्राप्ति के परिणाम सामाजिक, अतएव व्यक्ति, जो वह चाहे, करने को स्वतन्त्र नहीं; किन्तु जो वह चाहे उसे न कर सकने पर वहसमाज को विश्रृंखलित करन का प्रयास करेगा। व्यक्ति का अहम्, जो समाज की देन है, सामाजिक विश्रृंखलता के कारण वह उस समाज का अपकारक भी हो सकता है। दूसरे, अहम् समाज की देन व्यक्ति को है, अतः अब व्यक्ति उसे अपना ही अंग समझता है और वास्तविकता भी यही है, क्योकि यह व्यक्ति के अस्तित्व का दायरा ही है जो अब शरीर से आगे इच्छा-विचार आदि तक बढ़ आया है। अत. यह आवश्यकता है कि समाज व्यक्ति की प्रकृति को दिशा देने में तर्क सम्मत हो—उसकी शारीरिक आवश्यकताओ को संयत करके और उन संयत आवश्यकताओ और अनुभूतियो की अभिव्यक्ति को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देकर।

अतः व्यक्ति-स्वतंत्रता के लिए दो बातें आवश्यक है—अस्तित्व रक्षा के साधन और विचार रक्षा का आश्वासन। अस्तित्व रक्षा के लिए आर्थिक सुविधा प्रथम और आवश्यक शर्त है और विचार-रक्षा के लिए आर्थिक.

और राजनैतिक दोनो। यदि कोई समाज ये सुविधाए व्यक्ति को नही दे सकता तो वह इस योग्य नही कि समाज कहला सके और सच तो यह है कि इस स्वतंत्रता को 'मान' का माध्यम बना कर ही हम किसी भी समाज को आनुपातिक रूप मे समाज और झुड कह सकते है, अर्थात जिस समूह में व्यक्ति जितना स्वतन्त्र है वह उतना ही तर्क-सम्मत है और जो जितना ही तर्क-सम्मत है उतना ही समाज कहलाने के योग्य है।

व्यक्ति को आर्थिक और राजनैतिक भी, स्वतन्त्रता की गारंटी केवल साम्यवादी समाज ही दे सकता है और कोई नही—क्योकि पूजीवादी समाज आर्थिक केन्द्रीकरण के आधार पर बना होता है। साम्यवादी समाज में अन्तरकाल के लिए व्यक्ति कुछ दबाव भी महसूस कर सकता है (राजनैतिक और सामाजिक दबाव) क्योकि वह अभी पूर्णतः तर्क-सम्मत नही हो पाया होता, किन्तु शीघ्र ही वह इस सकट काल से निकल सकता है और यही स्वाभाविक भी है।

कुछ बहके हुए मूर्खों को यह बात समझ में ही नहीं आती कि किस प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता मनुष्य की सूक्ष्म 'छायावादी' भावनाओ की स्वतंत्रता के लिए भी आवश्यक है, क्योकि वे पूजीवादी व्यवस्था की उस कुत्सिततम स्थिति के रोगी है जो सूक्ष्म भावनाओं के नाम पर मैथुनेच्छा की वीभत्सतम मानसिक स्थिति मे मानसिक हस्तमैथुन को प्रेरित करती हैं, क्योकि अतर्क-सम्मत पूजीवादी समाज व्यवस्था (Irrational Capitalist Society) में कुछ वर्ग संस्कृत अभिरुचि के साधनों से वंचित है और कुछ विलासिता के साधनो से सम्पन्न; एक ओर लाभ के लिए कामोत्तेजक परिस्थितिया उत्पन्न की जाती हैं, दूसरी ओर नैतिक व्यवस्था है जो उनका निषेध करती है; इस प्रकार व्यक्ति का स्वार्थ-सत्य और समाज का नैतिक सत्य दो विरोधी कैम्पो जैसी स्थिति में आ जाते है। स्वभावतः इसका एक ही परिणाम हो सकता है। ये मानसिक

स्वतन्त्रता का भी या तो पहिले ही सम्पन्न होते है और अतर्क-सम्मत-नैतिकता के कारण शारीरिक आवश्यकता मात्र को घृणित समझ कर मानसिक तपेदिक को ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समझते है अथवा नैतिकता से ऊपर उठ कर खुल खेलने को; और जो सम्पन्न नही है वे कुत्सित से कुत्सित-तम उपाय से भी (सभ्य ढग से चुरा कर, दोस्तो की जेब काट कर या धन-पतियो की चिरौरी कर के) अर्थ ग्रहण मे सकोच नही करते—अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सरक्षा के लिए।

भावनाएं अर्थ नही हैं और न अर्थ भावनाए—यह ठीक है, किन्तु अर्थ व्यवस्था परिवृत्ति को बदल देती है इससे कोई निषेध नही कर सकता; "सौन्दर्य छूने के लिए नही देखने भर के लिए है और 'देखना' हमारा स्वय सिद्ध अधिकार है', वाली 'नैतिक' भावना भी आर्थिक परिवृत्ति के कारण ही है, अतः जहा अर्थ व्यवस्था अतर्क-सम्मत होगी वहा समाज और उसके सम्पूर्ण विधान भी अतर्क-सम्मत और विश्रृखलित होगे। पूजीवादी व्यवस्था मे यह विश्रृखलता और अधिकारो का केन्द्रीकरण होना अनिवार्य है; इसलिए मैथुनेच्छा एक ओर साहित्य-सगीत और प्रेम इत्यादि मे अपनी सस्कृति अभिव्यक्ति नही कर पाती और दूसरी ओर व्यक्ति अस्तित्व रक्षा के मानवोचित सम्पूर्ण अधिकारो से वंचित होता है। अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिए भी वह पराधीन है—कभी तो स्वतंत्र विचार न रख सकने के कारण और कभी दण्ड भय और साधन के अभाव के कारण।

साम्यवादी समाज व्यवस्था मे अर्थ और समाज दोनो ही तर्क-सम्मत होगे —यह एक उपहासास्पद गारटी प्रतीत हो सकती है किन्तु अर्थ-व्यवस्था के तर्क-सम्मत हुए बिना कोई समाज साम्यवादी सज्ञा पाही नही सकता। यह सम्भव है कि अर्थ व्यवस्था के तर्क-सम्मत होने पर भी समाज व्यवस्था तर्क-सम्मत न हो और समाज व्यर्थ व्यक्ति पर बोझ बन उठे और सच तो यह है कि ऐसा होना बहुत सम्भव है, अतः इस पागल-

पन से बचने के लिए पहिले से ही सतर्क रहना आवश्यक है जिससे हम पूजीवाद के बन्धनो से निकल कर एक दूसरे प्रकार के फंदों में न जा फँसे ।

स्पष्ट है कि ऐसी किसी भी प्राप्ति के लिए हमें भौतिक स्तरों पर भौतिक उद्देश्य को सम्मुख रख के प्रयास करने होंगे किसी आरोपित आध्यात्मिक उद्देश्य के लिए नही । आध्यात्मवादी—नूतन रहस्यवादी—यहा भी उतनी ही गलत और मूर्खतापूर्ण धारणाओं पर सोचते हैं जितनी विश्व के विकास के विषय मे । इनमें एक ओर तो वे प्राकृतिकतावादी है जो सामाजिकता के दम्भ को दूर फैंक कर Libido की उन्मुक्ति में प्राकृतिक और सहज मन Intuition से प्रेरणा ग्रहण करने की सलाह देते है और दूसरी ओर वे हैं जो समाज, सभ्यता और संस्कृति को मगलकारी समझते है किन्तु किसी आध्यात्मिक प्राप्ति के लिए । इनके लिए सामाजिकता का महत्व अहम् के विकास—भूमा तक उठने के लिए—के लिए है । ये दोनों ही विचार-वर्ग वास्तव में इतने विरोधी नही जितने पहिली दृष्टि में प्रतीत होते है प्रत्युत् एक दूसरे का समर्थन ही करते हैं; इसलिए इन्हें परस्पर पूरक ही समझना चाहिए ।

इनमें प्रथम वर्ग के मुख्य समर्थक श्री इलाचन्द्र जी हैं । आपने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है और बडे जोर से लिखा है, किन्तु आप कहना क्या चाहते है, पर यह कोई भी स्पष्ट रूप से नही जानता । साबुन का बुल्ला लेख में, जो उनके नवीनतम विचारों का लेखा है, वे मनुष्य को फटकारते हुए कहते हैं—

"मानव-जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव अपनी पशु प्रवृत्तियों के ऊपर सभ्यता का मुलम्मा चढ़ाने में किसी हद तक भले ही समर्थ हुआ हो; पर उस मुलम्मे के भीतर उसका व्यक्तित्व उन मानवेतर प्राणियों की अंध जीवनानुरक्ति से तनिक भी उन्नत नही हो पाया है जिन्हें वह उपेक्षा की दृष्टि से

देखता है। अभी तक आहार, निद्रा, भय, मैथुन सम्बन्धी वही मूल प्रवृत्तिया उसके व्यक्तित्व पर राज्य करती है जो साधारण से साधारण कीट के व्यक्तित्व पर। इतना अवश्य है कि मानवेतर प्राणियो मे एकान्त स्वार्थ-संघात उस हद तक नही पाया जाता जहां तक वह पहुँच चुका है।"

इससे आगे उन्होंने मनुष्य की तुच्छता पर और भी कटुता से लिखा है और उसकी सभ्यता-नैतिकता इत्यादि को फटकारा है। जिससे एक ही परिणाम निकलता है कि मनुष्य को अपने सामाजिकता के मुलम्मे को उतार फेंकना चाहिए और मन की सहज-जात प्रवृत्ति से कार्य करना चाहिए जैसे कीटपतग करते है। किन्तु आगे जा कर वे अपनी दिशा बदलते है और कहते है "मानव अभी सद्योत्पन्न शिशु की अवस्था से आगे नही बढ पाया और जो कुछ भी नटखटपन जीवन के अधिकतम विकास के प्रतीक मानव के व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में दिखाई देता है वह सब उस विकसित चेतना की प्रेरणा का ही फल नहीं है, क्योंकि उसकी चेतना का विकास अभी कुछ भी नही हुआ है, जिस दिन विकास के नियम से उसकी यह अन्धचेतना दिव्य चेतना की स्थिति को पहुंच जायेगी उस दिन वह सम्भवत. अपने मन की अनुभूति से ऊपर उठकर अनुभव करेगा कि उसके जीवन के अविरत स्पन्दन में और विराट विश्व की जीवनहीन गति में मूलत. कोई अन्तर नही है।"

इस उद्धरण की अपने आप मे ही कोई सगति नही "मनुष्य जीवन का अधिकतम विकास है इसीलिए वह चेतन है, समनस है, किन्तु उसके इस हृत्पन्दन और जीवनहीन विश्व की गति में कोई अन्तर नही", यदि यह है तब चेतन अन्य किस चेतना को देखेगा? वह तो स्वय निश्चेतन है!

हमे मनुष्य चेतना के भौतिक होने में कोई आपत्ति नही किन्तु जोशी जी इससे परिणाम क्या निकलना चाहते है, यह समझ में नही आया। वे शायद कहते हो कि मनुष्य की चेतना और जड़-विश्व में कोई अन्तर नहीं

अतः दम्भ छोडकर मनुष्य को अनन्त चेतना की ओर उन्मुख होना चाहिए, किन्तु ऐसी सब बाते न केवल उपहासास्पद ही है प्रत्युत भोडी भी, क्योकि जड से जो चेतन विकास हुआ है और उसके आगे मनुष्य ने जो समाज व्यवस्था और अर्थव्यवस्था को उत्पन्न किया है, अथवा यू कहे कि मनुष्य ने जो पुर्ननिमाण का उपक्रम किया है वह चाहे क्षुद्र हो या महत् अस्तित्व है और उसके लिए मनुष्य पूरी शक्ति से सघर्ष करेगा। इलाचन्द्र जी एक ओर तो मनुष्य की क्षुद्रता की आवृत्ति करते नही थकते और दूसरी ओर वे यह भी कहते है कि मनुष्य अनन्त चेतना का साक्षात्कार करेगा और यदि यह पृथ्वी नष्ट भी होने लगे तब वह किसी दूसरे ग्रह मे उड जायगा, इसके लिए वे करोड़ों वर्ष तक भी प्रतीक्षा करने की बात कहते है, इसमें कहा तक साम्य है ? महत्व तो निरपेक्ष रूप से किसी भी वस्तु का नही—विराट विश्व का भी नही। यदि कोई विराट चेतना है तो उसका क्या महत्व है ?—प्रश्न महत्व अमहत्व का नही, प्रश्न अस्तित्व का है और है उसकी गति और दिशा का। ऐतिहासिक आधार पर विकास के द्वारा देश के एक विशेष बिन्दु पर और काल के एक क्षण में जो जीवन उत्पन्न हुआ वह अपने आप में क्षुद्र होने पर भी—है,और उसने प्राप्त शक्ति के द्वारा पुनर्निर्माण का जो उपक्रम किया है वह भी इस रेणुमात्र पृथ्वी पर विद्यमान है; इसका कोई निषेध नही कर सकता। जैसा कि हम पहले भी कह आए है मनुष्य को चेतना भी उसी आधार पर प्राप्त हुई है जैसे शेर को मजबूत पजा और बन्दर को वृक्षों पर दौड़ने की शक्ति; मनुष्य के अस्तित्व-रक्षा के अधिक कुशल प्रयास—समाज से इसका और अधिक विकास हुआ। न जाने कितनी कठिनाइयो से मनुष्य ने दो पैरो पर खड़ा होना सीखा, न जाने कितनी शीतो से वह मरा और पशुओं से कितने संघर्षों में हारा; इन कठिनाइयो और पराजयों का सम्पूर्ण इतिहास ही उसके आज में प्रतिफलित हुआ है। नृतत्वशास्त्री Anthropologist हमे बताते है

कि वह किस प्रकार सूर्य की पुलकित भावुकता से इसलिए पूजा करता था कि वह उसकी जॅगली पशुओ से रक्षा करता है—शीत से त्राण देता है—इत्यादि। मनुष्य ने अपनी पशु-प्रवृत्तियो पर सभ्यता का मुलम्मा नही चढ़ाया प्रत्युत पशु-प्रवृत्तियो से सभ्यता की ओर एक निरन्तर प्रवाह मे बढा है, यह विकास उस पर आरोपित नही प्रत्युत उसका जीवन है—वह उसमे व्यतीत हुआ है, उसने अपना इतिहास बनाया है। इस अन्तर मेउसका जैवी स्तर पर भी विकास हुआ है और बहुत तीव्रता से, जिसका कारण स्वयं समाज है, नही तो अब तक वह कुछ कदम ही आगे बढ पाया होता और उसके ये कदम अपने अन्यतम विकास मे भी उसे जगल और गुफा से बाहर निकलने का अवकाश न देते यदि वह समाज की ओर न बढ़ा होता। उसका यह जैवी Biological विकास आज भी जारी है और रहेगा किन्तु चेतना के भौतिक अर्थ मे ही किसी आध्यात्मिक अर्थ मे नही। इस प्रकार जैवी विकास Biological development समाज के साथ समानान्तर रेखा parallel line हो रहा है।

अपनी रहस्यवादी प्रवृत्ति के कारण वे रहस्यवादी, जो समाज को अहम् के आध्यात्मिक विकास के लिए सहायक समझते है, भी समाज के स्वभाव को न पहिचान कर गलत रास्तो पर भटक जाते है। यह आध्यात्म-वादियों के दूसरे पक्ष के लोग है। पहिला पक्ष जहा आज की समस्याओ को मनुष्य की (न जाने किस) चेतना के शैशव के और नटखटपन के कारण उत्पन्न समझता है वहां दूसरा आध्यात्म भावना की कमी के कारण। आध्यात्म पर पहिला भी बल देता है, किन्तु वह सहज जात मानसिक प्रवृत्ति Intuition के द्वारा उस तक पहुँचता है और आशा करता है कि मनुष्य करोडों वर्षो तक स्वय ही चेतना के विकास के उस बिन्दु तक पहुँच जाएगा—और उससे पहिले उसे वहां कोई पहुँचा नही सकता, किन्तु दूसरा मनुष्य के अपने ऊपर विश्वास करता है—संक्षेप

में यह मानवता—(Abstract) वादी है। इस दूसरे पक्ष की स्थापना करते हुए अज्ञेय जी कहते हैं "वैज्ञानिक लोग नित्य नये आविष्कार करते हैं परन्तु ये आविष्कार एक दूसरे पर घटित नही किये जाते, अत्यन्त असम्बद्ध ही रह जाते हैं। ज्ञान की इन विभिन्न प्रवृत्तियो को एक ही सूत्र में गूथने वाली शक्ति-दर्शन अथवा आध्यात्म की सब ओर उपेक्षा होती है। साथ ही नित्य नये उपकरण आविष्कृत हो जाते हे, नये साधन जुट जाते हैं—जिनका उपयोग करने की योग्यता हम में नही।" धर्म, आध्यात्म आदि शब्द पारिभाषिक है अतः इनका स्पष्टीकरण आवश्यक है किन्तु अज्ञेय जी न इन और बहुत से ऐसे ही शब्दो का प्रयोग इतना अनिश्चित और धुधला किया है कि कुछ समझ मे नही आता। फिर भी यह स्पष्ट है कि उनका आध्यात्म से अर्थ किसी ऐसी मनश्चेतना से है जो अपार्थिव है और उत्तरोन्मुख है। इस अध्यात्म भावना की कमी आज ही हुई है या सदैव रही है ? यदि आज ही कमी हुई हे तो क्यों ? यदि पहिले भी थी तो क्यो यह हाहाकार आज ही है ? इस तक पहुंचने की आवश्यकता अज्ञेय जी ने महसूस नही की, क्योकि इसका अर्थ होता उनकी अपनी धारणाओं का खण्डन, जो उन्हें स्वीकार नही। उन्हें थोड़ी सी और गम्भी-रता से देखना चाहिए कि ये आविष्कार क्यों है ? किस लिए हैं ? और किस क्षेत्र में इनकी अतर्क-सम्मत बाढ़ का—एक दूसरे पर घटित न होने का—प्रभाव पड़ता है; तब उन्हें सहज ही यह ज्ञात हो जाएगा कि इन असम्बद्ध आविष्कारों का कारण असम्बद्ध और अतर्क सम्मत अर्थ-व्यवस्था है जिसमें कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के झुंड-समाज के स्वामी है। ये व्यक्ति अपने आर्थिक लाभ के लिए और व्यक्तिगत मानसिक सन्तुष्टि के लिए आविष्कार करते हैं, अतः इसका सन्तुलित होना तब तक असम्भव है जब तक आविष्कारों पर से व्यक्तिगत नियंत्रण समाप्त नहीं किया जाता। यहां मिलों के सस्ते कपड़े की बाढ़ गृह-उद्योगों को नष्ट कर हजारों को

अस्तित्व रक्षा के साधनो से वचित कर देती है, युद्ध-उद्योग पतियों के स्वार्थ के लिए लाखो मनुष्यो को मरना पडता है और करोड़ों को मृत्यु की अवस्था मे रहना पडता है, क्योकि अर्थ व्यवस्था तर्कसम्मत नही—उसमे कही सामजस्य नही । यह सामजस्य धर्म से नही अर्थ व्यवस्था और समाज व्यवस्था के तर्कसम्मत Rational होने से ही सम्भव हो सकेगा। आज यह असामजस्य उग्रतम हो उठा है । अत अपने अस्तित्व रक्षा के साधनो को हरामी हाथो से छीनने के लिए सघर्ष अनिवार्य है—परिवर्तन अवश्यम्भावी है—जो सामजस्य को सम्भव कर सके । अज्ञेय जी इसे जानते हे किन्तु वे अपने आप को भुलाते है कि "यह परिवर्तन या विकास शरीर के और बुद्धि के विकास के बाद अब चेतना के क्षेत्र मे क्रियाशील होगा। मानव को एक नई सवेदना शक्ति, एक नई आत्मा, एक नई और अधिक विस्तृत चेतना प्राप्त करनी होगी, जिसके द्वारा वह जीवन के नये साध्यों की उद्भावना कर सके और उनका अनुसरण कर सके ।" यह चेतना—जो बुद्धि से परे कुछ है क्या है ? शायद उनका अभिप्राय ज्ञान से हो किन्तु यह ज्ञान या चेतना का विकास कैसे होगा इसे अज्ञेय जी स्पष्ट नही करते प्रत्युत् बड़ी चतुराई से जैवी-विकास Biological evolution की ओर सकेत करके एक अतर्कित आध्यात्म मे पैठ जाते है जिससे सब रहस्य ही रहस्य रह जाता है; पाठक असावधान होने पर सहज ही इस रहस्य मे उलझ कर इस आध्यात्मवाद का कायल हो जाता है और सावधान होने पर विस्मित, कि उसके हाथ क्या लगा ? जहा तक ज्ञान के जैवी विकास का प्रश्न है, थोड़ी सी समझ रखने वाला व्यक्ति भी जानता है कि बुद्धि जहा जैवी विकास का परिणाम है वहां ज्ञान वैचारिक प्रयास का; जैवी विकास में एक कदम पीछे होकर भी एक व्यक्ति अग्रिम से अधिक ज्ञान रख सकता है, यद्यपि यह ठीक है कि वैचारिक प्रयास जैवी-विकास में सहायक होता है, अतः इन दोनो मे महान् अन्तर है । इसे

हम इस प्रकार भी रख सकते है कि बौद्धिक विकास जैवी Biological है और ज्ञान cultural सास्कृतिक। इस अन्तर को समझ कर यह जान लेना कठिन नही कि ज्ञान या चेतना मनुष्य की सामाजिक परिवृत्ति सापेक्ष्य होने से उसी के द्वारा विकसित होगी जैवी विकास मे नही। यदि इस विकास के लिए कोई आध्यात्मिक छोर पकडना चाहे तो भी हमे भूमि पर ही गिरना होगा क्योकि जादू का सत्य सत्य नही होता। अज्ञेय जी की इस भ्रान्त धारणा का आधार यह विश्वास है कि "विकास क्रिया का आरम्भ से ही सोद्देश्य होना असम्भव तो नही" जिसकी व्यर्थता को हम पहिले ही देख आए है। इस प्रकार चेतना के विषय मे उनकी दोनो ही सम्भावनाए व्यर्थ और तर्करहित है।

चेतना सम्बन्धी उनके अपने ही विचार वास्तव में स्पष्ट नही, आगे वे चेतना को मनोविज्ञान के अन्तर्गत लाते हुए कहते है "चेतन और अवचेतन के बीच जो अवरोध और विपर्यास इस समय दीखता है और जो आधुनिक मनोविज्ञान के सहारे क्रमशः स्पष्टतर होता गया है वह शायद उसी के सहारे दूर भी हो जाएगा।" इससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे चेतना का ठीक ही अर्थ समझ रहे है, क्योकि चेतन और अवचेतन भौतिक मन की स्थितियां मात्र है जिनका किसी आध्यात्म से कोई सम्बन्ध नही, किन्तु ऐसा है नही। इसी से वे समझते है कि संवेदना शक्ति और नई आत्मा प्रकृति के 'सोद्देश्य' विकास मे ही उपलब्ध होंगी—शायद (उनके विचार में) मनुष्य के माध्यम से उद्देश्य तक पहुँचने के प्रकृति के प्रयास के कारण ही (जो कि अत्यन्त उपहासास्पद है) तब "हम यह ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे कि जीवन मात्र एक अखण्ड इकाई है। जिस के साथ हमारा चेतन-संबंध भी उतना ही गहरा होगा जितना कि हमारे बिना जाने हमारे अवचेतन का सम्बन्ध रहा है।" अर्थात् अज्ञेय जी भौतिक साम्यवाद नही—जिसमें मनुष्य वास्तव मे समता के ठोस धरातल पर रह सके और सोच

सके---प्रत्युत् आध्यात्मिक साम्यवाद, जिसमे निर्धन अपने अभावो मे सुखी है और धनी अपने ऐश्वर्य मे; जहा जीवन सुन्दर और कुरूप, सुखी और दुखी मे अपनी मधुर अभिव्यक्ति कर रहा है---पीडा को सौन्दर्य देने के लिए और ऐश्वर्य की उद्धतता का चमत्कार देखने के लिए; आध्यात्मिक चेतना सम्पन्न व्यक्ति जीवन की इस विविधता के पीछे एक अखण्ड इकाई का अनुभव करता है।

चेतन और अवचेतन के विपर्यास के मनोविज्ञान द्वारा स्पष्ट होने की बात को लेकर वे मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे भी ऐसी ही गलत धारणा का परिचय देते है, जिसे फ्रायड ने प्रोत्साहित किया था और जिसके कारण मनोविज्ञान के क्षेत्र में भ्रान्तियो और साहित्य क्षेत्र मे दुराचार को स्थान मिला। अज्ञेय जी से मिलतीजुलती बात ही एकाधिक बार पन्त जी और इलाचन्द्र जी ने भी कही है और इससे इन दोनो का साहित्य कितनी गर्हणीय प्रवृत्तियो का शिकार हो गया है, इसे सब जानते ही है। अज्ञेय जी पर यद्यपि यह लाछन इस प्रकार नही लगाया जा सकता तो भी वे एक गलत बात का समर्थन तो करते ही हैं।

प्रवृत्ति अथवा Instinct के विषय मे हमने पीछे कहा था कि यह उद्वेग, शारीरिक प्रक्रिया और सन्तुष्टि है और यह भी कि यह परिवृत्ति की स्वाभाविक समझदारी भी रखती है जिससे परिवृत्ति के अनुसार अपने आपको ढाल सके। मूल प्रवृत्ति और समझदारी Biological impulse & intelligence of environment के बीच मे कोई सीमा रेखा खैचना सम्भव नही और न उपयुक्त ही है क्योकि बिल्ली भूख (फ्रायड ने भी मैथुनेच्छा के अतिरिक्त भूख और अस्तित्व रक्षा की प्रवृत्ति इत्यादि को प्रवृत्ति स्वीकार किया है) के 'अनुभव' के साथ ही चूहे का ज्ञान भी रखती है, मैथुनेच्छा विरुद्ध लिगी का और अस्तित्व रक्षा की प्रवृत्ति बचाव का।

किन्तु यदि बिल्ली को प्रारम्भ से ही शाकाहारी बनाया जाय तो सम्भव है कि वह चूहे को मिलने पर भी न खाये,* और यह भी कि यदि वह अपने शिकार पर पहुँचने मे निरन्तर एक बाधा अनुभव करे तो उसको दूर करने के लिए अथवा उससे बचने के लिए यह अपने आपको उसके अनुसार ढाल ले; इसी प्रकार अस्तित्व रक्षा के लिए भी प्राणी अनेक प्रकार के ढग अपनाते देखे गये है। यहाँ तक कि उन्होने अपना रंग तक बदल लिया है। फ्रायड इसे reality principle कहता है। पहिली प्रवृत्ति जहाँ विषय प्रधान या subjective है, दूसरी विषयी प्रधान या objective और क्योंकि ये सापेक्ष्य है अत. विषय विषयी सम्बन्ध भी अनिवार्य है।

यह प्रवृत्ति pleasure principle और समझदारी reality principal सहज-जात और सह-जात भी है। इससे, यह कहा जा सकता है कि प्रवृत्ति (Instinct) परिवृत्ती का ग्रहण और आत्म हृत्स्पन्दन दोनों उनके (परिवृत्ती इत्यादि के) अपने रूप में ही ग्रहण करती हैं, यद्यपि उसका संग्रह नहीं, कर सकती—अर्थात् वह एक ही विषय का ज्ञान रख सकती हैं जो उसके सम्मुख है। इस प्रकार प्रवृत्ति के स्वाभाविक और यथार्थ होने से उसकी प्रक्रिया और सन्तुष्टि भी स्वाभाविक और पूर्ण होगी अर्थात् उसका अपनी भूख या मैथुनेच्छा और सन्तुष्टि का ज्ञान पूर्ण और ठोस होगा। इसके विपरीत ज्ञान या Intelligence का वस्तु से सम्बन्ध सीधा नही होता प्रत्युत ऐतिहासिक आधार पर होता है। इस प्रकार ज्ञान प्रवृत्ति या शारीरिक आवश्यकता के वास्तविक और ठोस सम्बन्ध को दबाता है—अर्थात् प्रवृत्ति या अवचेतन

* महादेव जी की बिल्ली पापड़ ही खाती है चूहा नहीं—जैसा कि महादेवी जी ने मुझे एक भेंट मे बताया था।

(मनोवैज्ञानिको के अनुसार दमित प्रवृति ही अवचेतम है।) यथार्थ का ग्रहण है और ज्ञान या चेतन—क्रम—अभिरुचि और अयथार्थ का आरोपण; एक वस्तु को प्राप्त करता है किन्तु उसका सग्रह या क्रम नही रखता, दूसरा क्रम रखता है किन्तु प्राप्त नही करता। क्योकि क्रम आरोपण है अत. स्वभावतः वह 'यथार्थ' के सघर्ष मे आता है।

आध्यात्मवादियो की प्रवृत्ति द्वारा यथार्थ ग्रहण की धारणा की निर्मूलता हम पीछे देख ही आए है अतः अब हमे उनके चेतन-अवचेतन-सघर्ष का यथार्थ भी देखना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक जब परिवृत्ति की समझदारी principle of reality को स्वीकार करते है तब वे मनुष्य मे भी परिवृत्ति की समझदारी मानने को बाध्य है और वास्तव मे ज्ञान की क्रम-चेतना इस परिवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ है भी नही। तब फिर हमारा चेतन और अवचेतन का विपर्यास वास्तव मे प्रवृत्ति और परिवृत्ति का विपर्यास है क्योकि मनुष्य की परिवृत्ति की समझदारी अपना स्वतत्र अस्तित्व रखती है। अत. चेतन-अवचेतन का सघर्ष एक सीमा तक अनिवार्य है क्योंकि मनुष्य केवल स्नायविक प्रक्रिया और सन्तुष्टि को समाज के लिए हानिकारक समझता है और अपने लिए असन्तोषजनक। किन्तु यह सघर्ष चेतन-अवचेतन के बीच विपर्यास का कारण नही बनता, विपर्यास वास्तव मे तब उत्पन्न होता है जब मनुष्य का चेतन मन निर्बल होकर अवचेतन के अधीन हो जाए और सामाजिक नैतिकता—जैसा कि स्वाभाविक भी है—उसमे असन्तोष और ग्लानि जगाए, अथवा अवचेतन का अस्वाभाविक रूप से दमन किया जाय। चेतन मन principle of reality परिवृत्ति के अतिरिक्त और कुछ नही, अतः अवचेतन मन और उसमे विपर्यास को तभी स्थान मिलेगा जब सामाजिक नैतिकता मे अन्तर्विरोध हो—जैसे हमारे समाज का अधिकाश वीभत्स सिनेमा चित्र देखना पसन्द

करता ह, किन्तु उसी को अथवा उसके सहस्त्राश को भी समाज में फलित होते देख कर बौखला उठता है, कम से कम अपने घर मे वैसा नही देखना चाहता। अथवा वैसे चित्र देखने से अपने आप को रोकता है किन्तु फिर भी उन्हें ही देखता है। यदि व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओं और सामाजिक नैतिकता मे सामजस्य बिठाया जा सके और समाज सुश्रृखलित हो तो यह विपर्यास नही रहेगा। अतः चेतन-अवचेतन का यह विपर्यास इसीलिए होता है कि समाज की नैतिकता का न तो प्राकृतिक आवश्यकताओ से कही मेल होता है न समाज सुश्रृखलित होता है। यदि एक पुरुष एक स्त्री से तन्मय हो प्यार करता है और वह इसे न तो स्वयं बुरा समझताहै न समाज के सम्मुख इसके लिए लज्जित होने को बाध्य है तब उसके मानसिक अन्त-विरोध की समस्या नहीं रहेगी, किन्तु यदि बह पर्याप्त सजग नहीं और उसका अवचेतन मन उस पर स्वामी हो उठता है तब वह कभी भी सामाजिक स्वीकृति नही पा सकेगा; अथवा यदि वह प्रेम की तीव्रता नहीं रखता और शारीरिक आवश्यकता का दमन करता है; इन दोनो ही अवस्थाओ में उसका मानसिक स्वास्थ्य खराब रहेगा—उसमें यह विपर्यास बना रहेगा। यही बात भूख इत्यादि की प्रवृत्ति पर भी लागू होती है। भूख की प्रवृत्ति स्वाद की परिवृत्ति के साथ भी बँधी हुई है। यदि भूख मिटाने के लिए पर्याप्त भोजन न मिले अथवा उसका स्वाद उपयुक्त न हो तब भी चेतन अवचेतन में विरोध की अवस्था उत्पन्न हो जाएगी—और सम्बद्ध व्यक्ति छोटी मोटी चोरी, सम्बद्ध व्यक्तियों के प्रति क्रोध इत्यादि की ओर झुकेगा। फिर भूख और काम प्रवृत्ति परस्पर सहायक भी है; अतः एक दूसरे के क्षेत्र में भी इस विरोध को उत्पन्न करती है। पीछे इंगलैण्ड की स्त्रियों में दूकानों से छोटी मोटी चीजे चुराने का रोग बहुत फैला था। यह रोग प्राप्ति के उद्देश्य से नही अवचेतन की प्रेरणा से उत्पन्न होता है। अतः व्यक्ति सब मिलने पर भी चोरी करता है।

इसलिए शारीरिक आवश्यकता के साथ नैतिकता का सामजस्य अनिवार्य है जो एक तर्कसम्मत समाज Rational Society मे ही सम्भव है जिसका निर्माण साम्यवादी आधारों पर हुआ हो। अपनी प्रवृत्तियों को खुले छोड़ कर, प्रत्युत खरोच खरोच कर ऊपर लाने मे किसी प्रकार की सन्तुष्टि सम्भव नही क्योंकि हम पशु के समान प्राकृतिक भी नही। इस अवस्था मे तो 'नहिकाम: कामानामुपभोगेनशाम्यति' का सिद्धान्त ही उपयुक्त प्रमाणित हो सकता है। नही तो व्यक्तित्व मे निर्बलता और इच्छा शक्ति में अनिश्चितता आनी अनिवार्य हो जाएगी। यदि इस वास्तविकता को देखना हो तो महाभारत तथा 'प्रेत और छाया' के पात्रों में मुकाबला करके देखा जा सकता है। इसका अर्थ यह नही कि महाभारत तर्कसम्मत समाज की उपज है किन्तु यह सत्य है कि उस समय सामाजिक नैतिकता उनकी शारीरिक आवश्यकताओ के संघर्ष में नही थी—और भी अनेक कारण थे जिनकी चर्चा यहा अनावश्यक होगी, तो भी यह तो एक स्पष्ट कारण है ही कि वे 'मनोवैज्ञानिक' नही थे। अवचेतन और चेतन के विपर्यास और द्विविधता की समस्या का सुलझाव फ़्रायडियन खरोंच से नहीं जिसका अर्थ चेतन की निर्बलता होता है प्रत्युत सामाजिक परिवृत्ति को तर्कसम्मत बनाने से होगा।

इस प्रकार नूतन रहस्यवाद अनेक भ्रान्त धारणाओं के आधार पर खडा है; दर्शन के क्षेत्र में ब्रह्मवाद ने इसे जहां धुँधलापन और subjective दृष्टिकोण दिया है वहां सामाजिक और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र मे व्यक्तिवाद और अन्तश्चेतनावाद ने प्रतिगामिता और निर्बलता तथा कुत्सितता भी। और दुर्भाग्य की बात है कि ये लोग आज आत्मप्रवंचना तथा परप्रवंचना दोनों ही कर रहे हैं।

नूतन रहस्यवादी पन्त के विचार

पिछले अध्याय मे हमने नूतन रहस्यवादियो की दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक भ्रान्तियों को समझने का प्रयास किया क्योंकि विशेष भ्रम इन लोगों ने इन्ही क्षेत्रो मे फैलाया है और इन्ही आधारो पर ये युग की प्रगतिशील धाराओं का विरोध करते है। किन्तु उनका क्षेत्र यहीं तक सीमित नही, वे राजनीति और अर्थनीति के क्षेत्रो मे भी दखल देते है या कम से कम दखल हो जाता है। इस अध्याय में हम पन्त जी के विचारो का पर्यालोचन करते हुए मुख्यत. इसी ओर ध्यान देंगे।

पन्त जी ने अपने एतत् सम्बन्धी विचार उत्तरा की भूमिका मे लिखे है; उतनी बडी भूमिका मे सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ अवश्य कहा जा सकता था, किन्तु पन्त जी ने उसमे एक-दो आग्रहो की ही अनेक आवृत्तियाँ घुमा फिरा कर की है और तब भी स्पष्ट कुछ नही। अस्तु, हमे अब एक ऐसा उद्धरण उनकी पुस्तक से लेना चाहिए जिसमें भूमिका मे कथित सभी कुछ कहा गया हो। अपने युग की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों और अपनी प्रतिक्रियाओ को बताते हुए वे कहते हैं—

"अपने युग को मैं राजनैतिक दृष्टि से जनतत्र का और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व मानवता और लोक मानवता का युग मानता हूँ और वर्ग युद्ध को इस युग के विराट् सघर्ष का राजनैतिक चरण मात्र। राजनीति के क्षेत्र के किसी भी प्रगतिकामीवाद या सिद्धान्त से मुझे विरोध नही है; एक तो राजनीति के नक्कारखाने में साहित्य की तूती की आवाज कोई मूल्य नही रखती, दूसरे, इन सभी वादों को मै युग-जीवन के विकास के लिए किसी हद तक आवश्यक मानता हूँ, ये परस्पर संघर्ष निरत तथा

शक्ति लोलुप होने पर भी इस युग के अभावो को किसी न किसी रूप मे अभिव्यक्त करते है; अपनी सीमाओ के भीतर उनका उपचार भी खोजते है और बहिरन्तर के दैन्य से पीडित, पिछले युगों की अस्थि ककाल रूप धरोहर, जनता के हित को सामने रखकर सुख-भोग कामी, मध्योच्च-वर्गीय चेतना का ध्यान इस ओर आकृष्ट करते है। सास्कृतिक दृष्टि से इनकी सीमाओ से अवगत तथा साधनों से असन्तुष्ट होने पर भी मै अपने युग की दुर्निवार तथा मानव-मन की दयनीय दुर्बोध सीमाओ से परिचित एवं पीडित हूँ।"*

इस सारे का क्या अर्थ होगा, यह जान लेना सम्भव नही, बस एक बात पता चलती है—"मै मानता हूँ, मै कहता हूँ;" क्यो कहते है? जो आप कहते है वह कैसे ठीक है, और जो आपको ठीक नही लगता वह कैसे गलत है, यह सब कहने की आवश्यकता उन्हे महसूस ही नही हुई। जनतत्र की क्या परिभाषा है, जनतंत्र का अस्तित्व आज कही है भी या नही, है तो किस रूप में, नही तो क्यों! इसके लिए उन्होने कुछ भी कहना उपयुक्त नही समझा। फिर "सभी वादो को मै किसी न किसी रूप मे उपयुक्त मानता हूँ और उन्हे आवश्यक भी समझता हूँ"—कैसी उदारता है; किन्तु इससे अधिक निरर्थक और बेसिर पैर की बात भी कोई नही हो सकती, क्योकि इसका अर्थ है पन्त जी का अपना कोई दृष्टिकोण नही और न किसी अन्य दृष्टिकोण का आपके लिए कोई मूल्य है, आप सभी को टरका रहे है। फिर भी वे इन सबका सामूहिक मूल्य बताते ही है कि "ये सिद्धान्त सुखोपभोग कामी मध्योच्चवर्गीय चेतना को उसके सिरहाने उसकी प्रशस्तियाँ गा गा कर जगाते है और जागने पर (यदि वे जागें तो) अस्थि-कंकाल शेष जनता को उसके सामने खड़ा कर उसकी करुणा का वर्णन

* उत्तरा की भूमिका, पृ० ३-४।

करते हैं।" इन सिद्धान्तों की इस राजनैतिक चाटुकारिता से पन्त जी पूर्णतः सन्तुष्ट है, हा, सास्कृतिक दृष्टि से वे इन्हे पसन्द नही करते, जैसे सस्कृति कोई रहस्यवादी प्राप्ति हो। तो भी वे इस आध्यात्मवाद के उच्चशिखर पर बैठे मानव मन की सीमाओं को सहानुभूति से देख कर करुणा-विगलित हो उठते हैं। यह है सामान्यत उनके कहने का तात्पर्य। कम से कम व्यावहारिक रूप मे ऐसा ही होता है। वे आगे कहते है—"इस दृष्टि से मैं प्रगति की धाराओ का क्षेत्र वर्ग युद्ध में मानते हुए भी (यद्यपि अपने देश के लिए उसे अनावश्यक तथा हानिकारक समझता हूँ) उससे कही अधिक विस्तृत तथा ऊर्ध्व मानता हूँ।"* फिर वही "मानता हूँ", पर क्यों मानते हैं आप ?—यह भी तो बताने की कृपा करें न ?" यदि आप न भी मानें तो भी इससे क्या अन्तर पड जाएगा ? वर्ग युद्ध का सिद्धान्त अन्यत्र, आशिक रूपेण ही सही, क्यो प्रगतिशील है, आप अपने इस परम् पावन देश मे उसे क्यों स्थान नहीं देना चाहते ? आप की नाराजगी के बावजूद भी यदि वह आने की गलती कर ही बैठे तो क्या ग़जब ढह जाएगा ! ऊर्ध्व के लिए कोई आधार भी जरूरी है या उसके बिना ही काम चल सकता है ?—यह सब बताने का कष्ट आप नही करना चाहते। परन्तु आप चाहे कितने ही मधुर मधुर क्यों न हों, आप के मधुराधरो से निकले केवल "मैं यह मानता हूँ" से किसी को सन्तुष्ट नही होगी, कृपा करके हमें यह भी तो बताएँ न कि आपको अकारण ही किसी चीज से घृणा और किसी से प्रेम क्यों हो गया है ?

अब कोई बताये कि वे प्रगति की धाराओं का क्षेत्र ऊर्ध्व क्यों मानते हैं और वर्ग युद्ध को अपने देश मे क्यों ठीक नहीं समझते ! इतना

* उत्तरा की भूमिका, पृ० ३-४ ।

ही नही कि उन्होने किसी भी बात को स्पष्टता से नही कहा, जो कहा है उनमें कोई सगति भी नही है। केवल अन्तर्चेतना और 'सांस्कृतिक' शब्द को पकड कर उन्होने सभी कुछ कह डाला—जिसका कोई भी अर्थ नही रहा। एक और उद्धरण लें—

"मैं जनतंत्रवाद की आन्तरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही अन्तर्चेतनावाद अथवा नव मानववाद कहता हूँ। दूसरे शब्दो में जिस विकासकामी चेतना को हम संघर्ष के समतल धरातल पर प्रजातन्त्रवाद के नाम से पुकारते हैं उसी को ऊर्ध्व-सांस्कृतिक धरातल पर मैं अन्तर्चेतना एवं अंतर्जीवन कहता हूँ।"

जो विकासकामी चेतना बाहर अभिव्यक्त है वही अन्तर मे प्रस्फुटित है, एक को समतल और दूसरी को ऊर्ध्वतल, एक को भौतिक और दूसरी को आध्यात्मिक कहने का अर्थ मेरी समझ मे तो बिल्कुल नही आया। जनतंत्रवाद की बाह्य स्थिति और अन्तर-स्थिति का यही अर्थ हो सकता है कि एक का वास्तविक और ठोस अस्तित्व हो और दूसरी अनुभव में हो। इस प्रकार बाह्य प्रजातन्त्रवाद का अर्थ है राजनीति, समाज और अर्थनीति की प्रजातात्रिक—समानाधिकारिक—स्थिति और अन्तर का अर्थ है, सर्व मानवता की एकत्वानुभूति। जब वास्तव रूप में प्रजातन्त्रवाद का अस्तित्व होगा तब अनुभूति मे भी उसकी परिणति होगी ही, यदि उसका अस्तित्व नही होगा, तो वह कल्पना कही जाएगी। किन्तु पन्त जी का अर्थ कुछ और ही प्रतीत होता है, क्योंकि हमारी बात तो सीधी सी है, यदि इतनी सी बात होती तो उन्हे ऐसी असगत बाते करने का अवसर ही क्यो मिलता? किन्तु वे इस भेद को और अधिक बढाते जाते हैं और असगति और भी बढ जाती है—"इस युग के जड़ (परिस्थितियाँ, यत्र, तथा तत्सम्बन्धी आर्थिक राजनैतिक आन्दोलन) तथा चेतन (नवीन आदर्श, नैतिक दृष्टिकोण तथा तत्सम्बन्धी मान्यताएँ आदि) का संघर्ष

इसी अन्तर्चेतना या भावी मनुष्यत्व के पदार्थ के रूप में सामंजस्य ग्रहण कर उन्नयन को प्राप्त हो सकेगा।"*

यहाँ जड और चेतन की सीमा रेखाएँ देखे और इनके नामकरण की दार्शनिक सूझ भी। नैतिक आन्दोलन भी क्या परिस्थितियाँ नही हे ? आर्थिक और राजनैतिक आन्दोलन ही क्या नैतिक ओर सांस्कृतिक आन्दोलनों को प्रोत्साहित नहीं करते ? यह ठीक है कि इस युग ने यान्त्रिक प्रगति जितनी अधिक की है मानसिक स्तर उतना विकसित नही हुआ, किन्तु इसका कारण क्या है और इसका समाधान कैसे हो सकता है, इसे पन्त जी क्यो नही सोचते ? क्या सभी प्रकार के राजनैतिक आन्दोलन इसके योग्य या अयोग्य है। क्या मानसिक-स्तर के अविकसित और कुविकसित होने का यह कारण नही कि भौतिक प्राप्ति एकदम असामाजिक-अनैतिक और अतर्कसम्मत रूप से लूट का साधन और लूट का साध्य रही ? इससे स्वाभाविक था कि वंचित अविकसित रहते और सम्पन्न कुविकसित हो जाते ! पर पन्त जी ने तो अब प्रण कर लिया है कि वे इसे नही मानेगे। नही मानें, किन्तु कोई उत्तर तो होना ही चाहिए ! मुझे इसका कोई उत्तर उत्तरा की भूमिका में नही मिला। और मेरा विचार है कि इसका उत्तर पन्त जी के पास है भी नही। कुछ बाते तो बिल्कुल ही उलझी हुई और निराधार है। यंत्र युग ने अर्थ-क्षेत्र मे क्या प्रभाव डाला इसे देखें—

"अतिरिक्त लाभ ने जहाँ मानव-श्रम के मूल्य को अतिरिक्त लाभ में परिणत कर शोषक-शोषितों के बीच बढ़ती हुई खाई को रक्त पंकिल विक्षोभ तथा असन्तोष से भर दिया है वहाँ हमारे भोग विलास तथा अधिकार-लालसा के स्तरो को उक्सा कर हमें अविनीत भी बना

*पृ० ४।

दिया है। किन्तु वह हमारे ऊपरी धरातलो तथा सास्कृतिक चेतना को छूकर मानवीय गौरव से मडित नही हो सका है, दूसरे शब्दो मे, यत्र युग के मनुष्य की चेतना मे अभी सास्कृतिक परिपाक नही हुआ है।"

'मानसिक प्रतिफलन' और 'सास्कृतिक परिपाक' जैसे साधारण और लोचदार शब्दो का प्रयोग, जब कि उनका अर्थ स्पष्ट न किया जाए, और भी अधिक दुरूहता उत्पन्न करता है। इनका यहाँ क्या अर्थ है, कुछ समझ मे नही आता। उनका मानसिक प्रतिफलन से अर्थ सद्-वृत्ति के विकास से है ? किन्तु यंत्र के मानसिक प्रतिफलन का यह अनिवार्य परिणाम नही हो सकता, इससे बिल्कुल उल्टा भी हो सकता है। खैर, यह मान ही ले तो भी सद्वृत्ति का विकास क्या पन्त जी उसी प्रकार चाहते है जैसे महात्मा जी चाहते थे ? महात्मा जी बिड़ला के भवन मे कई वर्ष तक रहे और अन्त मे वही प्राण-विसर्जन भी किया, किन्तु बिड़ला के दिल का क्या बना ? और किस पूजीपति का दिल बदला ? यदि दिल बदल ही जाए तो भी शोषितो के स्वार्थ तो शोषको की मूड (Mood) पर ही आश्रित होंगे ? समानता का अधिकार उन्हे कैसे मिल सकेगा ? मानसिक विकास से उनका अर्थ साधारण सामाजिक-मानसिक विकास से भी हो सकता है, किन्तु जब विज्ञान की सम्पूर्ण समृद्धि से साधारण जन वंचित ही नही पीडित भी है तब प्रतिफलन कैसे होगा ? यह तो तभी सम्भव है जब जनता इसमें सहभागी हो और इस समृद्धि का वितरण सामाजिक आधारो पर हो असामाजिक आधारों पर लूट नही। अतः ठीक और ठोस समाधान ठीक और ठोस आर्थिक परिवर्तन चाहता है। कल्पित स्वप्न दर्शन कोई सुलझाव नही ला सकता। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पन्त जी में यथार्थ का सामुख्य करने की शक्ति नही; ज्योत्स्ना में उन्होंने अलियों-कलियों के आलिंगन-चुम्बनों मे भविष्य-दर्शन किया था और अब

सत्य-मुक्ति के कुच-मर्दन-विलास में करते हे।

सास्कृतिक दृष्टिकोण से वे सत्य-अहिसा को अनिवार्य मानते है, इससे किसी को भी विरोध नही हो सकता, या कम से कम कुछेक व्यक्तियों को छोड कर इसका कोई भी विरोध नही करेगा; किन्तु पन्त जी जिन बातो पर जोर देते है ओर जिन्हे गोण समभने हे उन पर आपत्ति न होनी ही अस्वाभाविक है । वे कहते है––

"सत्य अहिसा के सिद्धान्तो को मै अन्तः सगठन के दो अनिवार्य उपादान मानता हूँ, अहिसा मानवीय सत्य का ही सक्रिय गुण है।"* किन्तु अपने इन दोनो शब्दों की व्याख्या भी तो कोजिये ? सत्य अहिसा के नाम पर अविरत शोषण क्या असत्य और हिंसा नहीं ? और इन शोषकों को बलपूर्वक अवग कर एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना, जिसमे यह बुराई न हो––क्या सत्य और अहिंसा नही ! शोषको को कष्ट हो, यह तो हिसा है, किन्तु करोड़ो शोषित प्रतिदिन अभावो से जर्जरित हो यह हिसा नही ? सत्य या अहिसा अथवा और भी कुछ इसलिए श्रेयस्कर या मान्य नही कि वे सत्य या अहिंसा है प्रत्युत् इसलिए कि ये मानव के लिए कल्याणकर हे। और इसीलिए इन्हे मानव-कल्याण के लिए अपना रूढ़ अर्थ भी छोड़ना ही होता है; यदि ये मानव-कल्याण मे बाधक होते है तो असत्य और हिंसा ही मान्य होगी और होनी चाहिए।

मानव-कल्याण एक बड़ा व्यापक और विवादास्पद विषय है, इसके लिए अलग अलग दृष्टिकोण हो सकते है, किन्तु इससे हमारी बात की सत्यता याँ असत्यता मे कोई अन्तर नही आता। मानव-कल्याण के लिए जो सब से अधिक उपयुक्त और पूर्ण सिद्धान्त होगा––अन्ततः वह स्वयं स्थान बना लेगा––क्योकि उपयुक्त वही सिद्धान्त हो सकता है जो परिस्थितियो

* पृ० १३ ।

को देख कर उनकी---युग की---दिशा जान ले और उसके अनुसार जनता को शीघ्रता के लिए प्रेरित करे। युग-परिस्थितियो को न तो रोका ही जा सकता है और न बदला ही जा सकता है, उनका तो विकास स्वय ही होगा---हम उसमे निमित्त हो सकते है। यत्रो ने आर्थिक और अतएव अन्य क्षेत्रो मे जो कुछ परिवर्तन या परिस्थितियाँ उत्पन्न की, वह इसके अतिरिक्त और कुछ कर भी नही सकते थे क्योकि इससे पूर्व की आर्थिक व्यवस्था भी अतर्कसम्मत और व्यक्तिगत स्वार्थो पर आधारित थी, और अब उसका विकास जिस ओर को हो रहा है और हो चुका है उसको रोका नही जा सकता, बदला भी नही जा सकता---केवल विलम्ब किया जा सकता है या सहायता पहुँचाई जा सकती है। किन्तु पन्त जी इसे मानने को तैयार नही होते और उसी बात को घुमा फिरा कर और अधिक समझदारी से कहते हैं---

"मैं जनता के राग-द्वेष, क्रोध तथा असन्तोष को भी आदर की दृष्टि से देखता हूँ क्योकि उसके पीछे मनुष्य का हृदय है, किन्तु युग-संचरण को वर्ग-सचरणो मे सीमित कर देना उचित नही समझता।"*

यह एक बडी खिझाने वाली बात है; जनता का राग-द्वेष कोई जैवी-प्रवृत्ति (Biological Instinct) नही और न कोई सामूहिक पागलपन ही है, इसके पीछे जो ठोस कारण है सहानुभूति या विरोध उनसे होना चाहिए। ओर फिर राग-द्वेष शब्द इतना संकुचित अर्थ देते है और उनके पीछे मनुष्य का हृदय बता कर उन्हे इतना संकुचिततम बना दिया गया है कि उसके आदर का महत्व भावुकता से अधिक और कुछ नहीं रह जाता। जनता के साथ यदि राग-द्वेष शब्द का प्रयोग करना ही हो तो वह एक राष्ट्र या जाति के दूसरे राष्ट्र या जाति के प्रति युद्धोन्माद

*पृ० १४।

के अर्थ में ही होना चाहिए। यदि समाज अपने में के कुछ अपकारक व्यक्तियों या समुदाय को निकाल फैंकना चाहता है—बहु जन हित के लिए, तो वह राग-द्वेष नही अनिवार्य कारणो से उत्पन्न न्याय की भावना है या सात्विक क्रोध है।

और पन्त जी इस राग-द्वेष का आदर करते है क्योकि उसके पीछे मनुष्य का हृदय है, इसलिए नही कि वह मानव-समाज का नव-जागरण है—युगों की जडता और पराजय वृत्ति के अभिशाप को उतार फैंकने के लिए। वर्ग संघर्ष को वे सार्थक विचार मान सकते है किन्तु उसे पूर्ण उद्देश्य नही, युग सचरण को आंशिक प्रक्रिया मात्र ही समझते हैं। मै नही समझता कि कोई भी वर्ग संघर्ष को अपना उद्देश्य मानता है; वर्ग सघर्ष तो पूजीवादी प्रथा का अनिवार्य परिणाम है; जिन परिस्थितियों ने वर्ग-संघर्ष को उत्पन्न किया है उन्हे समाप्त कर एक ऐसी व्यवस्था कायम करना, जिसमें वर्ग-संघर्ष सी असामाजिक स्थिति न हो, साम्यवाद या मार्क्सवाद का उद्देश्य है। वर्ग-सघर्ष की अवस्था तो स्वयं ही बनी हुई है, और इसे इस प्रकार समाप्त नही किया जा सकता कि हम अपनी पुरानी ऐतिहासिक परम्परा का पालन करते हुए वंचितों को विनम्र होने के लिए कहे और उनके अभिशप्त जीवन को ईश्वर की करामात। इसे समाप्त करने का उपाय तो इन असामाजिक और अतर्कसम्मत परिस्थितियों को समाप्त करना है। अत. वर्ग-संघर्ष को प्रोत्साहित करना होगा जिससे वह अवस्था शीघ्र आए जिसमें स्थायी अहिसा और सामाजिक सत्य की प्रतिष्ठा होगी।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पन्त जी राजनीति और अर्थनीति सम्बन्धी कितनी भ्रान्तियाँ रखते है और सगर्व उनका प्रचार भी करते है। यही बात दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विचारो के लिए भी सत्य है; यदि यह कहा जाय कि इस ओर उनकी असगत धारणाएँ और भी अधिक बढी चढ़ी है,

तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। दखे एक स्थान पर वे पुरातन आध्यात्मिकता और वर्तमान भौतिकता की क्या विवेचना करते है—

"जिस प्रकार हमारे मध्ययुगीन विचारको ने आत्मवाद से प्रकाश-अध होकर मानव-चेतना के भौतिक (वास्तविक) धरातल को माया, मिथ्या कह कर भुला देना चाहा उसी प्रकार आधुनिक विज्ञान दर्शनवादी, यद्यपि आधुनिकतम भूत विज्ञान पदार्थ के स्तर का अतिक्रमण कर चुका है तथा आधुनिकतम मनोविज्ञान, जिसे विद्वान अभी शैशवावस्था मे ही मानते हैं, चेतन मन तथा हेतुवाद (रैश्नलिज्म) से अधिक प्रधानता उपचेतन-अवचेतन के सिद्धान्तो को देने लगा है—और विशेषकर मार्क्स-वादी भौतिकता के अन्धकार मे और कुछ भी न सूझ पडने के कारण मन (गुण) तथा संस्कृति (सामूहिक अन्तर्चेतना) आदि को पदार्थ का बिम्ब-रूप गौण-स्तर या ऊपरी अतिविधान कह कर उडा देना चाहते है, जो मान्यताओं की दृष्टि से ऊर्ध्व तथा समतल दृष्टिकोणो में सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति है।"

पाठक इस लम्बे चौडे दर्शन को ध्यान से पढ जाएँ और खोजे इसमें कही कोई भी तर्क है? ऐतिहासिक विवेचना.की भी दाद दें—मध्य-युगीन प्रकाश अध हो गया था क्योकि वह भूत (वास्तविक) से परें हट गया था और मार्क्सवादी तथा विज्ञान दर्शनवादी अन्धकार अंध हो गया है क्योंकि वह भूत (वास्तविक) का अवास्तविक (प्रकाशान्ध) के साथ सामजस्य नही बिठा सका। (वास्तविक शब्द का प्रयोग उन्ही का है और उसी के तौल पर मैंने अवास्तविक का प्रयोग कर कोई ज्यादती नही की, असंगति को अधिक स्पष्ट भर किया है।)

मध्य युग—यदि केवल दार्शनिक दृष्टि से भी देखा जाए तो भी—प्रकाशांध नही धार्मिकता की रूढियों में जकडा हुआ था, उसको विश्व का श्रद्धात्मक 'ज्ञान' था जब कि वर्तमान विज्ञान-दर्शन तर्काश्रित

जिज्ञासा है। जहाँ तक मार्क्सवाद का सम्बन्ध है, उसने तो दर्शन को बौद्धिक अतिवादो से निकाल कर उसे व्यावहारिक (सामाजिक) धरातल दिया। मन को तो मध्य युगों ने भी भूत द्रव्य स्वीकार किया है, मार्क्सवाद ने उस मान्यता को विज्ञान के सहारे तर्कसम्मत रूप से ग्रहण किया और उससे पर आत्मा की मूर्खताओ को अस्वीकार कर दिया। मार्क्सवाद ने जो मन को परिवृत्ति का प्रतिबिम्ब कहा है वह वास्तविकता भी है और व्यावहारिकता भी, जैसा कि हम स्थापना और प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि में काफी विस्तार से देख आए है। नवीन भूत विज्ञान (Physics पदार्थ के स्तर का अतिक्रमण इस अर्थ मे नही करता कि उससे आगे कोई परोक्ष-रहस्यमय और चेतन शक्ति को स्वीकार करता है, प्रत्युत् यह कि वह आधारभूत भौतिक शक्ति को ही, जो परमाणु से अधिक सूक्ष्म है*—मान्यता देता है। मनोविज्ञान के अवचेतन का तात्पर्य भी कोई आत्मा नही प्रत्युत् सामाजिक परिवृत्तीभूत चेतन मन के पीछे दबी हुई स्नायविक प्रवृत्तियो की भूख (Neurological Impulse) है जो, जैसा कि हम पिछले अध्याय मे देख आए है, सामाजिक परिवृत्ति के—नैतिकता के—अतर्कसम्मत होने के कारण उपचेतन या अवचेतन के रहस्य प्रस्तुत करती है। मार्क्सवाद पर उन्होने यह आरोप भी लगाया है कि वह मन को गौण स्तर या ऊपरी अतिविधान कह कर उड़ा देना चाहता है।"

*सूक्ष्मतर का अर्थ परमाणु के ही भागों से है—None doubts to-day that all matter is made up of atoms which in turn are composed of even smaller building blocks, called electrons, neutrons and protons. By Burnett. From The Universe and Einstein.

किसी बात को गलत प्रमाणित करने के लिए तर्क देने का यह बडा बेहूदा ढग है; यदि मन ऊपरी गौण स्तर वास्तव मे हो ही तो उसको क्यो न कहा जाए ? यादि नही है तो उसके लिए तर्क दें, प्रमाण दें। फिर मार्क्स तो यह भी नही कहता ! यदि पन्त जी मार्क्सवाद को जानते नही तो उन्हे उसके लिए कुछ भी कहने का अधिकार नही, यदि जानते है तो उन्होने जो कुछ लिखा है उसे दूसरो की भावुकता से लाभ उठाने की 'समझदारी' कहा जाएगा—जो गर्हणीय है। मार्क्स मन या चेतन को जड का विकास मानता है, उसे उड़ाता नही। वह केवल यह कहता है कि चेतन कोई ईश्वर नही, वह भूत का गुणात्मक विकास है और विकास होने से ही प्रधान और उच्च स्तर भी। वह उन भौतिकतावादियो के विरुद्ध, जो ईसा के सूली पर चढने और एक कुत्ते की टाग गलने की घटना को एक समान ही महत्त्वपूर्ण मानते है, मनुष्यता को और इसीलिए सामाजिकता को सर्वोपरि मानता है। "भौतिकता के अंधकार मे और कुछ न सूझ पडने के कारण" जैसी दलीले देकर उन्हें अपने आपको उपहासास्पद स्थिति मे नही डाल देना चाहिए। आगे वे कहते है—

"१—वास्तव मे चाहे चेतना को पदार्थ का सर्वोच्च या भीतरी स्तर माना जाए,

"२—चाहे पदार्थ को चेतना का निम्नतम या बाहरी धरातल,

"३—दोनो ही मानव जीवन मे अविच्छिन्न रूप से वागर्थाविव जुडे हुए है।"

मार्क्सवाद "चाहे" को उड़ा कर पहिली और तीसरी बात को पूर्णतः मानता है और उसका सम्पूर्ण दर्शन इसी भित्ति पर खडा है। किन्तु पन्त जी, लगता है कही भी तर्कसम्मत होना नही चाहते इसी से अगले ही वाक्य में कहते हैं "पदार्थ, जीवन, मन तथा आत्मा की मान्यताएँ हमारी बुद्धि के विभाजन भर है; सम्पूर्ण सत्य इनसे परे तथा इनमें भी व्याप्त होने के

कारण एक तथा अखडनीय है।" इस वाक्य को मिलाए पिछले वाक्य से, कोई मेल है कही ? यही नही कि उन्होंने यह असगत बात कही है प्रत्युत यह भी कि उसे मानने के लिए हमें प्रकाशाध (श्रद्धावान्) होने को भी कहा गया है क्योकि कोई तर्क उनके पास इसके लिए नही है। इस से अगले ही वाक्य मे वे और भी असगत बात कहते हैं—

"सभ्यता के विकास क्रम मे जब मनुष्य का मन एव चेतना इतनी अधिक विकसित हो चुकी है और विभिन्न युगो मे अन्तर्मन की मान्यताए भी (धर्म, आध्यात्म, ईश्वर सम्बन्धी) स्वीकृत हो कर लोक-कल्याण के लिए उपयोगी प्रमाणित हो चुकी है, तब आज उनका बहिष्कार कर केवल मासपेशियो के सगठित बल पर मानव-जीवन के रथ या महायान को आगे बढ़ाने का दु:साहस मेरी दृष्टि मे केवल इस युग के दुर्दान्त विक्षोभ का अन्ध विद्रोह ही है।"

यहाँ पन्त जी चेतना को सभ्यता के विकास-क्रम मे विकसित मान रहे हैं, जब कि पहिले ही वाक्य मे वे किसी पूर्ण और अखण्ड सत्य से विश्व को परिव्याप्त मान रहे थे और मार्क्स को इसीलिए फटकार रहे थे कि वह मन को विषय (Object) का प्रतिबिम्ब मानता है। यदि मन निरपेक्ष आत्मा है और यदि अवचेतन का अर्थ किसी रहस्य-निर्गुण-चेतना से है तो सभ्यता के विकास-क्रम मे मन के विकसित होने का क्या अर्थ ? किन्तु असंगतियाँ इससे भी बड़ी हैं, इसे देखने के लिए उद्धृत वाक्यों को ध्यान से पढ़ें (१) आज मनुष्य की चेतना अधिक विकसित हो चुकी है। (२) विभिन्न युगो मे धर्म-ईश्वर आदि की मान्यताएँ स्वीकृत हो चुकी है और (३) आज उनका बहिष्कार अन्ध-चेतना का दुर्दान्त-विक्षोभ मात्र है।" आज की चेतना को विकसित कह कर उसे पुरातन युगो की मूर्खता को न अपनाने के कारण ही अध कहना कितना संगत है ? फिर धर्म इत्यादि उपयोगी ही प्रमाणित हुए है, इतिहास से यह सिद्ध नही किया जा सकता।

यूरोप मे तो इसने अनन्त हानियाँ पहुँचाई ही भारत मे भी कम अनर्थ नही किया। ईश्वर ने जहाँ दर्शन को प्रकाशाँध orthodox बनाया वहाँ शूद्रो को पैरो से उत्पन्न कर के आजीवन पिसने का अभिशाप दे डाला। वाममार्गी, सिद्ध-वज्रयानी, राधास्वामी इत्यादि अनेक प्रकाशाध मतो ने जो वीभत्स वातावरण उत्पन्न किया वह किसी को भूला नही है। धर्म की उत्पत्ति वास्तव मे सभ्यता के विकास मे पिछडे होने के कारण हुई, (मेरा तात्पर्य उत्पादन के साधनो के अविकसित होने से है) और अनाचारो की सृष्टि मे धर्म बडा कारण हुआ—अर्थ नही। धर्म से जो कुछ लाभ पहुचाभी वह यही कि अविकसित मानव को उसने श्रद्धात्मक पृष्ठभूमि देकर असन्तुलित होने से बचाया, किन्तु आज उस अन्धता की आवश्यकता नही है और न उस अन्धता को स्वीकार ही किया जा सकता है। और वास्तव मे उसके लिए परिस्थितिया न होने से ही उसका बच पाना सम्भव नही, चाहे पन्त जी कितना ही क्यो न चाहते हो।

आगे पन्त जी ने आध्यात्मिक और भौतिक के समन्वय की सिफारिश की है, जो आ.क. की भूमिका मे भी उन्होने की थी, जब वे प्रगतिवादी थे। यह समन्वय का आविष्कार स्वामी विवेकानन्द से पहिले पहिल अधिक प्रेरित हुआ था यद्यपि मैकाले आदि ने भी इसका काफी प्रचार किया था। किन्तु यह एकदम मूर्खतापूर्ण बात है, जैसे कोई दो रासायनिक घोलो को मिला देना हो वैसे ही ये लोग भी पूर्व-पश्चिम को दो गिलासो मे भर कर मिला देना चाहते है। विचार और दर्शन परिस्थितियो मे विकसित होते है जब मनुष्य अच्छी प्रकार से समझ लेगा कि कोई परोक्ष अस्तित्व नही है और सामाजिक स्तर पर विकसित हो जाएगा तब न तो भारतीय आध्यात्म-वाद ही रहेगा और न अमरीकन भौतिकवाद और उपचेतन का विस्फोट।

पन्त जी के इस नूतन रहस्यवाद के पीछे केवल असंगत विचारधारा ही क्रियाशील नही है, इसने उन्हे राजनैतिक रूप मे प्रतिक्रियावादी बना दिया

है और मनोवैज्ञानिक रूप मे मानसिक रोगो से ग्रस्त। इसका प्रमाण उनकी स्वर्ण किरण की प्राय: प्रत्येक कविता है जिसमें उन्होने जघन्य से जघन्य तर चित्रांकित किए है, दो, तीन उदाहरण ही पर्याप्त होंगे—

वसुधा के उरोज शिखरों से खिसका चल मलयांचल,
सरिता की जाँघों से सरका, लहरा रेशम सा जल।
चिर अधखिले उरोजों पर जलते थे उड़ुगन,
रजस्राव के अभ्रक से ज्योतित भू-रज कण।
स्वर्णिम निर्झरसी रति-सुख की जंघाओं पर पेशल,
लिपटी जीवन की ज्वाला, निजदीपन करती शीतल।
अर्ध विवृत जघनों पर तरुण सत्य के शिर धर,
लेटी थी वह दामिनी सी रूचि गौर कलेवर,
गगन भंग से लहराए मृदु-कच अंगों पर,
वक्षजों के खुले घटों पर ललित सत्य कर।

इन सभी पद्यो मे पाठक देखेगे कि जघनो और उरोजो का ही वर्णन है, जो पन्त जी की केन्द्रित की कामुक दृष्टि ओर संकेत करता है। यू कालिदास ने भी शिव और पार्वती का बडा जघन्य वर्णन एक स्थान पर किया है (कुमार सम्भव के अन्तिम सर्गो में) किन्तु हम उसकी निन्दा करते हुए भी उसे उपचेतन से पीडित नही कह सकते, क्योकि उसके लिए यह एक साधारण बात थी जो राज दरबार के वातावरण से अनुमोदित थी; किन्तु पन्त जी ने प्रतीक खडे करके या अलियों-कलियो का नाम लेकर अपनी कुत्सा को सन्तुष्ट किया है—इसे ही शायद वे उपचेतन का परिमार्जन कहते हैं और इलाचन्द्र जी विस्फोट।

इससे स्पष्ट है कि उनकी नूतन रहस्यवादी विचारधारा भी कितनी असगत, अस्पष्ट तथा असम्बद्ध है।

यह मै इसलिए नही कहता कि उनसे मेरा मतभेद है, मतभेद होने पर हम दूसरे के विचारो का खण्डन कर सकते है और उन्हे गलत भी कह सकते है किन्तु असगत और अस्पष्ट नही, यदि मतभेद होने से विचारो को असगत कहा जाए तब तो मेरे विचार भी, और किसी के विचार भी किसी दूसरे के लिए असगत हो जाएगे। अत. मेरा उन्हे असगत कहने से सीधा सादा ही तात्पर्य है। एसा प्रतीत होता है कि पन्त जी की कुछ धारणाएँ है और उनके दुराग्रह पर ये किसी भी तर्क के सामने आँख मूद कर खड़े होने को तैयार है। दूसरे उन्हे इस बात का भी गर्व कि उनके विचार कभी बदले नही विकसित हुए है, हम इस अड़ी की दाद देते है।

नूतन रहस्यवादी पन्त का काव्य-स्वर्णकिरण

पन्त जी ने ज्योत्स्ना और उसके पश्चात् का प्राय सम्पूर्ण काव्य किसी न किसी बौद्धिक दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर लिखा है। यह अपने आप मे कोई काव्य-दोष नही, एक सीमा तक सराहनीय ही है, किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि विचारधारा का मानसिक परिपाक हो लेवे, नही तो कविता अपनी सार्थकता खो देगी। यदि विचारो के प्रचार के लिए पद्यो का आश्रय लिया जाता है तो आज के विकसित-गद्य के युग मे यह न समझ में आने वाली बात है। अपने विचार-प्रचार के लिए पद्य का आश्रय दो कारणों से ही लिया जा सकता है, ग्रामों मे और अशिक्षित जनता में प्रचार के लिए या उस स्थिति मे कि प्रचारक के पास काफी स्पष्ट विचार और तर्क न हो। पन्त जी की कविता या पद्य का पहिला उद्देश्य तो स्पष्ट रूप से नही है क्योकि पद्यो की भाषा और कला अत्यन्त दुरूह है, दूसरी स्थिति हो सकती है यह कहना न केवल 'छोटे मुह बडी बात' कहना ही है प्रत्युत वैसे भी न जॅचने वाली बात कहना है क्योंकि हिन्दी का एक महाकवि इतना निर्धन नही हो सकता। फिर भी उन्होने केवल बौद्धिक स्तर पर कविता की है, इससे तो किसी को मतभेद शायद ही हो।

हम काव्य की एक परिभाषा निश्चित कर चुके है, अतः उसके अनुसार हम सहज ही किसी भी पद्य का मूल्याकन कर सकते है, किन्तु पन्त जी की इन नवीन काव्य कृतियों का मूल्याकन एक झिझक सी पैदा करता है। अधिकांश कविताएँ तो निश्चित रूप से निम्नतम श्रेणी की है और शायद सभी दृष्टियो से, किन्तु कुछ कविताएँ ऐसी भी है जिनको एकदम अच्छी या बरी कविता नही कहा जा सकता। हमारे भय का एक कारण और भी

है—हिन्दी साहित्य मे कुछ ऐसे महान (न जाने उन्हे कैसे यह पद मिल गया है) आलोचक है जो किसी कवि का समर्थन करते हुए विरोधी के विरुद्ध कोई युक्ति न होने पर उसे "ऐसी महत्" कविताओ को समझने के अयोग्य ठहरा देते है, कभी कभी तो वे समझने के सर्वाधिकार और सर्व शक्तिमत्ता अपने लिए ही रिजर्व करवा लेते है। यह ठीक है कि कभी कभी ऐसी "आलोचक" भी जो छोटे मोटे लेखो मे अपनी अहम्मन्यता को कृतार्थ कर लेते है, उत्तम काव्यो को बिना किसी बात के और बिना किसी युक्ति के बुरा भला कहने लगते है, किन्तु ऐसे आलोचक प्राय प्रशंसक ही अधिक होते है, जैसे कि प्राय. पुरानी पत्रिकाओ मे भरे पडे सहस्रो आलोचनात्मक लेख जिनका शीर्षक होता है, 'पन्त का प्रकृति वर्णन', 'प्रसाद का काव्य सौन्दर्य', 'निराला की प्रखर प्रतिभा या महाप्राणता', 'मीरा और महादेवी' बताते है। दुर्भाग्य वश हमारे साहित्य मे ऐसे आलोचको की ही भरमार है और उनमे से कुछ तो प्रसिद्ध भी हो गए है। किन्तु किसी भी कवि या काव्य का समर्थन करने के लिए या विरोध करने के लिए यही कहना पर्याप्त नही है कि अभी हिन्दी के पाठको का बौद्धिक और मानसिक स्तर इतना ऊँचा नही उठा कि वे 'उक्त' कवि की कविता को समझ सके। यदि मै भूलता नही तो मेरा ख्याल है कि किसी ने पन्त जी की इन नवीन कृतियो के लिए भी ऐसा ही लिखा है, यदि नही ही लिखा तो लिखना तो अवश्य चाहिए था जिससे हमारी परम्परा को धब्बा न लगता।

हाँ, तो हमें पन्त जी की इन नवीन कविताओं का शुद्ध काव्य-दृष्टि से मूल्याकन करना है और अपने निर्णय निष्पक्षता से देने है चाहे वे कुछ भी क्यो न हो। काव्य व्यक्तिगत रुचि-सापेक्ष्य होने से निष्पक्षता को अधिक अवकाश यद्यपि नही देता, फिर भी जितना निरपेक्ष हुआ जा सकता है उतना होने का प्रयास तो हम करेंगे ही।

स्वर्ण किरण की अधिकाश कविताएँ एक विशेष प्रकार की आध्यात्मिक भविष्य-कल्पना का छन्दो मे आकलन है। भविष्य-कल्पना बुद्धि-गत भी हो सकती है और भाव गत भी; जैसे सम्पूर्णानन्द की समाजवाद पुस्तक में 'भावी समाज की कल्पना, पन्त जी की उत्तरा की भूमिका मे भावी समाज के स्वप्न-चित्र तथा अन्य अनेक लेखको के गद्य यूटापिया बोद्धिक स्तर पर है ओर प्रसाद की कामना तथा पन्त जी की ज्योत्स्ना बहुत कुछ भाव-स्तर पर। किसी कृति को बौद्धिक स्तर पर हम उसी अवस्था मे कह सकते है कि वह तर्क-प्रधान हो, भाव-प्रधान होने के लिए उस कृति का सरस, तन्मय कर लेने वाली और हमारी तर्क प्रवृत्ति को बचा कर हृदय को पकड लेने वाली होना आवश्यक है, जैसे ईश्वर को न मानते हुए भी कोई भी व्यक्ति कबीर के प्रेम रस पूर्ण पदो मे और मीरा के गीतों मे भाव-तन्मय हो सकता है। इस दृष्टि से पन्त जी की कृतियाँ किस श्रेणी में रखी जा सकती है? मेरे विचार में किसी भी श्रेणी मे नही। इस प्रकार ये न तो विचार है और न भावनाएँ, ये धारणाएँ हैं। धारणाओ को भी छन्दबद्ध देख कर हम काव्य की या काव्य-वदाभास की सज्ञा नही दे सकते चाहे उसके लिए हमें कितनी ही काव्यमय भाषा का प्रलोभन क्यो न दिया जाए, कितने ही काव्यमय प्रतीको से चर्चित ललित शब्दावली क्यो न दी जाए। एक व्यक्ति, जिसका कविता करना व्यापार ही बन गया हो, अर्थात् जो professional poet हो, उसके लिए किसी भी बात को इस ढंग से कह सकना कठिन नही कि वह बिना किसी काव्यत्व के भी काव्य प्रतीत हो अथवा कम से कम वह काव्य संज्ञा न पाकर और किसी श्रेणी मे भी स्थान न पा सके। उदाहरणार्थ स्वर्ण किरण की कव्वे के प्रति 'कविता' से एक पद्य लें—

तरु की नग्न डाल पर बैठे लगते तुम चिर सुन्दर,
को विदार के शकुनि, पार्श्वमुख, सांध्यकपिशनभपट पर!

पंखों की काली उड़ान तुम भरते नित ऋजु-कुंचित,
शुभ्र ज्योति का तुम पर कभी प्रभाव न पड़ता किंचित।
रंग नहीं चढ़ता जिस पर वह यतीव्रती है निश्चित,
समिधपाणि मैं प्रश्न पूछता, तुमको मान विपश्चित।

यदि अपने इस श्रद्धालु शिष्य की प्रशस्ति को कव्वा कही सुन पाता तो उसे शायद वहाँ भागना पडता जहाँ उसकी दृष्टि से और आवाज से बच सकता, क्योकि मिथ्या प्रशसक और 'वैसे ही' प्रशसक खतरनाक होते है। एक तरफ तो उसे शुभ्र ज्योति के भी प्रभाव से रहित कहा गया है और दूसरी ओर विपश्चित् और महर्षि भी, और यह पदवी भी जिन विशेषणों के साथ उसे दी गई है उसके लिए कोई भी जिसे वह दी जाए—लज्जित हो सकता है। यह व्यग्य नही है, क्योकि व्यग्य होने पर यह और भी उपहासा-स्पद हो जाएगी। इसे यदि हम कविता कहे तो हमे आज तक निश्चित की हुई कविता की सभी परिभाषाओ को फाड फेकना होगा, क्योकि इसमे कही भी न तो भावात्मक स्पर्श ही है और न कोई मानवीय गौरव-भावना ही। यह नही कि कव्वे के लिए भावात्मक स्पर्श न हो सकता हो; कव्वे के लिए अनेको सरस ग्राम गीत हमे सहज ही मिल सकते है, पजाबी के एक ग्राम गीत की दो पंक्तियाँ देखे—

वे कॉवाँ रुड़पुड़ जानयाँ, तूं ऐंवें ना कुरला,
तेनूं कुटकुट चूरी पॉदियाँ असीं मोटे लए घसा।

इसमें विरहिणी की स्वाभाविक विह्वलता और मुग्धता कितनी सुन्दर चित्रित हुई है, इस पर सहस्रो 'कव्वे के प्रति' कविताएँ न्योछावर की जा सकती है। स्पष्ट है कि पन्त जी के इस प्रयास को हम काव्य नही कह सकते, किन्तु इसे काव्य के अतिरिक्त और कुछ भी नही कह सकते क्योकि ऐसी उक्ति को कोई भी श्रेणी अपने यहाँ न केवल स्वीकार ही नही करेगी प्रत्युत् धिक्कारेगी भी। अतः हमे इसे काव्य सज्ञा देनी होगी ही। बस स्वर्ण किरण

में अधिकाश कविताएँ इसी प्रकार की हैं। जो कविताएँ अपनी अधिक कुशल शब्द-योजना के कारण कविता होने का भ्रम उत्पन्न करती हैं वे थोडी सी गम्भीरता से देखने पर, अथवा यू कहे कि अर्थो पर पहुँचते ही, वास्तविक रूप मे प्रकट हो जाती है। कभी कभी वर्णनीय विषय के 'महत्' होने से भी यह भ्रम हो जाता है किन्तु मूलत वह उतनी ही कवित्वपूर्ण कविता होती है जितनी कव्वे के प्रति कविता है, जैसे——

मै पूषण हूं धरती का ज्योतिर्मय ईश्वर,
स्वर्ण-रजत का चिर प्रकाश बरसाता भूपर,
जब धरती सोती तमिस्रका दे अवगुंठन,
मै सुधांशु बन भरता दिव स्वप्नों से जन मन ।

इसकी सहस्र आवृत्तियाँ करके भी हम चन्द्र के प्रति किसी रागात्मक भावना का अनुभव नही कर पाते, इससे अधिक तो "कितनी मधुर थी वह राका!" वाक्य मे ही काव्यत्व है। 'दिव-स्वप्नो से जन मन' भरने की जोशीली कल्पना, कि वे नूतन ससार बनाएँगे ही, कितनी नीरस और अस्वाभाविक है! अस्वाभाविक इसलिए कि चाँद को देख कर जन मन में कोई ज्ञान का प्रकाश भरने की कल्पना नही उठती, ऐसी सम्भावना बाकायदा कविता रचने के लिए बैठ कर ही घडी जा सकती है। इसी प्रकार——

ऊर्ध्व संचरण में रे व्यक्ति, निखिल समाज का नायक,
समदिग्-गति में सामाजिकता जनगण भाग्य विधायक,
ऊर्ध्व चेतना को चलना भू पर धर जीवन के पग,
समदिक्भव को पंख खोल चिद्नभ में उड़ना व्यापक ।

यहाँ पन्त जी ने बडी आसानी से व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के लिए सूत्र कह दिए है जिन्हें गद्य मे कहने के लिए उन्हे कितने ही तर्क देने पडते (यद्यपि उन्होंने कही कोई तर्क नहीं दिया, बस अपनी बात कह भर दी है) और तर्क न देने पर सभी उनको कोसते, किन्तु यहाँ इसका प्रश्न ही

उत्पन्न नही होता। नगेन्द्र जी और गुलाबराय जी से आचार्य उलटी सीधी व्याख्याएँ करने को बैठे ही है वे कुछ बोले सही। स्पष्ट है कि यहाँ किसी प्रकार की कोई अनुभूति नही; विचार भी इसे नही कह सकते क्योकि अपनी बात की पुष्टि के लिए कोई तर्क नही दिया गया, यह धारणा है जो स्वयं सिद्ध है, और पद्यबद्ध होकर काव्यत्व का दम्भ करती है। गिरधर कविराय की कुडलियो में इनसे कही अधिक काव्यत्व है, ऐसा मेरा विचार है।

चन्द्रोदय को देख कर कोई भी अभिभूत हुए बिना नही रह सकता; किसी की वैज्ञानिक बुद्धि भी जाग सकती है और वह चन्द्रोदय से किन्ही अन्य तथ्यो को खोज ला सकता है जो भाव जगत से नही पदार्थ जगत से सम्बन्ध रखते हो, किन्तु 'कवि' पन्त इन दोनों व्यर्थताओ मे नही उलझते, वे काव्योचित भाषा मे चन्द्रोदय के एक और रहस्य को उद्घाटित करते है, देखे—

वह सोने का चाँद उगा, ज्योतिर्मय मन सा,
वह प्रकाश का बिम्ब, मोहता मानव का मन,
स्वप्नों से रंजित करता भू का तमिस्रघन,
आत्मा का पूषण वह, मन सो जात चन्द्र मस
जिससे चिर आन्दोलित जग-जीवन का अंभस।

प्रथम रेखाकित पक्ति उपमा है, क्या सूझी थी ऐसी उपमा आज तक किसी भी कालिदास को? हमारा तात्पर्य यह नही कि यह उपमा हो नही सकती, हमारा मतलब केवल यही है कि इसमे कोई रागात्मकता नही। "वह चाँद इतना सुन्दर है कि ज्योतिर्मय मन सा प्रतीत होता है" इसमें किसी भी प्रकार की हृदय-स्पर्श करने की सामर्थ्य नही है। दूसरी पक्ति मे भी रेखाकित पंक्ति देखे। चाँद कवि के हृदय में यदि कुछ भी कम्पन उत्पन्न कर पाया होता तो कवि ऐसी बात न कहता। यहाँ कवि यह नही कह रहा कि वह चान्द का कोई आकर्षण अनुभव कर रहा है यहाँ तो वह

आध्यात्मिक प्रकाश की बात कर रहा है। फिर भी चाद को निराश नही होना चाहिए, कम से कम मानव-मन-मोहने का आश्वासन तो उसे मिला ही है। अन्तिम पंक्तियो में पिछली सारी उपमा आदि की सगति बिठाई गई है कि यह चन्द्रमस आत्मा का पूषण है और मनसो जात है। शायद ही कोई ऐसा पाठक हो जिसको पन्त जी की आध्यात्मिकता के विषय मे भ्रम हो। इससे स्पष्ट है कि इस चन्द्ररहित आध्यात्मवाद और आत्मा रहित चन्द्र का क्या मूल्य हो सकता है। 'चन्द्रमस् ओर अम्भस्' शब्द भी खूब काव्यत्व पूर्ण बन पडे है। अब जरा प्रभात के चाँद को भी देखे—

नील पंक में धँसा अंश जिसका उस श्वेत कमल सा शोभन,
नभोनीलिमा में प्रभात का चाँद उनींदा हरता लोचन।
मानवीय लगता नयनों को स्नेह-पक्व सकरुण मुख मंडल।
दिव्य भले लगता हो किरणों से मंडित निशि-पति का आनन,
गौर मांस का सा यह शशि-मुख भाता मुझको ज्योति-आवृत-मन।

केशवदास के बाद ऐसे पद्यो की आशा पन्त जी से ही की जा सकती थी। श्वेत कमल के साथ प्रभात के सफेद चाँद की उपमा तो ठीक है किन्तु 'नील पंक में धँसे अश सा शोभन' की सार्थकता न समझ मे आने वाली है। चाँद पूरा न होने से ऐसा प्रतीत होता है या हो सकता है जैसे आकाश मे उसका कुछ अश छिपा हुआ हो किन्तु नील पक मे धँसे अश वाला कमल शोभन नही लग सकता; पक की वैसे ही आकाश के साथ उपमा सुन्दर नही प्रतीत होती; दूसरे यह स्वतः प्रस्फुटित भावना मे नहीं उत्पन्न हुई, प्रयास से खोजी गई है। प्रभात के चाँद को दूसरी पक्ति मे उनीदा कहा गया है, शायद पन्त जी ने उसके रात्रि जागरण से प्रभावित होकर यह कल्पना कर ली है' किन्तु उनीदे मनुष्य की आँखें जैसी होती है वैसा चाँद नही होता, वह तब भी पूर्ण स्पष्ट होता है । स्नेह-पक्व का अर्थ शायद निर्बल और पीला हो, और तो कोई संगति हमें नहीं दीखी। इस पद्य में अन्तिम पक्ति

सबसे अधिक विलक्षण है। यदि उपमा गौर-तन प्रिया से या किसी से भी दी जाए तब तो उचित ही है किन्तु गौर-माँस से निर्जीव माँस का ही बोध होता है* सुन्दर चर्मका नही। 'ज्योति-आवृतमन' की सम्भावना का भी हमे कोई सुराग (भेद) नही मिला क्योकि आनन तो निशि पति का ही ज्योतित होता है, शायद मन दिवस-के शशि का होता हो ? इस प्रकार इस उद्धरण की प्रत्येक पक्ति में एक या दो अलकार है किन्तु कोई भी कवि की भावनाओ का सहज अग नही, आरोपित है और वह भी असगत रूप से। इसका कारण अनुभूति की कमी ही मै समझता हूँ। 'मानवीय लगता' इत्यादि मे यह बात और भी स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, क्योकि चाँद मानवीय लगने से सुन्दर नही लगता, यदि लगे तो भी यह तथ्य कथन काव्य की सीमा से बाहर है। जैसे "मानवीय मुख सा शोभन", यह उपमा यू ठीक है किन्तु केवल ठीक होने से ही कोई बात काव्य नही हो जाती। मानवीय मुख शब्द साधारणता वाचक है। चाँद के सौन्दर्य को किसी ने, और पन्त जी ने भी, इस रूप मे कभी देखा हो, इस मे मै विश्वास नही कर सकता।

इसी प्रकार हिमालय कविता भी देखे। हिमालय पन्त जी के प्रकृति-प्रेमी जीवन का चिर सहचर रहा है अत. स्वभावत· उसके प्रति इनका हृदय सहज निवेदित होना चाहिए था, किन्तु पन्त जी तो अब रहस्य साधना करने लगे है न !—इससे उनका मोहाभिभूत होना अच्छा नही—श्रेयस्कर नही। अत. वे तटस्थ भाव से हिमालय की देनों का वर्णन कर उसका धन्यवाद कर देते है—उसी प्रकार जैसे डा० एन०, सी०, जोशी का; देखे—

मानदण्ड भू के अखण्ड हे, पुण्यधरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिमकण से, घेरे मेरे जीवन के क्षण,

*** एक स्थान पर कीट्स ने प्रभात के चाँद की उपमा मृत्यु-शय्या पर पड़ी कामिनीं के मुख से दी है, जो कुछ अच्छी है, यद्यपि (मेरे विचार में) बहुत अच्छी नहीं।**

मुझ अंचलवासी को तुम ने, शैशव मे आशी दी पावन,
नभ मे नयनों को खो तब से, स्वप्नों का अभिलाषी जीवन,
कब से शब्दो के शिखरों मे, तुम्हें चाहता करने चित्रित—

यहा हिमालय के गौरव का और उसकी देनो का कितना तटस्थ वर्णन है देखे, अब वे उसे चित्रित करने के लिए कुमार सम्भव उठाते है—

सम्भव पुरा तुम्हारी द्रोणी, किन्नरमिथुनों से हो कूजित,
छाया निभृत गुहाएं उन्मद रति की सौरभ से समुछ्वासित,
ओषधियां जल जल दरियों के स्वप्न कक्ष करती हों दीपित,
ओसों के वन में मिलते हों स्तन हारों के मुक्ताफल स्मित।

यह कुमार सम्भव का अनुवाद तो है किन्तु कुमारसम्भव के श्लोको की सी काव्यत्व की सप्राणता यहा नही आ पाई, यहा तो मिथुन और रति की समुछ्वासित सौरभ भर उतर पाई है। वैसे उनका उद्देश्य है कि वे हिमालय का महत्व वर्णन करें एक महाकवि को प्रकरण मे रखकर तो वे अपनी कविता का सास्कृतिक स्तर ऊचा कर रहे है, किन्तु यह अनुवाद न केवल हिमालय के महत्व को ही घटाएगा प्रत्युत् कालिदास के महत्व को भी। अब मेघदूत के एक मेघ को भी कूर्म सानु से उतरते देखें—

अभी उतरता कर्म सानुपर वप्र-क्रीड़ा परिणत गज-घन,
वातायन से मन्द स्तनित कर, देता कवि सन्देश आर्तस्वन,
अब भी अलकें उठा देखतीं, ग्राम वधू उसको सरल नयन,
शुभ्र बलाकों के दल नभ में, कल ध्वनि भर करते अभिवादन !

इस पद्य मे द्वितीय पंक्ति मौलिक है और अन्य पंक्तियां मेघदूत की विकृति। वातायन से कवि स्तनित करता है या मेघ ? प्रतीत तो ऐसा होता है जैसे कवि स्तनित करता हो यद्यपि कहा यही गया है कि मेघ स्तनित करता है। स्वन का आर्त विशेषण भी बडा 'हृदय द्रावक'

है, किन्तु आर्त स्वन-कवि को, जो अपनी ही स्तनित से भीत हो आर्त-रुदन कर रहा है, कोई आश्रय देने वाला ही नही मिला यह कितने दुख की बात है, किसी का अचल-छोर ही मिल जाता मुँह छिपाने के लिए ? इस सारे पद्य को पढ जाइये, किसी भी प्रकार की अनुभूति हृदय मे नही होती, कोई भी चित्र नही उतरता। अनुभूति का अभाव इतना अधिक है कि शब्द-शिल्पी पन्त भी संस्कृत के श्लोकों के उन्ही शब्दो को और उसी तरह रख देते है जब कि हिन्दी मे संस्कृत के समस्त पद और बिना क्रम रखे शब्द अच्छे नही लगते। जब कवि बिल्कुल अनुभति शून्य हो और ज़बरदस्ती लिख रहा हो तब भाषा भी उसके वश के बाहर की बात हो जाती है, उद्धृत दोनो पदो मे यह बात स्पष्ट है। राजा लक्ष्मण सिह के मेघदूत के अनूदित पद, जो मूल श्लोकों के पासग मे भी नही, यदि इनके मुकाबले में रखे जाएँ तो हमारे महाकवि के लिए यह अपमान की बात होगी, क्योंकि वे अनुवाद इनसे कई गुना सुन्दर और काव्यमय हैं, इनमें तो काव्यत्व का लेश मात्र भी नही। एक पद्य और देखें—

वसुधा की महदाकांक्षा से, स्वर्गक्षितिज से भी उठ ऊपर,
अन्तर आलोकित से स्थित तुम, अमरों का उल्लास पानकर,
उरोभार से तरुण धरणि के, सोया स्वर्ग शीषधर जिस पर

पहिली पक्ति में हिमालय की उत्तुगता का वर्णन है, किन्तु इससे कुछ भी उसकी उत्तुगता की अनुभूति हृदय में होती है ? वसुधा की 'महदाकांक्षा सा' उपमा अच्छी है किन्तु इसमे वह अनुभूति नही जो हिमालय की उन्नतता को हृदय में अंकित कर दे; इस पंक्ति का दूसरा भाग स्वर्ग-शिखर से इत्यादि, हमारे कथन का कटु प्रमाण है। इसी प्रकार 'अमरो का उल्लास पान कर' में भी हिमालय के हिम-धवल हास का या शुभ्रता और हरित उत्तुंगता में प्रस्फुटित निमीलित उल्लास का कोई भी आभास

नही है, और यह उस हिमालय का स्तुति पाठ है जिसके अंचल में पन्त की सौन्दर्य-चेतना विकसित हुई थी। हिमालय के लिए कामायनी से भी कुछ इनसे मिलती जुलती पंक्तियाँ देखे--

विश्व कल्पना सा वह ऊँचा सुख शीतल सन्तोष निदान,

× × × ×

वह अनन्त नीलिमा व्योम की, जड़ता सी जो शांत रही,
दूर दूर ऊंचे से ऊंचे, निज अभाव में भ्रान्त रहीं।
उसे दिखातीं जगती का सुख, हँसी और उल्लास अजान,
मानो तुंग-तरंग विश्व की-हिमगिरि की वह सुढर उठान।

इसमे हिमालय की उत्तुगता और उल्लास तथा मूकता की अनुभूति ही नही आकाश की असीमता भी वहुत आकर्षक रूप से चित्रित हुई है। एक में इतनी प्राणहीनता है और दूसरे मे सप्राणता, इसका कारण शब्द नही अनुभूति है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पन्त जी अनुभूति से ऊपर उठ गए है। हिमालय ही नही अपनी प्रेयसी का वर्णन करते हुए भी वे इस तटस्थता का परिचय देते हैं--

वह कैसी थी ?
यह न बता पाऊंगा, वह जैसी थी।
प्रथम प्रणय की आंखों ने था उसको देखा,
यौवन उदय,
प्रणय की थी वह प्रथम सुनहली रेखा;
ऊषा का अवगुंठन पहने, क्या जाने खगपिक से कहने,
मौन मुकुल सी, मृदु अंगों में, मधु ऋतु बन्दी कर लाई थी।

इन पंक्तियों में बालिका के सौन्दर्य और कोमलता की अनुभूति कवि डूब कर अनुभव कर रहा है--यह स्पष्ट है; जैसे पहिली पंक्तियों

मे ही पहिले उसके सौन्दर्य को बताने के लिए उत्सुक होकर फिर अपनी असमर्थता को—रसमग्नता के कारण—ही कह देता है जिससे उसका सौन्दर्य और भी मधुर और सप्राण हो उठता है; प्रणयानुभूति उच्छ्वसित हो उठती है। फिर वह सौन्दर्य-वर्णन करना चाहता है और अपनी प्यार भरी उद्वेलित आँखो की उत्सुकता ही कह जाता है, तब उसे भी प्रणय की ही सुनहली रेखा कह कर वह थमता है एक क्षण के लिए; और फिर जैसे फूट पडा हो, एक प्रवाह मे ही ऊषा की लाली, खग-पिक के बोल, मुकुल की मुग्धता, मृदु अगो की मार्दवता और माधव की सुरभित तरुणाई सभी कुछ एकदम गिना जाता है। यहाँ केवल शब्द ही नही, छन्द भी बता रहा है कि कवि पूरी अनुभूति से बोल रहा है; किन्तु पन्त जी को तो करनी है रहस्य साधना, अतः वे कहते है —

> **क्या है प्रणय ? एक दिन बोली, 'उसका वास कहाँ है ?**
> **इस समाज में ? देह मोह का, देह द्रोह का त्रास जहाँ है ?**
> **तुम हो स्वप्न लोक के वासी, तुम को केवल प्रेम चाहिए;**
> **प्रेम तुम्हें देती: मै अबला, मुझको घर की क्षेम चाहिए।**
> **हृदय तुम्हें देती हूँ प्रियतम ! देह नहीं दे सकती,**
> **जिसे देह दूंगी अब निश्चित, स्नेह नहीं दे सकती।**

यह फिलासफी हमारी समझ मे नही आई। नारी का यह विद्रोह क्यों ? शायद पन्त जी कहना चाहते है कि नारी का तन चाहने वाला व्यक्ति उससे स्नेह नही पा सकता, किन्तु साथ ही वे यह भी कहते है कि स्नेह पाने वाला तन नही पा सकता, अर्थात् नारी तन एक को देगी और मन दूसरे को। हो सकता है दूसरी पंक्ति का अर्थ हो कि स्नेह का महत्व इतना अधिक है कि देह का महत्व नही रहता, किन्तु यह खीचातानी भी संगत नही बैठती क्योकि यहाँ तो वह बाँट रही है, एक को एक चीज दूसरे को

दूसरी जैसे कृष्ण ने दुर्योधन को अपनी सेना दी थी और अर्जुन को अपनत्व। और भी देखें—

तुम हो स्वप्नों के द्रष्टा, तुम प्रेम ज्ञान औ सत्य प्रकाशी,
नारी है सौन्दर्य, प्राण, नारी है रूप सृजन की प्यासी।
तुम जग की सोचो, मैं घर की, तुम अपने प्रभु मैं निज दासी,
लज्जा पर न तुम्हें आती; बन सकते नहीं प्रेम सन्यासी।

यह सब वही 'प्रणय की रेखा' कह रही है जिसके लिए पन्त जी कह रहे थे—"यह न बता पाऊंगा वह जैसी थी।" पहिली तीन पक्तियो मे अपने और मनुष्य के बीच ठीक या गलत विभाजन कर के अन्तिम पंक्ति मे वह जो फटकारती है वह इतनी दार्शनिक और रुद्र फटकार है कि सुनने वाला हक्का बक्का भी रह जाए और दौड भी जाए। पुरुष और नारी में ये जो दार्शनिक सीमा-रेखाएँ लगाई गई है उनकी भी हमे तो कुछ समझ नहीं आई। शायद इसी से पुरुष (रहस्यवादी पन्त जी) अब छुटकारा पाने के ख्याल से कहता है—

विदा विदा
शायद मिल जाएं यदा कदा,

× × ×

मैं मौन रहा, फिर स्वतः कहा,
बहती जाओ, बहती जाओ, बहती जीवन-धारा में,
शायद कभी लौट आओ तुम, प्राण ! बन सका यदि सर्वहारा मैं।

सर्वहारा बनने का उनका क्या अर्थ है यह तो वही जाने किन्तु यहाँ बिना प्रकरण और बिना संगति के इसका प्रयोग आपत्तिजनक है। इसका एक अर्थ हो सकता है, जब स्त्री सर्वहारा थी तब पुरुष प्रेमाभिलाषी और शरीराभिलाषी था, अब पुरुष होगा तो शायद स्त्री उसका स्थान ले ?

इस प्रकार कुछ पहिली पंक्तियो के अतिरिक्त सारी कविता अनुभूति-शन्य (वास्तव मे अनुभूतिशून्य कहना भी इसके लिए उपयुक्त नही क्योकि 'शून्य' से कुछ तो अनुभूति का आभास मिलता ही है) और निरर्थक है।

एक 'इन्द्र धनुष' शीर्षक वाली कविता के लिए आपका क्या अनुमान होगा ?—विशेषतः हिन्दी के एक मात्र प्रकृति-सौन्दर्य के कवि से ? स्वभावतः आपका हृदय वर्षास्नात ,अमराइयो के ऊपर खिलते सतरगी वैभव को कवि के शब्दो मे चित्रित देखने के लिए उतावला हो रहा होगा, तो सुनें—

असतोमा सद्गमय,
तमसोमा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतंगमय।
आर्ष मंत्र के ज्योति तरंगित ये उदात्त स्वर,
ध्वनित आज भी अन्तर्मन में दिव्य स्फुरण भर,
असत तमस औ मृत्यु सलिल में हमें पार कर,
सत्य, ज्योति अमृतत्व धाम दे जीवन ईश्वर !

कोई भी इस आर्ष मत्र की इन्द्र धनुष के सौन्दर्य वर्णन के जवाब में, आकाक्षा नही कर सकता था। यदि इस असगति और उससे उत्पन्न होने वाली खीझ को परे भी रख दें तो भी उपनिषद् के उस मत्र का ऐसा भोडा और उससे भी दुरूह अनुवाद कोई नही चाह सकता। दूसरे, कोई भी समाज अपने कवि से नीरस प्रार्थनाए और अनमॉगे उपदेश नही चाहेगा, क्योकि वह सौन्दर्य-बोध का मूल्य जानता है और यह भी जानता है कि कवि प्रतिभा-शून्य हो जाने पर ही इस ओर आकृष्ट होगा। किन्तु कोई चाहे या न चाहे पन्त जी का यह जीवनहीन 'जीवननिर्माण*,' चलता

*कविता का उपशीर्षक।

हो रहेगा और इन्द्र धनुष को आखिर लज्जित होकर छिपना ही होगा, देखें वे आगे और भी उत्साह से कहते है——

आओ सोचें द्विपद जीव, कैसे बन सकता मानव,
शक्ति मत्त होकर भूदेव न बन जाए भू दानव।

द्विपद इन बेतुके उपदेशो से मानव नही बनेगा, मानव बनने के लिए तो ठोस योजना और अमित सौन्दर्य-बोध होना चाहिए। इन उपदेशो से तो राह पर बैठकर गाने वाले भिखारी के नीति के पद ही कहीं अधिक स्वाभाविक, सरस और जातीय-सस्कृति से अनुप्राणित होते है। द्विपद जीव अपनी काव्य चेतना की सस्कृति शब्द की रटन्त पर बलिदान नही करेगा। हिमालय का न केवल हमारे इतिहास और भूगोल में ही एक बड़ा महत्व है प्रत्युत यह हमारे राष्ट्रीय वैभव का आधार और प्राकृतिक सौन्दर्य का नन्दन भी है। इसी प्रकार इन्द्रधनुष का भी हमारे कृषि-प्रधान देश के ग्राम-काव्य में बड़ा मधुर स्थान है; कोई भी दूसरे साहित्य का पाठक यदि हमारे महाकवि की इन दोनों कविताओ को देख बैठे तो वह हिन्दी साहित्य को पुन पढने का दु.साहस नही करेगा, यदि वह करे भी तो उसे हिमालय के श्रृगो के सौन्दर्य को समझने के लिए वेदान्त भी पढना होगा——

वह निर्विकल्प चेतना श्रृंग, उठ स्वर्ग-शिखर से भी ऊपर,
अन्तर्गौरव में समाधिस्थ, अपनी ही सत्ता पर निर्भर।

छायावाद ने हमारे काव्य को काफी निर्बल और दुरूह बनाया, अब यदि यह नूतन रहस्यवाद भी कुछ फल-फूल सका तो हमारे काव्य को कुछ दशाब्दियों और सत्काव्य से वंचित रहना होगा। उपर्युद्धृत पद्य मे हिमालय हिमालय न रह कर वज्रयानी अवधूत बन गया है।

स्वर्ण किरण में शारीरिक सौन्दर्य का काव्य

अब हम कुछ शारीरिक सौन्दर्य के चित्रो को भी देखेगे। हमारी इस पिछली आलोचना से स्वर्ण किरण की जो रूपरेखा पाठको की बुद्धि मे बन सकती है, उसको स्वर्ण किरण का पूर्ण प्रतिनिधि नही कहा जा सकता, हाँ, पच्चानवे प्रतिशत अवश्य कहा जा सकता है। आगे हम इस पॉच प्रतिशत को भी देखेंगे किन्तु पच्चानवे प्रतिशत के साथ ही। उसके पश्चात् स्वर्ण किरण की दो-तीन बडी-बड़ी कविताओ का सिंहावलोकन पृथक् रूप से करेंगे जिससे उनके साथ पूरा न्याय किया जा सके।

शारीरिक सौन्दर्य के चित्रण मे पन्त जी की दृष्टि प्रायः उरोजो और जघाओ तक ही सीमित रही है। इस प्रकरण मे प्रवेश करने के लिए 'नारी पथ' से चलना अधिक ठीक रहेगा क्योकि इस साम्राज्य का एकच्छत्र स्वत्व उसी के पास है। इस कविता मे यद्यपि अग-चित्रण मुख्य नही, तो भी वह बहिष्कृत भी नही है, देखें--

हाँ सचमुच,
एक अंगना से सुभग, लगता अंगों का जग,
शोभा सरसिज पग।
सौ सौ उगते शशिमुख, देते आँखों को सुख,
मिटा मोह-निशा-दुख।
ममता अधिकार नहीं, मोह तिरस्कार नहीं,
चुम्बन या परिरम्भण,
केवल प्रतीति प्राण, हृदयों का प्रीतिदान,
युवक-युवति है समान।

रेखाकित पक्तियां नारी के अग वर्णन मे, जो पन्त जी ने आगे किया है, प्रवेश करने से पूर्व दिए गए निर्देश समझने चाहिए। 'देते आँखों को

सुख' में कोई चमत्कार नही; इससे पहिली पक्ति अच्छी होती यदि उसके बाद यह पंक्ति न आती। 'आँखो को सुख देते हैं' यह बिल्कुल साधारण बात है; साधारण बात जब अनुभूति-प्राणता के कारण साधारण हो तब तो वह बहुत अधिक प्रभावशाली होती है, किन्तु इस तरह से यह अनुभूति-हीनता की ही द्योतक होती है। जैसे मीरा के अधिकांश गीत बिल्कुल सीधे और साधारण होने के कारण ही आकर्षक है। उद्धृत कविता की दूसरी रेखाकित पंक्ति पहिली चमत्कारहीनता को असगत भी बना देती है। आगे 'ममता अधिकार नही' इत्यादि तीनो रेखाकित पक्तियाँ देखे और फिर सारी कविता का अर्थ लगाएँ—शशिमुख केवल देखने के लिए हैं उनसे न तो ममता अभीष्ट है और न तिरस्कार, चुम्बन या आलिंगन केवल प्राणों के आश्वासन के लिए ही होने चाहिएँ।' सम्भवत: इसका एक और सूक्ष्म अर्थ होगा कि "मनुष्य को नारी के तन पर ही न रुक कर उसके आत्मिक सौन्दर्य को भी देखना चाहिए और इस प्रकार शरीर-मोह को छोडकर सूक्ष्म-प्यार के आदान-प्रदान से समान धरातल पर परिणीत (सम्बद्ध) होना चाहिए।" यही अर्थ है, मै यह नहीं कह सकता, यह मेरा अनुमान भर है। किन्तु यह स्पष्ट है कि यह बहुत दुरूह है और यह भी कि अनुभूतिहीन है अत सराहनीय नही है।

अब हम अंगवर्णन के कुछ चित्र देखेगे, जो अपनी भाषा-चित्रण शैली में अपूर्व है। स्वर्ण-निर्झर (उपशीर्षक सौन्दर्य-चेतना) से एक चित्र ले—

सुप्त स्वर्ण चक्रांगों से सुकुमार उरोजों पर स्थित,
शुभ्र सुधा के मेघों की जाली उठती गिरती नित,
उठे कामना शिखरों से, स्वर्गिक श्वासों से स्पन्दित,
उन दो रजत प्रीति-कलशों पर स्वर्ण-शिखाएँ वेष्ठित।
ज्योति भँवर सी सुघरनाभि, प्रिय रजत फुहार उदर मे,

स्वर्ण वाष्प का न लटका जघनों के माणिक सर में,
रजत शान्ति आत्मा के नभ की..........

स्वर्गिक श्वासो से स्पन्दित स्वर्ण चक्रागो से प्रीति-कलश उरोज, जिन पर शुभ्र मेघो की उठती गिरती जाली उन्हे और भी स्पष्टता और दर्शनीयता दे देती है; उदर में रजत-फुहार-सा सौन्दर्य और मार्दव और ज्योति भँवर-सी सुघड नाभि, माणिक सर से स्पर्श-कोमल, नयन—सुखद सुघड जघन जिन पर स्वर्णिम वाष्प के घन लटके हों...... इत्यादि वर्णन सस्कृत और हिन्दी की रूढ उपमाओ से कही अधिक सुन्दर है, इसमे सन्देह नही, शब्द गुफन भी अद्वितीय है। इसी प्रकार ऊषा (उप-शीर्षक मनःस्वर्ग) में भी उन्होने अपने रहस्यवादी आत्म-सुख को अधरो और जंघाओ मे विहार करवाया है, देखें—

आई आशा—
चिर अधखुले उरोजों पर जलते थे उड़गन,
रजस्राव के अभ्रक से ज्योतित भू रजकण।

यहाँ अंग-वर्णन से वीभत्स तृप्ति की प्रवृत्ति ही अधिक है क्योंकि 'उरोज' को चिर अधखुले रख कर उन पर वासना के उडगन प्रज्वलित किए गये है न कि अग-वर्णन किया गया है। रज-स्राव ने वीभत्सता को सीमा तक पहुँचा दिया है। सत्य और मुक्ति का वीभत्स-वर्णन हम पिछले अध्याय मे देख ही आए है। ऐसे चित्रो को सौन्दर्य वर्णन के अन्तर्गत नही लिया जा सकता। खैर, एक सुन्दर चित्र और देखे, जो मूलतः वही है। यह सेवा का चित्र है—

जुगनुओं के ज्योति मंडल से घिरा मुख शान्त,
तारिकाओं की सरसि सा स्वप्न स्मित उर प्रान्त,

इन्दु विगलित शरद घन सा वाष्प का तन कान्त,
सजल करुणा थी खड़ी, ज्यों इन्द्र धूम-दिनान्त,
अतलनील अकूल नयनों का द्रवित नीहार,
अश्रु-फेनों से स्फुटित स्पन्दित उरोज उभार,
आर्द्र सौरभ श्वास, स्मित हिम त्रस्त हरसिंगार,
स्खलित होते स्रोत भू से सुनचरण झंकार।

यह चित्र काफी से अधिक सुन्दर है, शब्द चयन उस से भी अधिक आकर्षक। उर प्रान्त की तारिकाओ की सरसि से उपमा वहुत ही सुन्दर है और स्वप्न-स्मित विशेषण से उसकी मुग्धता और कोमलता और भी निखर उठी है। 'तारिकाओं की सरसि' गौर शुभ्रता के साथ-साथ कान्त उज्वलता की भी द्योतक है, इन्दु विगलित शरद् घन और वाष्प विशेपण भो अपूर्व है, चन्द्रिका स्नात शरद् घन कितने गौर शुभ्रतन होते है और कितने मसृण, इसे जिसने देखा हो वही जानता है। नयनो का अतल-नील-अकूल विशेषण भी अद्वितीय है, शायद उससे भी अधिक; और आँसू की द्रवितनीहार से उपमा भी काफी अच्छी है। इस सौन्दर्य की चरण-झंकार से भू से स्रोतों का स्खलित न होना ही आश्चर्य की बात है। किन्तु यहां अश्रु-फेनों की सार्थकता समझ मे नही आई, क्या अपने ही वैभव की उन्मत्तता में ये आँसू बह निकले है? ऐसा लगता है पन्त जी ने 'स्पन्दित उरोज उभार' को अधिक स्फुट करने के लिए ही आँसुओं को स्थान दिया है। फिर इस चित्र की सात्विक 'सेवा' से समता ही क्या है?

मन:स्वर्ग मे उरोजो और जघनो का काफी वर्णन है जो अनावश्यक आवृत्ति प्रतीत होता है। इनमें कुछ चित्र अच्छे है जैसा कि हम ऊपर के उद्धरणों में देख ही आए है, किन्तु अधिकतर चित्र वीभत्स ही हो गए है और कुछ असंगत भी, जैसे—

स्वर्णिम निर्झर सी रति सुख की जंघाओं पर पेशल,
लिपटी जीवन की ज्वाला निज दीपन करती शीतल ।

यहा जघाओं की उपमा स्वर्णिम निर्झर से कुछ सगत नही जँचती क्योकि निर्झर एक दूसरे प्रकार की कल्पना जगाता है, हा, 'रति सुख की' विशेषण को सार्थक करने के लिए चाहे इसका प्रयोग कर ले । 'रति सुख की पेशल' विशेषण मेरे विचार मे वीभत्सतम है और जीवन की ज्वाला-निज दीपन उस पर करके तो इस वीभत्सता को और भी असह्य बना देती है । कुछ सुन्दर वर्णन भी वास्तव मे इन्ही प्रकरणों मे हैं अत. अपने आप में सुन्दर होने पर भी सराहनीय नही है । फिर पन्त जी तो 'हृदयो के प्रीति-दान' को ही देय समझते है और देह-मोह से घृणा करते है ? तो भी देह का यह वीभत्स मोह क्यो ? इस प्रकार अच्छे होते हुए भी ये चित्र सराहनीय न हो सके, यह दुख की बात है ।

स्वर्ण किरण की कुछ फुटकल कविताएँ

स्वर्ण किरण मे कुछ कविताएँ ऐसी भी है जो साधारण रूप से अच्छी हैं यद्यपि बहुत अच्छी नही। उनका अच्छापन भी स्वर्ण किरण की अन्य कविताओ की सापेक्षता मे ही है, नही तो वैसे वे किसी भी गम्भीर जीवनानुभूति या सौन्दर्यानुभूति से अनुप्राणित नही है, न किसी महत् सास्कृतिक प्रतिनिधित्व से गौरवान्वित, बस है केवल सुन्दर शब्द-चयन और उससे उन्पन्न काव्यत्व का भ्रम । स्वर्ण किरण की पहिली ही कविता अभिवादन, जो इस प्रकार की कविताओ का ठीक निदर्शन है, से कुछ पंक्तियाँ देखे—

हँसी लो स्वर्ण किरण, शिखर आलोक-वरण,
विचरती स्वर्ण किरण, धरा पर ज्योति-चरण,
जगे तरु नीड़ सकल, खगों की भीड़ विकल-

पवन में गीत नवल, गगन में पंख चपल,
अध खुले स्वप्न-नयन, चूमती स्वर्ण किरण ।

यहाँ प्रभात के कर्म-प्रेरणा से भरे प्रकाश का और दूर दूर तक आकाश में अरुण-किरणो से पख चुडलाते मधुर-रव खगबालों का, चहचहाते पसिशावको का और जागरण के सौन्दर्य का काफी अच्छा वर्णन हो पाया है । तीसरी और उसके आगे की पक्तियाँ तो बहुत ही मधुर और यथार्थ भी है । इसी प्रकार हरीतिमा (उपशीर्षक प्राण) कविता से भी एक दो पद्य देखें——

ओ हरित भरित घन अन्धकार,
तृण तरुओं में हँस हँस श्यामल,
दूर्वा से भू को कर कोमल,
ढँक लेते जीवन को प्रतिपल,
तुम प्राणों का अंचल पसार ।
जग-जीवन को कर परिशोभित, इच्छाओं के स्तर स्तर हर्षित,
रागों द्वेषों से चिर मंथित, निस्तल अकूल तुम दुर्निवार ।

इसका शीर्षक हरीतिमा तो ठीक है किन्तु उपशीर्षक 'प्राण' न जाने क्यों रखा गया, उसकी सार्थकता यहाँ कोई नही बैठती । इन उद्धृत पद्यों में पहिला पद्य कुछ अच्छा है क्योकि इसमे थकित जीवन हरीतिमा के शीतल अचल में सचमुच ही विश्राम चाहता प्रतीत होता है, यद्यपि अनुभूति की विशेष तीव्रता नही है । किन्तु दूसरा पद्य एकदम नीरस है क्योंकि कवि प्राणो के लिए जो कुछ भी कह रहा है, उसमे अनुभूति नही केवल पूर्वानुभूति की स्मृति भर है, यदि इसे अनुभूति कहा ही जाए तो । इसी से शब्दों में कुछ अधिक प्रगल्भता है, 'इच्छाओं के स्तर स्तर हर्षित' का कोई ठीक अर्थ नहीं दीखता । पहिले तो इच्छाओं के स्तर स्तर कहना ही अच्छा नही लगता फिर 'हर्षित' का तो कोई भी अच्छा अर्थ नही

खोजा जा सकता। इसी प्रकार 'परिशोभित' भी काव्यानुभूति से रहित-सा अर्थ देता है।

वास्तव मे पन्त जी जहाँ कुछ अच्छे शब्द जोड देते है वहाँ ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह कविता ही है किन्तु वास्तव में उसमे अनुभूति का एक कण भी नही होता। वे कविता लिखने उसी प्रकार बैठते है जैसे कोई अन्य कार्य करना हो, कविता की प्रेरणा होने पर नही। मुझे आश्चर्य होता है कि पन्त जी ऐसी कविताओ को प्रकाशित करवाने को तैयार क्यों हो गये ? और उससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है जब इस प्रकार की कविताएँ ही उनके साहित्य का अधिकाश हों। 'नीलधार', शीर्षक कविता को उदाहरणार्थ लें, इसका उपशीर्षक है 'विश्व-यमुना'; अब आप पहिले ही आसानी से कल्पना कर सकते है कि इस कविता मे कवि पन्त यमुना की नील धारा से प्रभावित नही है प्रत्युत् एक जबरदस्ती की कल्पना के बल पर रूपक बाँध रहा है, इसका एक ही परिणाम हो सकता है और वह देखें—

ओ नील धार, अति दुर्निवार !
रवि-शशि से स्वर्ण-रजत चुम्बित,
जीवन के स्वप्नों से ज्योतित,
तुम गलित नीलिमा सी बहती, आकांक्षा का हर अंधकार।
प्राणों के सुख से आन्दोलित, चिर रभस कामना से मुखरित,
युग युग की विश्व चेतना तुम, उच्छ्वसित उरोजों का उभार !

इस कविता में शब्द-चयन साधारणतः मधुर है, किन्तु अर्थ ? अनुभूति न होने से कवि को ऐसे ही तुक्के चलाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है, अतः इसका निर्रथक होना ही स्वाभाविक है। पहिले तो कुछ असंगत शब्द ही देखें—'स्वप्नों से ज्योतित', स्वप्नों से ज्योतित होने की

आज तक किसी ने भी कल्पना या अनुभूति की हो, ऐसा सभव नहीं दीखता ! किन्तु पन्त जी को स्वर्ण किरण का भी तो असर दिखाना ही है न ! जीवन की यमुना आकांक्षा के अधकार (अज्ञान ? पीडा या क्या ? कुछ पता नही) को हरने से नील तो हुई किन्तु सूर्य-चन्द्र के स्वर्ण-रजतातप की फिर कैसे प्रतीकात्मक संगति बैठेगी ? यदि इसका सीधा अर्थ ले तो पहिली पक्ति मे भौतिक यमुना हो जाएगी और तीसरी मे आध्यात्मिक। 'उछ्वसित उरोजो का उभार' भी किसी प्रकार की सगति यहाँ नही रखता क्योंकि विश्वचेतना के या यमुना के कोई उरोज पन्त जी की आकाक्षा के अधकार के हरने के लिए नही है ? यदि पन्त जी नील धार या विश्व चेतना का नारी रूप में ही चित्रण करते तब भी कुछ सगति बैठ जाती, किन्तु यहां तो केवल उसे 'उछ्वसित उरोजो का उभार' सज्ञा दी गई है। आगे के पद्यो मे शब्द-चयन बहुत सुन्दर है, किन्तु केवल शब्द चयन ही है, देखें—

फेनों के क्षण कर स्वप्न ग्रथित, दिशि के तट जीवन से प्लावित,
तुम अतल अकूल तरंगितनित, ज्यों स्वर्गमर्त्य के आर पार।
ऋजु-कुंचित जग-जीवन का मग, धर ऊर्ध्व, विषम समर्नातत पग !
नभ की हर कान्ति, मरुत का जव, भू पर करती प्रणयाभिसार।

यहा दूसरे पद्य के शब्द तो बहुत ही अच्छे है और नाचते से चलते है किन्तु अपेक्षाकृत अर्थ पहिले के सुन्दर है, यद्यपि है दोनों एक ही कवि और कविता के अंश। अनुभूति से दोनो ही वंचित है—अतः पाठक जब तक शब्दों में अँटका रहेगा तब तक तो ये अच्छे ही नही बहुत अच्छे भी लगेंगे, किन्तु जब ही उसने इसमे अर्थों के सौन्दर्य की ओर झाँका उसे निराशा के अतिरिक्त कुछ नहीं मिल सकता। ऊर्ध्व-विषम-सम का अर्थ है आध्यात्मिक और भौतिक, जो पाठक की कल्पना को सहज ही चक्कर में डाल देने को काफी है।

स्वर्ण किरण की फुटकल कविताओ मे ये ही अधिकतर अच्छी हैं, कुछ और भी पद्य उद्धृत किये जा सकते है जो अधिक नीरस न हो किन्तु यह व्यर्थ विस्तार ही होगा, पाठक इतने से ही शेष का भी अनुमान लगा सकते हैं ।

इसके पश्चात् हम स्वर्ण किरण की दो बडी कविताओ 'स्वर्णोदय' और 'अशोक वन' का काव्य-सौन्दर्य देखने का प्रयास करेंगे, जो इस सग्रह की सब से महत्वपूर्ण कविताएँ है ।

स्वर्णोदय

स्वर्णोदय, उपशीर्षक जीवन-सौन्दर्य, कविता में पन्त जी ने मानव-जीवन की चार अवस्थाओं शैशव, कैशोर्य, यौवन और वृद्धत्व का काव्य-मय चित्रण किया है और इस वर्णन के पश्चात् नव-संस्कृति के जागरण का । इसमे अनेक स्थल तो नीरस और थोथे हैं, और कही कही पन्त जी के ऐसे विश्वास देखने मे आते है जो मनुष्य की नितान्त शैशवावस्था के कुतूहल में होते है, फिर भी यह कविता बुरी नही । क्योंकि यह कविता वर्णनात्मक है इसलिए इसमे हम अनुभूति की वह तीव्रता नही माग सकते जो गीतो मे होती है । वर्णन में जितनी अनुभूति और सरसता अपेक्षित है यद्यपि उतनी भी इस कविता में नहीं है और कुछ पृष्ठों के पश्चात् यह नीरसता अपनी सीमा पर पहुँच जाती है, तो भी सब मिला कर साधारण रूप से यह कविता सह्य ही है ।

जैसा कि इस के उपशीर्षक से स्पष्ट है यह जीवन-सौन्दर्य का दर्शन है किन्तु यह सौन्दर्य मनुष्य जीवन का है जीवन मात्र का नही । शैशव कितना चपल और बेपरवाह होता है ! कैशोर्य मे कुतूहल और कुछ 'समझदारी' उसे और भी मधुर बना देती है; यौवन मे भविष्य निर्माण की महत्वा-कांक्षा और कण-कण को सौन्दर्य और माधुर्य से आप्लावित कर देने की

चाह तथा आदर्शों के प्रति दृढता सृजन-प्राण आकाक्षा में स्फूर्ति हो उठती हैं, ओर वृद्धत्व इस आकालन को संश्लेषण-विश्लेषण द्वारा फलीभूत करता है । इन चारों अवस्थाओं का इसमे वर्णन है—कही प्रभावपूर्ण और कही साधारण । कविता प्रारम्भ ही शैशव के यशोगायन से होती है, देखें;–

ओ माँ, वह रोता है उसको स्तन्य पिलाओ,
वह अशक्त-असहाय, उसे निज अंक लगाओ ।
लोरी गाओ, लोरी गाओ, फूल-दोल में उसे झुलाओ,
निंदिया की चल परियो आओ, मुन्ना का मुखचूम सुलाओ,
स्वप्नों के छाया पंखों को, लालन के ऊपर सिमटाओ ।

'हाँ, मनुष्य की साकार भविष्य कल्पना का यह स्वागत होना ही चाहिए; स्वर्ग-लोक की परियां उसका मुह चूमकर उसे पावन-प्यार का सौन्दर्य क्यों न दिखाए ? फूलों के झूले उसे सुरभि और मार्दव से भावना का सौन्दर्य और व्यापकता तथा जीवनानुभूति का माधुर्य क्यो न दे ?—वह सृष्टि की समुन्नतम चेतना के प्रतीक मानव का शिशु है—उसका भविष्य है !' आगे शैशव का सौन्दर्य वर्णन है, कुछ पद्य देखे—

दुधमुंही सरल मधुर मुस्कान,
न जाने कहती किन अनजान,
रहस्यों के आख्यान ।
कौन अप्सरियाँ आ चुपचाप,
कर रहीं उस से मौनालाप,

इसमें शैशव का रूप सौन्दर्य नहीं भाव सौन्दर्य ही प्रधान है । यह पद्य उतना अच्छा नही बना पाया जितना आवश्यक है; इसका कारण इसकी रहस्यमयता है । थोड़े से ध्यान से पढ़ने पर ही ज्ञात हो जाएगा कि कवि शिशु के न तो शैशव पर मोहित है और न उसकी मधुर सरल मुस्कान

पर, प्रत्युत कुछ लिखने के लिए एक ऐसे रहस्य-सौन्दर्य की कल्पना करता है जो अनुभूत न होकर चिन्तन है। रहस्यानुभूति नही हो सकती यह मेरा अभिप्राय नही प्रत्युत यह कि यहा अनुभति नहीं है। शैशव की मुस्कान में किन्ही रहस्याख्यानो को खोजना बताता है कि हमारे साहित्य की छायावादी प्रवृत्तिया कितनी अस्वाभाविक थी; उन्हे सीधी सी बात के पीछे भी कुछ और ही दीखता था—और वास्तव मे कहना चाहिए कि वे ज़बरदस्ती देखते थे। यह कविता पल्लव की भावना का ही पुनरकन है, देखे—

खेलती अधरों पर मुस्कान, पूर्व सुधि सी अम्लान,
सरल उर की सी मृदु आलाप, अनवगत जिसका गान।

× × ×

कौन तुम गूढ़-गहन, अज्ञात, अहे निरुपम नवजात ?

इस 'अनवगत-गान' अपलाप की दाद देना हिन्दी साहित्य मे ऐसी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना है जो काव्य को केवल उलटबॉसियाँ बना दें; कहीं भी सामान्य-अनुभूति नही, मानवीय हृदय नही; ये कवि सदैव असाधारण (Abnormal) मानसिक स्थिति मे रहने का हठयोगी अभ्यास करते रहे है। स्वर्ण किरण के इस उद्धरण मे और पल्लव की कविता में कोई अन्तर नही है, हॉ दुरूह शब्द-योजना अवश्य कुछ कम है। इस प्रकार स्वर्ण किरण का यह उद्धरण इसलिए निरर्थक नही कि यह असामान्य कल्पना का दुस्साहस है प्रत्युत इसलिए भी कि यह आवृत्ति है अनुभूति नही, पद्य और देखें—

दीपशिखा के लिए वह मचल, नचा रहा निज कोमल करतल,
चूं चूं करती चिड़िया सुन्दर, फूल पॉखुड़ी उड़तीं फर-फर,
उन्हें बनाने को निज सहचर, पास बुलाता वह इंगित कर,
सोच रहा ज्यों एकटक नयन, मां माखी क्या कहती भन भन,
कानों में भर गुंजन।

इसमें बालक की क्रियाओ का बडा स्वाभाविक वर्णन है, चिडिया और तितली को अपने पास बुलाने की उत्सुकता तो बहुत ही स्वाभाविक है; इसी प्रकार मक्खी की गूज को सुनना (और कभी कभी मुस्काना भी) बहुत ही सुन्दर यथार्थ है। किन्तु इस यथार्थ वर्णन मे वह तन्मयता नही जो इसे सुन्दर बना सकती है, जैसे सूर के पद और बहुत सी लोक-प्रचलित लोरियाँ होती है। फिर भी यह पद बुरा नही।

कैशोर्य वर्णन में रहस्यमयता का तो आग्रह नही है किन्तु कुछेक पद्य अस्वाभाविक, नीरस तथा व्यर्थ अवश्य है, कुछ अच्छे भी है; जैसे—

चहक रहे अब मुखर बाल खग, रोके रुकते नहीं चपल पग,
सहज हर्ष से उमँग रहे अँग, लड़भिड़ रो हँस रहते ये सँग,
इनके हास लास रंगों से, नव अंगों से नवभंगों से,
रंग-प्राण बन जाता है फिर क्षण-भंगुर जगजीवन का मग।

इसमें कैशौर्य की दुर्ललित चुहुलता और निश्छलता का वर्णन काफी सुन्दर है और अंतिम पक्ति मे तो जैसे ससार की निराश करने वाली वास्तविकता और उन पर खिलती कैशोर्य की बेपरवाह, उल्लसित, अकारण हर्षित मुग्धता को कहने के लिए कवि उत्सुक है। किन्तु जो सौन्दर्य सूर के पदों मे है वह—उसका शताश भी इनमे नही। इसका कुछ कारण यह भी है कि पन्त जी का मुख्य विषय यहाँ कैशोर्य वर्णन नहीं बल्कि जीवन में निहित चेतना का उद्घाटन है। निम्न पद्य मे कुमार की बुद्धि-भावना आदि के लिए भी देखे—

बोध निहित था क्या उर भीतर ?
अथवा व्याप्त विश्व में बाहर ?
छिपा बिन्दुओं मे क्या सागर ? इत्यादि।

इन वितर्कनाओ का कोई काव्यगत मूल्य नही, तो भी ये कविता मे अनिवार्य रूप से सम्बद्ध है। किशोरों के एक गीत से भी कुछ पक्तिया दखे उनमे काफी स्वाभाविकता है, ऐसा मेरा विचार है—

डम डम डमक कलन्दर आया,
बन्दर घुड़की छोड़ो भइया डमरू जगाया।

संध्या बूढ़ा ने सूरज का गेंद छिपाया, दादी ने आंगन भर मे सेन्दुर बिखराया
ऐंठ दिखाते थे सब को अॅकड़ू भइयाजी, गीदड़ने अपनी चालों से खूब छकाया

इसमे ग्रामीण बालको की मस्ती और प्रकृति से भोली परिचिति का बहुत ही स्वाभाविक चित्रण है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे उन्ही का गीत कविता में रख दिया गया हो। भाषा भी उसी प्रकार की 'ग्रामीण'। ग्रामीण किशोरों के लिए अंकड़ू की ऐंठ और गीदड का छकाना उतने ही आत्मीय होते है जितने उनके अपने खेल।

यौवन के भी एक-दो सुन्दर चित्र देखे। चारो ओर मादकता की सुरभि उच्छवसित हो रही है और अनग नव सृजन की कामना से प्रकृति मे वसन्त बन कर जाग उठा है, कलियो ने अपने नवल वक्ष खोल दिये है और वल्लरियों की गात्रयष्टि उद्वेग से सिहर उठती है, और—

न रोके रुकते चपल नयन,
मीनतिरते, उड़ते खंजन।
अधर से मिलते मधुर अधर,
मुग्ध कलि-अलि करते चुम्बन !

अब ज़रा मनुष्य का सौन्दर्य भी देखें—

आज भ्रू लतिकाओं में भंग, प्रतनुतन शोभा प्रीति तरंग,
गढ़े किस शिल्पी ने ये अंग, निछावर निखिल प्रकृति के रंग।

सहज चार आँखें होतीं, अपलक रह जाते लोचन,
नव प्रवाल अधरों में बहती, मदिरा-ज्वाला मादन,
प्राणों की चिरचाह फूट बनती पुलकों के बंधन,
कौन भूल सकता है रे, नवयौवन का सम्मोहन !
खुल पड़ता उर का वातायन, बहती प्राण-मलय चिरमादन,
कहीं दूर से आता भीतर, प्रणयाकुल पंचम पिक गायन ।

इसमें यौवनोदय पर अंगो का स्वस्थ विकास और धमनियो में उष्ण-रक्त प्रवाह से उत्पन्न होने वाली मस्ती, हृदय में अकारण पीडा और अज्ञात चाह, प्रत्येक वस्तु से आलिगन के हाव और चितवन में चपल मुग्धता, यह सब बहुत सुन्दर चित्रित हुआ है, शब्द-गुफन भी बहुत ही कलापूर्ण हैं । किन्तु यह यौवन केवल मौन-कामनाओ तक ही सीमित नहीं, इसमें आदर्शो के लिए बलिदान की भावना भी है—

बदलेंगे हम चिर विषण्ण वसुधा का आनन,

अब वार्धक्य का भी एक चित्र देखें—

शान्त रे ज्वलित तड़ित नर्तन, शान्त अब धूम मेघ गर्जन,
शान्त अब प्राणों का आवेश, बरस भूपर भर नवजीवन ।
आज शुचि सौम्य शरद आनन, नीलिमा नत निर्धूलि गगन,
चेतना सी ज्योत्स्ना से मुक्त, दुग्ध प्लावित जग के दिशि-क्षण ।
स्वच्छ आदर्शों से सरिसर, मनोदृग् सीस्मित कुँई सुघर,
कृतांजलि अब प्रभात के पद्म, प्रौढ़ता का भव रहा निखर !

इसमें शांत वार्धक्य का, जिसमें मनुष्य की उमंगें शात हो जाती हैं और गत जीवन का लेखाजोखा कर मूल्यांकन करती हुई बुद्धि जीवन को सार्थकता देती है, झुरियों में जीवन दर्शन के लेख शैशव की अल्हड़ता पर मुस्काते हैं और यौवन की उमंगों पर हँसते हैं और प्यार करते है,

बड़ा ही मधुर वर्णन है। 'कृताजलि अब प्रभात के पद्म' मे कृतकार्यता के पश्चात् की सन्तुष्टि और 'अब' विसर्जन की प्रशान्त आनन्दमयता बहुत ही निखर उठी है।

स्वर्णोदय मे ऋतु वर्णन के भी कुछ अच्छे पद्य है यद्यपि ऋतु वर्णन गौण रूप से मनुष्य की 'अवस्थाओ' को अधिक उभाडने के लिए ही किया गया है। ग्रीष्म के पश्चात् बरसात आती है, इसका कवि के शब्दों मे ही अपूर्व चित्र देखे—

स्वर्ण पोत के मौर न अब, फलों की ज्वाला के वन,
कितने चुवें झरे धरती पर, झंझा का भव कानन !
लदीं फलों से जीवन-डाले, रस में सब रँग गोपन
विश्व प्रकृति का रे अपार अक्षय वैभव दिङ् मोहन !
भू की रज को कर कृतार्थ, बीता निदाघ अब भीषण,
तिग्मकरों से खींच सिन्धु पलनों से वाष्पों के घन !
वर्षा आई, धूम्र नील नभ में छाया घनघर्षण,
तीव्र लालसा तड़ित जगी सोई कर गर्जन तर्जन,
प्रणयगीत ओ जनन स्वरों से मुखरित हुआ दिगन्तर,
जीवन की रिमझिम अजस्र रे संसृति की सावन झर!

इन पक्तियो मे निदाघ से पूर्व के झडते हुए मौर और सुन्दर फूलों का और फिर निदाघ के पके फलो का और लदी हुई डालियों का वर्णन बहुत ही सुन्दर है, 'कितने चुवे झरे धरती पर' इत्यादि पक्ति तो बहुत ही आकर्षक है, इससे सहज ही गर्मी की उत्तप्त 'लू' और रस से भरे हुए फलों का, उससे और भी पककर उत्तप्त और सूनी धरती पर गिरना सहज ही मूर्त हो उठता है। अन्तिम पद्य मे वर्षा के दिनो मे चारो ओर प्रकृति मे सुनाई पड़नेवाले मधुर जनन स्वरो का और कोयल तथा मोर की कूक और केका का लंबा-चौड़ा वर्णन न होने पर भी बडा ही सुन्दर वर्णन है; इन पक्तियो से

सहज ही हृदय प्रकृति के सौन्दर्य और सृजनशीलता का अनुभव कर पुलकित हो उठता है ।

जीवन विकास के इन वर्णनो के पश्चात कविता का शेष और बडा अश प्राय: नीरस और निरर्थक-सा है, उसमे नव चेतना का स्वप्न पुरातन दर्शन के आधार पर चलता है और इतना लम्बा-चौडा और निरर्थक कि पाठक सहज ही थक जाएँ। इस महापुराण को पूरा बाच लेना भी हिम्मत का ही काम है । दो-एक पद्य देखे—

आत्म-मुक्ति के लिए क्या अमित? यह ग्रह ग्रथित रंग भवर्साजत?
प्रकृति इन्द्रियों का दे वैभव, मानव तप कर मुक्त बने नित !

× × ×

चेतन की भव मुक्ति के लिए, वाह न जड़ तन, मात्र न बन्धन,
मुक्त सृजन आनन्द को स्वतः, रूपों का नव बन्धन स्वीकृत !
आत्मा जीर्ण वसन तज रज का, नव वसनों में होती भूषित !

रेखांकित पंक्तियो मे देखें कितना बडा आश्वासन है जो शायद नई चेतना का प्रथम चरण होगा । हमें यहाँ आपत्ति इस पर इतनी नही, यहाँ, तो हम केवल यही देख रहे हैं कि वर्णित विषय कहाँ तक काव्यानुभूति हो सकता है । यदि इसी बात को सीधे सादे गद्य के शब्दो मे रख दिया जाता तो भी यह इससे कही अधिक सुरुचि गम्य होता, किन्तु यहाँ तो इसमें नीर-सता और भोंडापन कूट कूट कर भरा हुआ है । इसी भाव का वाहन करने वाला गीता का श्लोक 'वासांसि जीर्णानि' इत्यादि इससे कई गुना अधिक सरस है और काव्यमय है । इस प्रकार के जितने चाहे उद्धरण यहाँ दिए जा सकते हैं क्योंकि शेष कविता सारी ही ऐसी है, अतः हम इस कविता को यहीं छोड़ देने को बाध्य है ।

अशोक वन

स्वर्ण किरण की दूसरी बडी कविता अशोक वन है जो छोटे छोटे गीतो मे विभक्त है। यह एक रूपक है जिसमे सीता पार्थिव गरिमा की और राम ईश्वर के प्रतिनिधि है। जैसा कि इसके शीर्षक से ही स्पष्ट है यह सीता के रावण की वाटिका मे कैद होने का प्रकरण है। यहा सीता और राम का विरह वर्णन हो सकता था किन्तु रूपक होने से और उद्देश्य भिन्न होने से इसमे एक दूसरे पहलू पर बल दिया गया है। सीता, जो कि पृथ्वी की चेतना है, राम (ईश्वर) से परिणीत है। राम ने नवजीवन प्रवर्तन के लिए उसका पाणि-ग्रहण किया है। भौतिकता के वैभव मे जड विश्व इस नव चेतना के जागरण को और भगवान के अवतार को अभिशाप ही समझता है और सीता का धर्षण कर लेता है। भौतिकता की स्वर्ण शृंखलाओ मे पडी चेतना को विश्राम कहाँ, वह तो उन्मुक्ति के लिए तड़पेगी ही। नवजीवन पर पुरातन के स्तूपी भूत जड की यह क्षणिक विजय उसकी अन्तिम और पूर्ण पराजय की भूमिका ही तो थी। राम अपने पावन और अपार्थिव हाथो से इस पकिलता का निरास कर के चेतना को मुक्ति देते है। सक्षेप मे यही इस कविता का बौद्धिक पृष्ठाधार है। पन्त जी का विचार है कि आज भी नवचेतना का उदय किसी ऐसे ही रूपक द्वारा होगा। उनके इन स्वप्नो का हम आदर करते है यद्यपि उनके (स्वप्नों के) चिरंजीवी होने की कामना नही कर सकते।

इन रूपक गीतो मे कई-एक गीत काफी अच्छे और सरस है, शब्द-चयन तो बहुत ही अच्छा है। देखे—

> **ध्यान मग्न बैठी वैदेही,**
> **कँपती तन पर छन तरु छाया, उर का द्वंद्व उमड़ हो आया,**
> **लगते गृह-वन-आँगन, राम बिना, जो तृभुवन गेही !**

वन की मर्मर क्या गाएगी ?

कहती वह शंकित स्वर में क्या, किरण तिमिर में खो जाएगी ?
भस्म हो चुकी जो भू रज जल, उठी शिखा सी जो चिरउज्ज्वल,
जगी चेतना धरणी की जो, वह क्या भू पर सो जाएगी ?

यहाँ केवल शब्द चयन और गीतात्मकता ही काफी मधुर नही है सीता की उदासी और अवसाद भी मूर्त हो उठा है। धरती ने अपना कण-कण जला कर जिस चेतना-शिखा को प्रज्वलित किया था, और जिसे अन्तरतम की पूर्ण शक्ति और स्नेह जला कर वह झंझाओ से बचा रही है, वह क्या जड़ता के अधकार मे पुनः लुप्त हो जाएगी ? ऐसे-जैसे उसका कभी अस्तित्व ही न रहा हो। 'कँपती तन पर छन तरु छाया' में उदास और विषण्ण सीता की विथा बहुत ही गभीर और मार्मिक रूप मे चित्रित हुई है। 'वन की मर्मर क्या गाएगी' मे उदासी और विवशता ही जैसे म्लान मधुर स्वर में निराशा का गीत गा रही हो। सीता का पावन सौन्दर्य भी देखे कितना आकर्षक है—

देवि, सजा दूं फूलों से तन ?

लंका का यह शाश्वत मधुवन, देवि, तुम्हारी छवि का दर्पण,
नत चितवन, मृदुचरण, सहजस्मिति, बन जाते शतमुकुल तृण सुमन।
गंधव्य जन पुलकित मलय-पवन, उठ उठ लहरें करतीं दर्शन,
तुम भूमिजे धरा की शोभा, क्या आश्चर्य प्रणत जो रावण !

रावण फूलों से सीता को सजाने आया है, उसके सम्मुख आकर वह भी कितना पवित्र और अपापविद्ध हो उठता है ? 'नतचितवन' इत्यादि में भी कहीं राजसिकता नही, एकदम पवित्रता है—जितनी गगा में होती है। रावण की प्रणति में भी कही वासना का नाम नही, अथवा उसके आगे हो भी कैसे सकता है ? क्योंकि—

जिस अभिलाषा से जर्जर मन, जिन स्वप्नों से अनिमिष लोचन,
जिस मद से रावण है रावण, तुम्हें देख हो जाते प्रशमित।

सीता अशोक वन मे बैठी प्रभु की स्मृति में व्याकुल हो जाती है और उसे अशोक वन की उदासी असह्य हो उठती है और फिर—

पंचवटी की स्मृति हो आई,
नील कमल में, नील गगन में
नील वदन ही दिए दिखाई।

यहाँ नील शब्द की आवृत्ति में शब्द चमत्कार नही अर्थ सौन्दर्य है जो राम की नीलाभ सुषुमा को और सीता की विह्वलता को एक साथ ही बड़ी सुन्दरता से चित्रित कर देता है। आगे इसी गीत मे कुछ विश्लेषण का भाव आ जाता है जो बुरा तो नही लगता किन्तु उसमे वह मधुरता भी नही रहती जो उद्धृत पक्तियो मे है। अब हनुमान द्वारा लकादाह का भी एक दृश्य देखे—

हे पावक वाहक धन्य धन्य !
जग धूमकेतु से शिखापुच्छ, तुम उल्का से टूटे अनन्य।
सद्मों सौधों से अट्टों पर, ज्यों तड़ित नाचती शत तन धर,
लंका का ही उर दाह सुलग, अब उसे बनाता हो अरण्य !
धर दैन्य-दुरित ही स्वर्ण रूप, हे बने रक्षपति कीर्तिस्तूप,
तुम भूमि कम्प से ज्वाल पंख, शापों की गढ़ लंका जघन्य।

यहाँ लका-दाह का भी, रूपक की रक्षा करते हुए, काफी अच्छा वर्णन हो पाया है। इसके पश्चात् राम लका-विजय करते है और सीता उन्मुक्त होती है, लका मे एक हर्ष की लहर फूट निकलती है जो हल्की सी अवसाद की छाया (जो शायद पाठक स्वय कल्पित कर लेता है)

मे श्यामल है । यदि कवि कुछ करुण होकर रावण पर भी दो आँसू गिरा सकता तो शायद अच्छा ही होता, हो सकता है यह मेरे हृदय का दुराग्रह ही हो !

वास्तव में काव्य दृष्टि से यह सम्पूर्ण रूपक ही काफी अच्छा बन पडा है और किसी भी काव्य मे ऐसे रूपको का अपना एक महत्व होता है। इसमे कही कही जो एक विरोधाभास और असगति प्रतीत होती है, जैसे मेघनाद का अपनी मृत्यु को निश्चित और साकाक्ष्य समझना, रावण का सीता के सामने अपनी तुच्छता कहना, रावण की मृत्यु पर मन्दोदरि का यह कहना कि—लकापति की मूर्ति गई गल, सहज हिरण्य शेष अब पावन ! इत्यादि, भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण को समझते हुए असगत प्रतीत नहीं होने चाहिए । किन्तु भारतीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण की आज इस प्रकार आवृत्ति करना ही इतनी बडी असगति है कि उसे दृष्टि ओझल करना कठिन है। यदि शुद्ध रूपक को दृष्टि मे रख कर इसे उपयुक्त कहना चाहें तो, मेरे विचार मे हमारा पक्ष अधिक प्रबल नही होगा, क्योकि रूपक मे भी सामान्य भूमि से ऐसे ऊपर नही उठा जाता कि प्रतीक रूप पात्रों की मानवीयता को बिल्कुल ही भुला दिया जाए।

स्वर्ण किरण के इस सिहावलोकन में हमने देखा कि यह पुस्तक काव्य दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं रखती, किसी अन्य दृष्टि से इसका कोई महत्व हो सकता है, यह हमें ज्ञात नही।

स्वर्ण धूलि

स्वर्ण धूलि सम्भवतः स्वर्ण किरण से पहिले की कृति है, किन्तु स्वर्ण किरण के नूतन रहस्यवादी पन्त की प्रतिनिधि कृति होने से हमने उसे ही प्राथमिकता देना उपयुक्त समझा। स्वर्ण धूलि का धरातल सम्पूर्ण दृष्टियो से स्वर्ण किरण से बहुत अधिक नीचा है, यदि हम यह भी कहे कि यह संग्रह

सभी दृष्टियो से नगण्य-सा है, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। सम्पूर्ण पुस्तक मे एक-दो प्रेम गीतो के अतिरिक्त एक भी शब्द सार्थक नही; जिनसे केवल असन्तुष्टि ही नही, समय गँवाने की खीझ भी होती है। भाव-शून्यता के अतिरिक्त निरर्थक शब्दो का प्रयोग इस पुस्तक की सब से बडी विशेषता है। इतने महान् साहित्य के इतने महान् कवि पर हमारा यह आरोप बहुतो को अखर सकता है, किन्तु यह एक इतना स्पष्ट और कटु सत्य है कि इसका छिप सकना और जानने पर मुँह का स्वाद ठीक रहना ही आश्चर्य की बात है। मेरे विचार में इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व हिन्दी साहित्य के पाठकों और उससे भी अधिक उन आलोचको पर है जिन्होंने अपना पेशा ही कुछ कवियो की अकारण प्रशसा और कुछ की आधारशून्य निन्दा बना रखा है और जो जितने ही 'बड़े' बन जाते है उतने ही अधिक अनुत्तरदायी भी होते जाते है। पाठको को यह तो ज्ञात ही है कि स्वर्ण किरण और स्वर्ण धूलि की विभिन्न आलोचक पुगवों ने बडी प्रशंसा की है, किन्तु उनके सारे 'लेख' भर मे कही यह पता नही चलता कि यह प्रशंसा है किस आधार पर। हम यहाँ देखेंगे कि काव्य दृष्टि से और साधारण बुद्धि की दृष्टि से भी स्वर्ण धूलि की कविताएँ कितनी निकृष्ट है। पतिता कविता की पहिली ही दो पक्तियाँ देखें---

रोता हाय मार कर यादव,
वृद्ध पड़ोसी जो चिर परिचित।

इस पद्य में वृद्ध पडोसी के 'जो चिर परिचित' विशेषण की क्या सार्थकता है? यहाँ दिल्ली की बात नही हो रही जहाँ पड़ोसी परिचित न हो, ग्राम मे सभी परिचित होते है। इतना ही नही वह 'परिचित' के साथ 'चिर' भी है---अनादि और अनन्त। सामजस्य से भी दो पक्तियाँ देखें---

भाव सत्य बोली मुँह लटका,
वस्तु सत्य बोली मुँह बिचका।

यहाँ 'मटका' और 'बिचका' का तुक खूब भिडा है, इसके लिए शब्द चित्रकार पन्त को हमे अवश्य बधाई देनी चाहिएँ। इसी प्रकार ग्रामीण कविता से भी कुछ सरस पक्तियाँ देखे—

'अच्छा अच्छा ' बोला श्रीधर, हाथ जोड़ कर, हो मर्माहत।
'तुम शिक्षित मैं मूर्ख ही सही, व्यर्थ बहस, तुम ठीक, मै गलत।
"तुम पश्चिम के रंग में रँगे, मै हूँ दकियानूसी भारत",
हँसा ठहाका मार मनोहर, "तुम ओ कट्टरपंथी ! लानत !'

इस बहस की काव्य मे क्या सार्थकता है ? फिर यह बहस भी देखिये, "तुम पश्चिम के रग में रँगे हो और मै दकियानूसी भारत हूँ !" यहाँ श्रीधर व्यग्य कर रहा है अत पहिला वाक्य निन्दात्मक न होकर प्रशंसात्मक होना चाहिए था जिसका व्यग्यार्थ निन्दात्मक होता। जैसे—"तुम हो न पश्चिमीय शिष्ट और उदार और हम ठहरे दकियानूसी भारत के प्रतिनिधि !" इत्यादि, किन्तु यहाँ बात ही और है। यह न रहने पर भी इस वितर्क के लिए पन्त जी की ही क्या आवश्यकता थी ? 'लस्सी और चाय की लड़ाई' लिखने वाला घुट्टू सिह 'वाल्मीक' इससे कहीं रोचक संवाद लिख सकता था ! एक और इसी प्रकार 'सार्थक' पद्य देखे—

देह मना मानव मुरझाता, आत्म मना मानव दुख पाता,
इस युग में प्राणों का जीवन, बहता जाता , बहता जाता !

उक्त पद्य में 'जीवन' का विशेषण देखें; प्राणो के बिना भी शायद कोई जीवन हो ? किन्तु यहाँ तो कुछ अर्थ नही लगता, प्रा...णो... का.....जीवन (३), इसी प्रकार—

यह संकीर्ण नीति मत्ता है, ज्यों असिधारा का पथ !

मुहावरे का यह नया प्रयोग है। 'असिधारा के पथ' का अर्थ होता है 'वह परीक्षात्मक कठिन रास्ता जो सत् प्राप्ति क लिए साधना रूप हो' किन्तु पन्त जी ने इसका प्रयोग दूसरे और बिल्कुल गलत अर्थ में किया है। 'जाति मन' से भी एक पद्य लें—

> **सौ सौ बाँहें लड़ती है, तुम नहीं लड़ रहे,**
> **सौ सौ देहें कटती है, तुम नहीं कट रहे,**
> **हे चिर मृत चिरजीवी भू जन !**

यहाँ जन के साथ 'भू' विशेषण देखें, इसकी कोई सगति यहाँ बैठ सकती है ? क्या किन्ही स्वर्जनो के समझ लिए जाने का भय भी था ? इतना ही नही, जन 'जीवित-मृत और चिर भू' भी वे है। पहिली पक्तियो मे सौ सौ बाहे और देहे किनकी कट रही है क्योकि भू जन तो कट नही रहे ! गीता के 'आत्मा' अमर है देह 'नश्वर' वाली बात भी यहाँ प्रतीत नही होती।

इस प्रकार असगत और निरर्थक पद, जितने चाहे स्वर्ण धूलि से उद्धृत किए जा सकते है, और ये पद्य भी हमने खोज खोज कर उद्धृत नही किये, क्योंकि ऐसे पद्य प्रति पृष्ठ पर है।

अब हम स्वर्ण धूलि का साधारण रूप मे मूल्याकन करने का प्रयास करेगे। इसके लिए हमे अब अनुभूतिहीनता की शिकायत नही करनी होगी, क्योकि उसे तो वैसे ही अर्ध चन्द्र दे दिया गया है, अतः यहाँ हम उनकी विषय-प्रतिपादन शैली और असगतियो, विरोधो आदि को ही देखेंगे। पहिले एक स्त्री का चित्र देखे जो दुष्टों से आक्रान्त हुई है—

'फूटा करम ! धरम भी लूटा !' शीष हिला रोते सब परिजन,
'हा अभागिनी ! हा कलंकिनी !' खिसक रहे गा गा कर पुरजन ।
सिसक रही सहमी कोने में, अबला, सांसों की सी ढेरी,
कोस रही घेरी पड़ोसिनें, आँख चुराती घर की चेरी ।

इन पद्यों से अभीष्ट या अनभीष्ट, किसी भी प्रकार का प्रभाव पाठकों पर नही पड़ता। वैसे सभी पक्तियाँ यहाँ मार्क की है—परिजनों का शीश हिला कर रोना, कितना मार्मिक है ! कोई भी पाठक हँसे बिना नही रह सकता। पुरजनो का गा गा कर, रो रो की तर्ज पर कैसा फबता है ! 'रो रो कर' दुबारा कहना अच्छा न लगता अत. 'गा गा कर' ही सही, साथ ही व्यंग्य भी अपने आप ही बन गया और कविता भी। व्यग्य में कोई सार्थकता है या नही, इसे दखने की उन्हे वैसे ही आवश्यकता नही, क्योंकि अब वे स्वीकृत महाकवि हैं। धर्षिता को, जिसे क्रूर लुटेरे कलंकित कर गए हैं और जिसके लिए चिर पड़ोसी हाय मार कर रोया था, उसी को पडोसिनें कोस रही हैं, और चेरी, न जाने क्यो, आँख चुराने के मुहावरे को सार्थक कर रही है ! 'कोसने' का अर्थ 'भाग्य को कोसना' भी लग सकता है, यदि बहुत कोशिश की जाए, किन्तु 'गा गा कर' और 'आँख चुरा कर' के साथ यह अर्थ ठीक नही लगता। इसमे भाषा की काव्यमयता और भावो की विह्वलता के तो क्या कहने । अब 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' का हिन्दी रूपान्तर देखे—

जननी जन्म भूमि प्रिय अपनी, जो स्वर्गादपि चिरगरीयसी ।

यहाँ मौलिक पंक्ति में जो पच्चीकारी पन्त जी ने की है उसके लिए हिन्दी साहित्य और सस्कृत साहित्य दोनो आभार प्रदर्शन किए बिना नही रह सकते। यह वाक्य मौलिक रूप में जितना अच्छा लगता है पन्त जी से

सँवर कर उतना ही 'भोडा' भी, ऐसी विकृति तो वाक्यो का उपहास उडाने के लिए की जाती है। इसी प्रकार और भी देखें—

काले बादल जाति द्वेष के, काले बादल विश्व क्लेश के,
काले बादल उठते पथ पर, नव स्वतंत्रता के प्रवेश के।

इसकी पहिली तीन पंक्तियाँ तो 'हीग लगे न फटकड़ी, रग चोखा आवे' की कहावत को पूरी तरह चरितार्थ करती है। आधे से अधिक काम तो काले बादल ने ही बना दिया है, बाकी द्वेष-क्लेश की तुक ने, शेष बची चौथी पंक्ति। के पहिले बादल तो जातिद्वेष आदि के है किन्तु अन्तिम बादल स्वतत्रता के नव प्रवेश के है, शायद उनका अर्थ हो कि ये सारे काले बादल नव स्वतत्रता के प्रवेश के है, कुछ भी अर्थ हो—कविता की अपूर्वता अक्षुण्ण रहेगी। इसी प्रकार 'क्षण जीवौ' से भी एक उद्धरण ले—

रक्त के प्यासे, रक्त के प्यासे, सत्य छीनते ये अबला से,
बच्चों को मारते, बल से, रक्त के प्यासे।
भूत प्रेत ये मनोभूमि के, सदियों के पाले पोसे,
अँधियाली लालसा गुहा में, अंध रूढ़ियों के शोषे।
मरने और मारने आए मिटते नहीं एक दो से,
ये विनाश के सृजन दूत है, इनको कोई क्या रोके!

पता नही इस महाकाव्य रचना का लक्ष कौन है, क्या दंगाई है? यदि दगाई ही इस का लक्ष है तो क्या इससे कोई अभीष्ट प्रभाव पडता है? 'रक्त के प्यासे' की आवृत्ति से कोई भीषणता का चित्राकरण नही हो जाता और पन्त जी को यही भ्रम है। 'मनोभूमि के भूत प्रेत' कह कर तो सारी ही कथा को रहस्यवादी बना दिया गया है। 'विनाश के सृजन दूत' भी खूब पक्ति है जिसका न इधर से कोई अर्थ निकलता है और न उधर से। 'शोषे' शब्द से कोई ठीक अर्थ यहाँ नही लग सकता। 'अंधरूढियों' से

'शोपित' की बजाय 'पोषित' क्यों नहीं कहा गया ? शोषित से तो उल्टा अर्थ ही अधिक सम्भव है---अंधरूढ़ियो को विशेषण से संज्ञा बना कर, अर्थात् अंधरूढ़िप्रिय मनुष्यों से शोषित। अब 'नरक मे स्वर्ग' कविता की बाल कल्पना और वर्णन रीति को देखें---

राज महल के पास, एक मिट्टी के कच्चे घर में,
रहती थी मालिन की लड़की, क्षुधा विदित पुर भर में।

इस क्षुधा की सहेली थी राजकुमारी सुधा---

फूलों का तन मधुर-क्षुधा का, मधुप-प्रीति से शोषित,
राजकुमार अजित की थी वह, स्वप्न संगिनी अविजित।

यहाँ पहिली पक्ति का एक ही अर्थ हो सकता है कि क्षुधा से अजित दुराचार करता था प्यार नहीं और क्षुधा उसे कुछ नही कह पाती थी। मधुप-प्रीति से शोषित होने का और कोई अर्थ हो ही नही सकता। किन्तु 'स्वप्न-संगिनी' का बिंल्कुल ही उलटा अर्थ है और 'अविजित' इसे और भी विचित्र बना देता है। इसका भी एक ही अर्थ हो सकता है कि राजकुमार उससे प्यार करता था किन्तु उसे पा नही सका था---वह उसकी स्वप्न-संगिनी थी, राजकुमार के इस अमित प्यार के बावजूद वह (क्षुधा) अविजित थी---अनाकृष्ट थी। किन्तु ये दोनों पंक्तियाँ इस प्रकार परस्पर विरोधी हो जाती हैं और शेष कविता से भी पृथक हो जाती है, अतः पन्त जी का अर्थ यह नहीं है---किन्तु, मेरे विचार में इसका और कोई अर्थ भी नही हो सकता। शायद पन्त जी ने अविजित शब्द का प्रयोग तुक मिलाने के लिए ही किया हो और सोचा हो कि पाठक या अन्य शिष्य-आलोचक अर्थ स्वयं कोई न कोई लगा ही लेंगे। 'मधुप प्रीति से शोषित' की तो ऐसे भी कोई संगति नहीं बैठती। इस कविता मे एक और विशेषता

है 'सुधा' और 'क्षुधा' नामो की सार्थकता, किन्तु उन्हे राजा और मालिन की लड़कियाँ बना कर ही पन्त जी ने समझ लिया कि इन नामो की सार्थकता का निर्वाह हो गया और फिर इनका मनमाना प्रयोग किया। उद्धृत पंक्तियों में ही देखें—क्षुधा-क्षुधा से शोषित नही मधुप-प्रीति से शोषित है, इसी प्रकार आगे भी—

दोनों सखियां मिल गोपना में, करतीं मर्म निवेदन,
दोनों की दयनीय दशा बन गई स्नेह-दृढ़ बन्धन,
जीवन के स्वप्नों का जीवन की स्थितियों से था रण,
तन मन की था क्षुधा बढ़ाता, ईन्धन बन कर यौवन।

यहाँ देखें—सुधा और क्षुधा की क्षुधा मे कोई अन्तर नही, दोनो यौन-क्षुधा से त्रस्त है। अब आगे राज भवन के लिए पन्त जी का प्रीति-दान देखें—

राज भवन हे राज भवन जन मन के मोहन,
युग युग के इतिहास रहे तुम, भू के जीवन।
और फिर—अब भी चाहो पा सकते तुम जन-मन पूजन,
जन मंगल के लिए करो जो विभव समर्पण।

पन्त जी को यह पता नही कि युग-परिवर्तन कुछ और ही तरह से होता है, अत्याचार बन्द करने से या विभव समर्पण करने से राज भवन बच नहीं सकते। और उन्हे बचा कर ही पन्त जी क्या करना चाहते है? खैर, पन्त जी ने राजभवन के अतीत सौन्दर्य का जिस भावातीत शैली में वर्णन किया है वह अपूर्व है। किसी खँडहर को देख कर जो भावनाएँ हृदय को उद्वेलित कर देती है उनमे एक ने भी पन्त जी के हृदय को स्पर्श नही किया। अस्तु, इसके पश्चात् प्रजा से द्रोह करवाया गया है, इसलिए नही कि राज भवन समाप्त हो, वल्कि इसलिए कि राज भवन कुछ प्रजाहित-

कारी बन जाए, ट्रस्टी बन जाए। इसमे सुधा जनता की ओर से आत्म-बलिदान देती है, सब रोते है। विद्रोहियों पर गोली अजित ने चलवाई थी, अतः —

देख अजित को आत्मघात के हित उद्यत विदीर्ण, दुखकातर,
झपट क्षुधा ने छीन लिया द्रुत शस्त्र हाथ से, कह धिक् कायर !
साश्रु नयन उस क्षुब्ध युवक के मुख से निकले सुधासिक्त स्वर,
'सुधा आज से बहिन क्षुधा तुम, अजित विजित, जनगण का अनुचर।'

इसमें पहिले आप वर्णन शैली देखे—जैसे 'सतनाम' की कथा हो, फिर साश्रु नयन उस युवक के मुख से ये शब्द निकले कि, . . . ठीक वही ढग है। इसके अतिरिक्त, पाठक देखें कि कही पन्त जी के हृदय में भी वेदना फूटी है ? जिस पीड़ा ने अजित को—जो पूर्णतः नपुंसक है—आत्मघात तक के लिए प्रेरित कर दिया, वह पन्त जी के हृदय मे एक भी कम्पन उत्पन्न नही कर सकी। इसीलिए अजित की आत्म हत्या की प्रचेष्टा अचानक सी लगती है और छिछली भी। इसके आगे पन्त जी कहते हैं—

कथा मात्र है यह कल्पित, उपचेतन से अतिरंजित।

खूब, उपचेतन का प्रयोग देखें कैसा मनोवैज्ञानिक है। उपचेतन का अर्थ तो होता है, दबी कामनाओ का संग्रह जो चेतन से अप्रकाश्य है और अनजाने हमारी भावनाओं और विचारो पर प्रभाव डालता रहता है। किन्तु यहाँ इसका ऐसा कोई अर्थ नही लगता। इसी प्रकार 'अतिरंजित' शब्द भी निरर्थक है। अतिरंजन का अर्थ होता है किसी बात को बढ़ा चढा कर कहना, यहाँ कथा कही गई है जिसमें ऐसी कोई बात नहीं, किन्तु उन्हें तुक भी तो मिलाना ही है न ? अत. 'अतिरंजित' की सार्थकता देखनी हो तो अगली पंक्तियों के तुक भी देखें। अब सावन की झड़ी में आइए थोड़ा स्नान कर लें—

झम झम झम झम मेघ बरसते है सावन के,
छम छम छम गिरतीं बूंदे तरुओं से छन के,
चम चम बिजली चमक रही रे उर मे घन के,
थम थम दिन के तम में सपने जगते मन के।
जल फुहार बौछारें धारे झरतीं झर झर,
आंधी हर हर करती, दल मर्मर, तरु चरचर,
दादुर टर टर करते, झिल्ली बजती झन झन।
म्याउं म्याउं रे मोर, पीउ पिउ चातक के गण।

इन पद्यों मे पन्त जी की वादानुकृति की कुशलता देखे और करामात भी कि बिना हीग-फिटकिडी लगे ही कविता खडी कर दी। इसमें सपनो का 'थम थम' जगना तो विशेष चमत्कारिक है। यद्यपि इसका अर्थ 'रुक रुक' कर है किन्तु इसका सौन्दर्य पूरा खिलता झम झम आदि की लय पर ही है। मोर का म्याउँ म्याउँ और झिल्ली की झनझन भी किसने नही सुनी होगी! इतना ही नही, झिल्ली झनझन 'बजती' है। जिसे अपनी रस मर्मज्ञता पर अधिक अभिमान हो वह अपने इस गुण की सावन मे परीक्षा करे, यदि यहाँ वह उत्तीर्ण हो सका तो उसकी रसिकता अवश्य ही सराहनीय समझी जाएगी। आपने चातक को अकेले भी देखा होगा और समूह में भी, अब यहाँ चातकों के गणो को भी देखे जो अन्यत्र दुर्लभ है---अध्यापकगण, पाठकगण और इसी तरह चातकगण भी। यह गलत तो नही---किन्तु ऐसे ठीक को शतशत प्रणाम। खैर, आपने तालकुल देखे ही होगे,. अब अपनी चर्म चक्षुओ से देखें और उस तालकुल को पन्त जी की क्रान्त दृष्टि से देखे तालकुल से मिलायें---

संध्या का गहराया झुटपुट, भीलों का सा धरे सिर मुकुट,
हरित चूड़ कुकडूं कूं कुक्कुट।

एक टाँग पर तुले दीर्घतर, पास खड़े तुम लगते सुन्दर,
नारिकेल के हे पादप वर !
धूमिल नभ के सामने अड़े, हाड़ मात्र तुम, प्रेत से बड़े,
मुझे डराते हिल हिला सर, बीस मूँड़ औ बाँह नचाकर।

पहिले प्रथम पद्य का अर्थ लगाएँ। भील और ताल दोनो को आपने देखा होगा किन्तु क्या अस्थिशेष प्रेत से ताल और सुगठित छोटे शरीर वाले भील की उपमा का आविष्कार भी आपने कभी किया? कुक्कुट (मुर्गा) की कुकड़ूँ कूँ मे कभी आपने ताल का कोई आभास भी पाया? इसी से आप कवि सज्ञा नहीं पा सकते। कवि वह है जो ब्रह्म-कुलाल के समान मौलिक सृजन करे। दूसरे पद्य की योजना भी देखे, पहिले से कही अधिक चमत्कारिक किन्तु कितनी सीधी अभिव्यक्ति। 'एक टाँग पर तुले दीर्घ तर' में ताल का चित्र एकदम आँखों में उतर आता है। 'दीर्घतर' देखें कितना कवित्तपूर्ण शब्द है, ताल की उत्तुगता साकार हो उठी है। 'पास खडे तुम लगते सुन्दर' में सौन्दर्यानुभूति तथा सहज और मधुर चित्र देखें—कैसा अनुपम है, इससे कोई कम से कम यह अर्थ तो नही लगा सकता कि 'पास खडा ताल सुन्दर नही लगता।' दूर खड़ा चाहे वह कैसा भी क्यों न लगे। तीसरी पक्ति के गढ़ने मे जो कवि ने कुशलता दिखाई है उस पर सम्पूर्ण साहित्य बलिहारी है। ताल की प्रेत से उपमा भी देखें कितनी यथार्थ है और उस प्रेत का सिर और मूड़ दोनो हिलाना—प्रेत की कल्पना को कितना प्रभावशाली बना देता है! इसी प्रकार उनकी सूक्ष्म दृष्टि भी सराहनीय है कि उन्होंने उसके सिर तक गिन डाले—पूरे बीस—एक कम नहीं और न अधिक—अखण्ड सत्य। इन सब को भी मात करने वाला एक पद और देखें—

देवों की सी रखते काया, देते नहीं पथिक को छाया।

आप कहेंगे, प्रेत के बाद इसे देवता क्यों कहा गया? इसे देखना हो तो कवि की क्रान्त दृष्टि से देखे, उन्होंने यहाँ एक कितने बडे यथार्थ का उद्‌घाटन किया है, यह जान कर आप अवश्य दाद देंगे। वेद पुराण कह गए है कि देवताओ के शरीर की छाया नही होती और ताल की भी छाया नही है (?) बस उपमा बैठ गई। अभी तक हिन्दी के आलोचक केशव को ही एकमात्र करामाती कहते आए है अब उन्हे पन्त जी का भी ध्यान रखना चाहिए। अब भी यदि कोई उनका लोहा नही मानता तो यह खडी बोली हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य ही है। ताल के दृश्य देखते आप थक न जाएँ अतः आगे छोटी सी क्रोटन की टहनी बहनी ने शीशे मे लगाई है, उस शीशे मे जो—

कच्चे मनसा कांच-पात्र. . . . .

है। देखी है ऐसी उपमा कही आपने? 'बरसहि जलद' आदि तुलसीदास की उपमाएँ इसीलिए इतनी निरर्थक है कि वे व्यर्थभाव साम्य मे उलझा कर पाठक को स्वतंत्र नही बिचरने देती। इस मौलिक उपमा मे, जिसमे कोई साम्य खोजने की आवश्यकता नही, पाठक की अनुभूति अछोर घूम सकती है। और आगे चलें, यहाँ एक के बाद एक सुन्दर दृश्य है, अब आप नववधु के रग देखें और देखे कवि के जादू को—

दुग्ध पीत अधखिली कली सी,
और—शरद व्योम सी. . . .

देखें, उसने श्वेत और कुछ पीत अधखिली कली के समान नववधु को विस्तृत और नीले आकाश के समान भी उसी समय दिखा दिया है। इतना ही नही—

घुटनों के बल नहीं चली तुम, धर प्रतीति के धीर चरण।

आप कहेंगे, इसका क्या अर्थ हुआ ? "प्रतीति के—आश्वस्त भाव के धीर चरण धर तुम घुटनो के बल नही चली", का कोई अर्थ नही लगता तो इससे क्या अनर्थ हो गया ? कविता तो बन गई ? फिर पहेलियों का भी तो अपना एक अर्थ और महत्व होता ही है, और जो पहेली जितनी ही उलझी होगी वह उतनी ही अच्छी भी होगी ! यह अर्थरहित होने से और भी अच्छी हुई !

इस प्रकार के 'सुन्दर' उदाहरण जितने चाहे इस सग्रह से दिए जा सकते है, किन्तु पाठको से डरते हुए हम अधिक विस्तार नही बढाएँगे।

अब स्वर्ण धूलि के महत्वपूर्ण भाग 'मानसी' रूपक का दिग्दर्शन कर लेना भी अनुपयुक्त नही होगा । पहिले इसकी परिचय में से भी कुछ पक्तियाँ देख ली जायँ तो अच्छा रहेगा, पाठक इसका भावार्थ अच्छी प्रकार से समझ लेंगे और धारण कर लेंगे।

"यह पुरुष नारी का रूपक है । कुल नारियाँ शालीन रंगो के वस्त्रों में, गोपिकाएँ चटकीले झूलते लहँगो और ओढ़नियों मे, भिक्षु भिक्षुनियाँ केसरी और गेरुवे लबादों में तथा आधुनिकाएँ विविध प्रातों के सुरग सुरुचिपूर्ण परिधानों में नाचती हैं। अन्तिम दृश्य मे भविष्य के निर्माता कृषक-श्रमिक मध्य-उच्च वर्गों के युवक सफेद और खाकी खादी मे एवं संस्कृति की संदेश वाहिकाएँ नव युवतियाँ रंगीन रेशमी वस्त्रो में अभिनय करती है।"

विविध संस्कृतियो का यह अपूर्व समागम दर्शनीय होगा। अब ये आधुनिकाएँ और कुलांगनाएँ (इनमें अन्तर नहीं भूलना चाहिए) सभी इकट्ठी नाचेगी। फिर दूसरी युवक-युवतियाँ नाचेगी, जिनमें युवकों के खादी होगी और युवतियो के रेशमी वस्त्र क्योकि वे संस्कृति की प्रतीक है, किन्तु यह दुर्व्यवहार युवकों को, मै नहीं समझता, कहाँ तक सह्य होगा, क्योंकि इनके संवाद तो प्रेम सम्बन्धी हैं न कि भविष्य निर्माण और संस्कृति सम्बन्धी—

युवक—प्रतीति प्रीति प्राण में चरण धरो, चरण धरो।
युवतियाँ—हृदय-सुमन, प्रणय सुरभि, ग्रहण करो, ग्रहण करो।
युवक—लिए हो हाथ हाथ में, न तुम डरो, न तुम डरो।

इसमे कोई भविष्य-निर्माण और सास्कृतिक उन्नयन की बात नही, हो भी तो खादी और रेशम से इन दोनो मे भेद करने में कोई सगति नही।

इसके अतिरिक्त यहाँ आधुनिकाओ के वस्त्रो को सुरुचिपूर्ण कहा गया है और आगे—

अंगों पर देतीं विरल वसन,
जिससे विमुक्त निखरे यौवन,
हम तोड़ प्रणय के कटु बंधन,
मोहित करती जन जन के मन।
तन पर न हमारे अवगुंठन,
धर हाथ पकड़ लेतीं हम मन।

यहाँ परिधान के बारे मे बात बिल्कुल विपरीत कही गई है। सुरुचिपूर्ण का अर्थ यदि आकर्षक और उत्तेजक लिया जाए तब तो यह ठीक है, किन्तु सुरूचिपूर्ण का अर्थ होता है शिष्ट, संस्कृत और शालीन।

ज्योत्स्ना और मानसी मे मूलत कोई अन्तर नही है, न उद्देश्य में, न वर्णन में और न वर्ण में, अन्तर केवल इतना ही है कि ज्योत्स्ना में अलि-कलियाँ अधिक हैं और यहाँ नर-नारी, शायद इसीलिए उस प्रकार आलिंगन चुम्बन के हाव भाव भी नही—किन्तु मूल प्रेरणा वही है—ठीक वही—प्रणय-परिणय की। काव्य दृष्टि से मुझे इसमें कोई महत्वपूर्ण बात नहीं दीखती; कोयल, पपीहा इत्यादि सम्बन्धी दो-तीन गीत साधारणतः अच्छे है अवश्य, किन्तु बहुत अच्छे नही और इस बड़े जाल मे उनका कोई महत्व भी नहीं है। भाषा मे कोमलता और युवक युवतियों के प्रेमाभिनयो

से जो काव्यत्व का भ्रम होता है वह हमारी इस धारणा के आग्रह के कारण कि युवक-युवति सम्बन्धी कोई भी छन्द-बद्ध शब्द काव्य है। जैसे—

मैं आई फिर प्रियतम, आई !
युग युग के रूपों की मेरी,
देखो तुम छिपती परछाईं !
तुम क्या नर थे, मैं क्या नारी,
वधू अधीना, पति अधिकारी,
तुमने मेरी फूल-देह पर
तप्त लालसा सेज सजाई।

यहाँ चाहे युवति प्रियतम से कह रही है किन्तु इसमे अनुभूति नहीं, और अनुभूति हो भी नही सकती थी, अतः काव्य भी नही। वैसे आख्यान-काव्यों में या इस प्रकार के रूपको में ऐसे स्थल होने स्वाभाविक ही है जिनमे हम अनुभूति की माँग नही कर सकते, किन्तु मानसी मे एक दो स्थलो को छोड़ कर काव्यमयता कही है ही नही। फिर यह ऐसे कवि का मानसिक स्वप्न है जो समस्या को निर्बल भावुकता के स्तर पर से देखता है। इसी से व्यर्थ और असंगत बातें इतनी अधिक है कि देखते ही बनता है, जैसे—

तुम थीं भारत महिमा
आज ध्वंस युग प्रतिमा।

वह कब भारत महिमा थी ? जब कि स्वयं ही वे यह भी कह रहे हैं कि 'मेरी वह अभिशप्त युग युग की परछाईं छिप रही है जिसमें नर-नारी मे समानता नहीं थी और जब मनुष्य नारी को केवल वासना तृप्ति का साधन समझता था।' केवल उसे भारत महिमा ही नही कहा गया उसे इसी में दुर्गा, लक्ष्मी इत्यादि कह कर भी फुसलाया गया है और अन्त में युवक से यह मनुहार करवा कर कि—'प्रतीति प्रीति प्राण मे चरण धरो चरण धरो'

और सब से बडी बात 'लिए हो हाथ हाथ में, न तुम डरो, न तुम डरो' स्त्री को सन्तुष्ट कर लिया गया है। अतः हम अपना पिछला कथन फिर दुहराएगे कि ज्योत्स्ना और मानसी मे मूलत कोई अन्तर नही। और यह भी कि मानसी का न तो बौद्धिक धरातल ही उन्नत है और न मानसिक (काव्यात्मक)। फिर भी 'मानसी' ही इस संग्रह मे सर्वोत्तम कृति है। स्वर्ण धूलि मे कुल मिला कर दो कविताएँ कुछ अच्छी है या कविताएँ है—शेष शेष सम्पूर्ण उसी स्तर की है जिस स्तर के पिछले उद्धृत पद्य। ये दो कविताएँ है—'मर्म कथा' और 'मर्म व्यथा'। जैसा कि इनके शीर्षको से ही स्पष्ट है, ये विरह-गीत है। मर्म कथा में तो कवि का हृदय जैसे अत्यधिक भाव-विह्वल हो उठा है, देखें—

बांध दिए क्यों प्राण प्राणों से,
तुमने, चिर अनजान प्राणों से।
गोपन रह न सकेगी,
अब यह मर्म कथा,
प्राणों की न रुकेगी,
बढ़ती विरह व्यथा,
विवश फूटते गान प्राणों से। बांध दिये क्यों.....

"जो हमारे अनन्त स्नेह और गहन पीडा, दोनों को नही समझते, ओ भगवान् , तुमने उन्ही से हमारे प्राणो को जलने के लिए क्यो बाँध दिया ? हमारी विथा-कहानी और प्राणों की चिर तपन बेबस फूटी पड़ती है, कैसे सँभालेगा यह हृदय, कैसे सँभालेगा ! सुलगती विरह-वेदना जलाए डालती है हमें, अब कैसे छिपेगी यह विथा कहानी ?—प्राण बेबस हो गाते है, कौन रोके इन्हे ?" इस गीत में, ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कवि सिसक रहा हो और गा रहा हो, विवश-आहत सा। बिल्कुल सीधी

और भाव-तन्मय अभिव्यक्ति मार्मिक प्रभाव डालती है। इसी प्रकार 'मर्म व्यथा' मे भी—

> **हृदय दहन रे हृदय दहन,**
> **प्राणों की व्याकुल व्यथा गहन,**
> **अब सुलगेगी, होगी न सहन,**
> **चिर स्मृति की श्वास-समीर साथ दी !**

यहाँ भी कवि प्राणो की गहन व्यथा से सुलग रहा है। "यह पीड़ा शायद कुछ थमती, इसकी जलन कम होती, किन्तु स्मृतियो की झंझाएं कहाँ चैन लेने देती है ?" इतनी सीधी अभिव्यक्ति और इतनी मार्मिक अनुभूति पन्त काव्य मे बिरले ही होती है।

इसी प्रकार एक-दो और भी प्रेम-गीत स्वर्ण धूलि मे है किन्तु वे अत्यन्त साधारण कोटि के है। उन्हे पढते हुए ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि उन अनुभूतियो की, जिनमें आवेग समाप्त हो गया है, सप्रयास आवृत्ति कर रहा है, अतः स्वभावतः उनमें वह सप्राणता नही हो सकती।

स्वर्ण धूलि मे 'आर्ष वाणी' शीर्षक से कुछ वेद मंत्रो का अनुवाद भी किया गया है; किन्तु वे अनुवाद इतने नीरस हो गए है कि उनकी बजाए यदि पन्त जी उन मत्रो को मूल रूप मे देकर उनका काव्यमय गद्य में ही अनुवाद करते, तो अधिक अच्छा होता। एक-दो उदाहरण ले—

> **दाँईं बाँईं ओर, सामने, पीछे निश्चित,**
> **नहीं सूझता कुछ भी; बहिरन्तर तमसावृत,**
> **हे आदित्यो, मेरा मार्ग करो चिर ज्योतित,**
> **धैर्य रहित मैं, भय से पीड़ित, अपरिपक्वचित।**

यह प्रायः शब्दानुवाद है, विशेषतः पहिली पंक्ति; 'निश्चित' शब्द उनका अपना ही है। शब्दानुवाद में खालखाल तो उसी तरह पहुँच जाती

है किन्तु प्राण नही आ पाते। उस सप्राणता को भी अनुवाद मे अनूदित करने के लिए आवश्यक है कि कवि (अनुवादक) अनुवाद्य की प्रेरणाओ को अनुभव करे और उसके अनुभूतिगत चित्र को अपने शब्दो मे उतारे। पन्त जी यही कर नही पाए। इनकी अपेक्षा महादेवी जी के अनुवाद अधिक काव्यमय और सप्राण है।

स्वर्ण धूलि का हमारा यह दिग्दर्शन, हमे दुख है कि, कुछ दूसरे प्रकार का नही हो सका, हमे कवि की लगभग कटु आलोचना ही करनी पड़ी; किन्तु इसके लिए हम बाध्य थे। क्योकि यह द्रष्टा पर बहुत कम ही निर्भर है कि वह दृश्य वस्तु को अपनी ओर से ही अच्छे या बुरे रूप में देख सके, इसके लिए तो वस्तु को ही अच्छी या बुरी बनना होगा। अभिरुचि का आग्रह भी एक बडी बात है किन्तु उसे भी साधारण स्तर पर तोलाना होता ही है। 'सत्यार्थ प्रकाश' को यदि कोई बड़ा डूब कर बीस या तीस बार पढता है, तो भी उसे काव्य (साहित्य) नही कहा जाएगा। यही बात स्वर्ण-धूलि के लिए भी सत्य है—जहाँ तक वर्ण्य विषय का सम्बन्ध है, जो असगतियाँ है वे तो सब के लिए एक सी ही है—और होनी चाहिएं। अतः हमारा मूल्याकन शायद असाधारण स्तर का नही होगा, ऐसा विचार है।

उत्तरा

उत्तरा का प्रकाशन स्वर्ण किरण और स्वर्ण धूलि के २ वष पश्चात् हुआ था, इस बीच स्वर्ण किरण---स्वर्ण धूलि पर विभिन्न मतामत प्रकट किये गये, किन्तु उत्तरा मे न तो उन आलोचनाओं का ही कोई विशेष प्रभाव दीख पड़ता है और न वैसे ही सामान्य-रूप से इसका धरातल किसी भी दृष्टि से स्वर्ण किरण से उन्नत हो पाया है । उत्तरा की भूमिका में पन्त जी ने अपने नवीन विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है अवश्य, किन्तु न केवल वे स्पष्ट ही नही हैं, उनमें उन विरोधी आलोचनाओ का कोई उत्तर भी नही जो उनके काव्य को लेकर की गई थी । जैसे "उन्होंने स्वर्ण किरण मे उरोजो, जघाओ इत्यादि का इतना वीभत्स वर्णन क्यो किया जब कि वे आध्यात्मवादी काव्य लिख रहे थे ?" इसी प्रकार अन्य अनेक असंगितयाँ दिखाई गई थी, यद्यपि वह बहुत कुछ अतिरजित थी !

कुछ आलोचक पन्त जी की ओर से इन काव्यो की असगतियो को बचाने के लिए, इनके, काव्य-क्षेत्र में, नवीन प्रयोग होने की बात कहते हैं और कभी कभी तो यह भी कह बैठते है कि हिन्दी साहित्य के पाठकों का बौद्धिक और मानसिक स्तर अभी इतना ऊँचा नही उठा । किन्तु नवीन प्रयोग कह कर किन्ही असंगतियों को उचित सिद्ध करना अतिचार मात्र है । यदि नवीन प्रयोग केवल 'प्रयोग' के लिए है तो वह किसी भी अवस्था में सराहनीय नही हो सकता (हम काव्य की बात कर रहे है) । हाँ, यदि वह अपनी प्रखर प्रतिभा से प्रेरित हो नूतन अनुभूति और अतएव नूतन अभिव्यक्ति का द्वार खोलता है तो वह अपनी अनुभूति की सप्राणता से सहज ही पाठकों में अपना स्थान बना लेगा, अथवा तिरस्कृत होकर भी

(यदि पाठक उसे नही समझ पाए) कुछ भिन्न प्रकार की शिकायते ही पाठको से पाएगा, इस प्रकार की नही जैसी शिकायतें हम कर रहे है। अनुभूतिहीनता और अतएव निरर्थकता पन्त-काव्य मे प्रारम्भ से ही खटकती है। अतः वे अब तक विभिन्न प्रयोगो से ही हिंदी साहित्य को कृतार्थ करने का प्रयास करते रहे हैं जिससे छिछलापन बढा ही है; यद्यपि दूसरी अवस्था मे वह और भी न बढता, यह कहना कठिन है। मुझे तो लगता है कि पन्त जी को दो-तीन प्रयोग अभी और भी करने होगे और इलाचन्द्र जी तथा नगेन्द्र जी इत्यादि को अभी और शास्त्र इनके समर्थन के लिए खोलने होगे। अस्तु, यदि प्रयोग अनुभूतिगत और विचारगत हो तो शब्दों मे कुछ शिथिलता होनी सम्भव है। भावों और विचारो मे असगतता, विशृंखलता और शब्दो मे निरर्थकता सम्भव नही, और इन नवीन काव्यो मे यही है। स्वर्ण किरण और उत्तरा की कला पर्याप्त प्रौढ है, स्वर्ण किरण में तो कभी कभी अद्वितीय भी, किन्तु अनुभूतिहीनता के कारण वह इतनी थोथी है कि कोई भी उसको सराह नही सकता, यदि पहिले से ही उसने इसका निश्चय न कर लिया हो। पन्त जी ने अपने नवीन काव्य में कुछ 'नवीन' विचारो का प्रयोग करना तो प्रारम्भ किया किन्तु वे नवीन विचार न तो परिस्थिति की वास्तविकता से ही कोई सम्बन्ध रखते हैं और न वे कवि की अनुभूति को ही प्रेरित कर सके है। विचारो को काव्यमय ढंग से प्रस्तुत करते हुए एक बडी कठिनाई यह है कि उनका प्रभाव वर्णन ही करना होता है, अतः वह एक कविता में जैसा होगा, सभी कविताओ मे वैसा ही होगा, अतः सम्पूर्ण कविताएँ आवृत्ति मात्र ही रह जाएँगी। यं एक ही अनुभूति अनेक कविताओ में होती है किन्तु वह सदैव एक नवीन शक्ति के साथ अनुभूत और अभिव्यक्त होती है, जबकि विचारो के लिए यही बात नही कही जा सकती। जैसे मीरा के सभी गीत एक ही अनुभूति की अभिव्यक्तियाँ है किन्तु वे सदैव नवीन है, इसके विप-

रीत स्वर्ण किरण इत्यादि की कविताए नीरस आवृत्ति प्रतीत होती है, यही उत्तरा के लिए भी सत्य है । इतना ही नही, अनेक बार तो एक ही शब्द की भी उसी अर्थ मे, कुछ उसी प्रकार का अभिप्राय रखने वाली पक्तियो मे, आवृत्ति की गई है, जैसे—

भावी रखती स्वप्नों के पग—पृ० २.
जलता मन मेघों का सा घर,
स्वप्नों की ज्वाला लिपटा कर, पृ० ३.
आज स्वप्न प्रज्वलित चकित रे अन्तर, पृ० ४,
तिरते स्वप्नों के पोत अमर, नवमानवीय द्रव्यों से भर—पृ ११
मै ही धारण करता हूँ भव, नवस्वप्नों का रच मनोविभव—पृ० ११,
भू स्वप्नों का मोहन, रचें इन्द्र-पथ मोहन—पृ० १७
यह प्राणों की बेला दुर्धर, स्वप्न चूड़ लहरों में उठ कर—
करती मानसगीत तरंगित—पृ० २५
स्वप्नों का आवेश-ज्वार उठ,
विश्व सत्य का पुलिन डुबाता—पृ० २७

ये उद्धरण पृ० २७ तक से लिए गए है; कम से कम इसी अनुपात मे १४४ पृष्ठों की इस पुस्तक में यह पक्ति देखी जा सकती है । यह तो एक पंक्ति की ही अनेक आवृत्तियाँ है और इसी प्रकार कुछ और पक्तियों की भी, किन्तु भिन्न भिन्न पंक्तियां या शब्द भी एक ही बात के विभिन्न प्रतीक है । इन आवृत्तियों का चाहे जो भी अर्थ समझा जाए, काव्य दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं, और विचार की दृष्टि से ये आधुनिक उपनिषदें है, यह कहना आत्मप्रवंचना से अधिक कुछ नहीं । अतः जब तक संस्कृति के क्षेत्र में आध्यात्मवादी स्वार्थों की नोंक-झोंक है, तब तक इन 'काव्यों' की भी

चर्चा रहेगी ही, उसके बाद इनका वही परिणाम होगा, जो ऐसी कृतियो का हुआ करता है ।

उत्तरा इत्यादि को दार्शनिक कृति कहा जाता है, शायद इसलिए कि इनको काव्य कहना पर्याप्त नही, क्योकि काव्य कह कर वे इसमे कोई प्रशंसनीय तत्व नही पा सकते । हिन्दी के आलोचको को यह गुरुमत्र सा ही मिला हुआ है कि वे प्रत्येक स्थान पर दर्शन खोजते है और वैसी आहट पाकर या आहट की (यदि आवश्यकता पड़े तो) कल्पना कर के सहज ही आलोच्य कृति को प्रशंसनीय समझ लेते है । प्रथम तो इन कृतियो मे दार्शनिकता जैसी कोई बात है ही नही, (नव मानव के अभ्युदय के लिए विभिन्न प्रकार से प्रकाशोदय, सूर्योदय, चन्द्रोदय, तमस्हरण इत्यादि के अवतरण के लिए प्रार्थना या कामना करना दाशनिकता नही है) यदि हो भी तो भी उसे इसीलिए नही सराहा जा सकता कि वह दार्शनिक है । उत्तरा के ये 'दार्शनिक' महावाक्य कितने असंगत और निरर्थक है, देखे—

जब जब घिरें जगत घन मुझ पर, करूँ तुम्हारा चिन्तन,
ढँक जावे जब अन्तर्नभ, मैं करूँ प्रतीक्षा गोपन ।

इस पद्य को ध्यान से पढ जाएँ और फिर देखे यदि 'गोपन' की सार्थकता का कोई रहस्य मिल सके ! यह किसी अभिसारिका का वर्णन नही, ये पंक्तियाँ कविता की पहिली पक्तियाँ है, अतः आसानी से देखा जा जा सकता है कि यह गोपन प्रतीक्षा आध्यात्मतत्व की करनी है । तब भी गोपन का प्रयोग क्यो किया गया ? क्या केवल चिन्तन के साथ तुक मिलाने के लिए नही ? तौल पर शब्द टेकने का या तुक भिड़ाने का एक उदाहरण और इसी कविता से लें—

जब तम की छाया गहरावे,
मानस में संशय लहरावे ।

अब तक सब ने विभिन्न वस्तुओं को लहराते देखा होगा, प्रेम या पीडा का लहराना भी सुना होगा, किन्तु सशय-लहराना नही, वह अब यहाँ देख ले और दाद दे इस मौलिक सूझ की जो गहरावे के साथ तुक भिडाने की आवश्यकता का आविष्कार है। इसी पद्य में प्रयुक्त 'जगत घन' शब्द निरर्थक तो नही अस्पष्ट अवश्य है और यह अस्पष्टता तब असंगति की सीमा तक पहुँच जाती है जब हम इसी कविता मे पढते हैं—

तुम तम का आवरण उठाओ, करुणा-कोमल मुख दिखलाओ,
मेरे भूमन की छाया को, निज उर में कर धारण।

यहा भूमन या जगत मन को निज उर मे धारण करने के लिए 'उसे' क्यों कहा गया है जब कि जगत घन से छुटकारा पाना चाहते है? शायद इसलिए कि वे प्रकाश चेतना का भूमन—अन्ध मन—से समन्वय करना चाहते हो, किन्तु यह तो दोनो ही प्रयोगों मे आवश्यक था। इनमे एक को भूलकर ही दूसरे का कुछ अर्थ लगाया जा सकता है यद्यपि भूमन को धारण करने की सार्थकता खोज सकना तब भी कठिन होगा।

अब 'मनोमय' कविता मे स्वतन्त्र पक्तियो का निबन्ध न देखे—

तुम हँसते हँसते घृणा बन गए मन मे, जनमंगल हित हे!
अब काटो जग का अंधकार,
भू के पापों का विषम भार,
मेटो मानव का अहंकार,
चिरसंचित तुम्हें समर्पण हे, युग परिवर्तन मे,
तुम तपते तपते द्वेष बन गए मन में, जनमंगल हित हे!
अब करो जीर्ण से संघर्षण,
फिर हरो धरा-मन के बन्धन,
युग की जड़ता हो नव चेतन,

गति दो नूतन को इच्छित हे, जग-जीवन रण में !
तुम सहते सहते रोष बन गए मन मे, जन मंगल हित हे !

यहाँ पहिली पंक्ति और दोनो पद्यों की अन्तिम पक्तियो का न केवल यही कि शेष कविता मे कोई सम्बन्ध नही दीख पडता प्रत्युत् यह भी कि इनका अपने आप मे भी कोई अर्थ नही प्रतीत होता। पद्यो मे आकाक्षा या प्रार्थना है जब कि इन पक्तियो मे ज्ञापन है। यदि यह भी मान लिया जाए कि हमारी अदार्शनिक बुद्धि इनका अपना अर्थ समझने मे असमर्थ रही है वैसे इनका अवश्य कोई सगत अर्थ होगा ही, तो भी क्रियाओ मे यह 'मतभेद' तो यह सकेत करता ही है कि ये पक्तियाँ परस्पर सीधे सम्बन्ध में नही। अब हमें अर्थ समझने का भी कुछ प्रयास करना चाहिए। सबसे पहिली पक्ति, कविता की भी और उद्धरण की भी, किसे सम्बोधन कर कही गई है ? नवचेतना को या ईश्वर को ? किसी को भी सम्बोधित मान लें, तो भी वह हँसता क्यो था और फिर हँसते हँसते घृणा क्यों बन गया ? यह कहा जा सकता है कि यह पुरातन चेतना को कहा गया है जो अब रूढियो मे ग्रसित है, तो भी अर्थ नही लगता—क्योंकि वह चेतना अंधकार नही काट सकती। यह प्रश्न शेष दोनो पक्तियो के लिए भी किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रथम पद्य की चतुर्थ पक्ति देखे, चिरसचित क्या है ? शायद अधकार रूढियाँ इत्यादि। यदि हम इसका यह अर्थ मान ले तब 'युग परिवर्तन मे' का अर्थ भी सहज हो जाएगा, किन्तु यह अर्थ बड़ा विचित्र है क्योकि जो 'चिरसंचित' उसे समर्पण करने लगे है वह कुरूप ही होगा ? 'सचित और फिर चिरसचित' से ध्वनि निकलती है जैसे निवेदन करने वाले ने बडे स्नेह मे कोई सुन्दर भावनाए या वस्तुए सँजोई हो अर्पण करने के लिए; यह अर्थ मानते हुए 'युग परिवर्तन मे' का कोई अर्थ नही लगता। यह निवेदन आत्मचेतना से भी हो सकता है किन्तु इस सबसे असंगति में कुछ अन्तर नहीं पडता। अब एक 'सुन्दर' विशेषण देखें—

यह प्राणों की बेला दुर्धर,
स्वप्न चूड़ शिखरों मे उठ कर,
करती भावसंगीत तरंगित ।

'ज्योति चूड लहरे' तो सुना था किन्तु स्वप्न चूड एकदम भौतिक कल्पना है । चूडा का स्वप्नमय होना खूब है । बुद्धि मे स्वप्न हो यह तो ठीक है किन्तु सिर स्वप्नमय हो, यह कोई बात नही बनती । 'सिर' का अर्थ बुद्धि शायद हो सके किन्तु स्वप्न चूड का अर्थ स्वप्निल विचार कभी नही हो सकता, जैसे ज्योतिचूड का अर्थ कभी प्रकाशित बुद्धि नही हो सकता । स्वप्न चूड लहरो का अर्थ होगा जिनके चूडान्त मे किरणें मुस्काया करनी हों न कि यह कि जिनकी बुद्धि प्रकाशमति हो । कहा जा सकता है कि यह नवीन विचारो को या प्रतिभा को अभिव्यक्त करने की विवशता है परन्तु वास्तविकता यह है कि पन्त जी ने कुछ घिसे-पिटे विचारो के लिए घिसे-पिटे साँचे बना लिए है और उनको जहाँ तहाँ जोड देते है चाहे परिणाम कुछ भी निकले । स्वप्नों का यानी कल्पना के अर्थ मे इन्होने कितना प्रयोग किया है, यह हम पीछे दिखा ही आए है, प्राणो के शिखरो और चेतना के स्रोतो को भी इन्होंने जहाँ तहाँ जड़ा है, उन्होने भावी सृजन कल्पना से अनुप्राणित प्राणों के लिए यह सब जड़ दिया इसी से यह अनर्थ हुआ । इसी भावना को नवीन प्रतिभा को आसानी से दूसरे शब्दो मे भी प्रकट किया जा सकता था; अतः विवशता नवीन विचारो की अभिव्यक्ति की नही है ।

इन असंगतियों और निरर्थक प्रयोगों के पश्चात् हमे पन्त जी की शृंगार-प्रियता के भी कुछ निदर्शन देखने चाहिए । इनमे कुछ उदाहरण असंगति के उदाहरण भी हो सकते है क्योंकि वह शृंगारिकता बहुत कुछ कवि की अभिरुचि का ही बलात्कार है, प्रकरण की अपेक्षा नही, जैसे—

मैं गाता हूँ,
मैं मर्त्यों को, अमरों के पास बुलाता हूँ।
शोभा के रहस उरोजों पर,
कब प्रीति धरेगी उपकृत कर,
कब मानव के आनन्द कर्म,
उर वैभव से होंगे शोभन?

यहाँ देखे शोभा के उरोजो पर कर, और वह भी उपकृत, धरने की क्या आवश्यकता थी? उरोजो की यहाँ क्या सार्थकता है? 'बेतुकापन और कलुषता' यही तक नही है, उरोजों को 'रहस' भी कहा गया है जो चित्र को और अधिक उभाडता है और उसे शोभा-प्रीति तक सीमित न रख कर उसका 'साधारणीकरण' करता है। फिर आश्चर्य यह कि यहाँ दोनो व्यक्ति समलिगी है। इसी प्रकार

उर में हो चेतना गहन व्रण,
शोभा से सिंचित हो भूतन!
लिपटे भू के जघनों से धन, प्राणों की ज्वाला जन-मादन,
नाभि-गर्त में घूम भँवर सी, करे मर्म आकांक्षा नर्तन।
अग्नि गर्भ उर के शिखरों पर, उतरे सुर आनन्द ज्यों निखर।

इतना वीभत्स और उत्तेजक वर्णन अद्वितीय है। नाभिगर्त में आकाक्षा का नर्तन जिसने देखा होगा वही जानता होगा, शायद पन्त जी इससे आगे बढने मे कुछ सकोच ही कर गए यद्यपि इससे वीभत्सता मे कोई अन्तर नही पडता। इसी प्रकार उर के शिखरो (उरोजो) को अग्नि गर्भ कह कर और उस पर सुरमादन ज्योति निखार कर भी इस क्षेत्र मे अद्वितीयता का परिचय दिया है। फ्रायड के 'इड' से भी गहन तम प्रदेशो में, जहा तदन्तर-स्यसर्वस्य तत्सर्वस्यास्यवाह्यतः एक ही आनन्द ज्वार है, पहुँचने वाली

नूतन रहस्यवादी हठ यौगिक उपचेतना का ऐटम बम से भी अधिक ऊर्ध्व-चित विस्फोट अपूर्व है। अभी और देखे—

बाँहों मे हो प्रीति पल्लवित,
अन्तर मे रस जलधि तरंगित,
स्मित उरोजशिखरों पर बरसे,
स्वर्ण विभा सुरमादन ।

''प्रीति' हृदय मे नही बाहो में पल्लवित हो और हृदय मे रस सागर लहराए, जिसके प्रतीक सुर मोहन सस्मित उरोज शिखर हों ।' किन्तु गौतम स्वरूप पन्त जी को ध्यान रखना चाहिए कि सुर-मोहन होने पर उन उरोजो को एक बार फिर न अभिशप्त होना पडे अतः उन्हे उरोजों को 'पन्त-मोहन' ही कहना चाहिए । किन्तु वे तो रहस्यवाद की तरंग मे गाए ही जाते हैं—

उसकी पृथु श्रोणी में सोए
शत ज्वाल गर्भ निश्चल भू धर ।

यहा प्रमुख भूधर नही पृथु श्रोणी है, नही तो ज्वाल गर्भ वे न कहते । ज्वालगर्भ भूधर तो भूचाल ही लाएगे, या जंगलो को आग लगाएंगे, इसके विपरीत ज्वालगर्भ श्रेणी (नितम्ब) वज्रयान के नवीन प्रवर्तक आचार्य की लालसा को तृप्त करेगी, अतः इनमें बडा अन्तर है । अब एक वीभत्सतम चित्र देखें—

उसके जघनों के पुलिनों मे,
सोई शत झरनों की मर्मर,
उनमें प्राणों की बेला का,
लहरा दो चन्द्र-ज्वलित सागर ।

इसका अर्थ श्लेषहीन ही होगा और पन्त जी का उद्देश्य भी। इस सब के बावजूद जो आलोचक अपनी आँखे बन्द कर लेना चाहते है वे अक्षम्य है। ये आलोचक दार्शनिक कह कर इन कविताओ को और अपनी सूझ को दाद देते है; प्रथम तो अपचित दार्शनिकता काव्य मे वैसे ही सराहनीय नही, यदि होगी तो उसे दार्शनिकता ही होना चाहिए—बच्चो का खेल नही। उन पर उद्धृत कविताओ की दार्शनिकता क्या है, हमे तो समझ में नही आया। 'सत्य' जैसी दार्शनिक कविता से भी एक-दो उद्धरण ले, जो इस सग्रह मे शायद सर्वाधिक दार्शनिक है—

तुम वस्तु-तमस से ढँक दोगे, आदर्शो का अक्षय प्रकाश ?
यांत्रिक पशु-बल से रोकोगे, मानव का देवोत्तर विकास ?
तुम क्या घनत्व में बाँधोगे, द्रव की गतिप्रियता, चंचलता ?
निर्मम जड़त्व में आँकोगे, जीवन की चेतन कोमलता ?
तुम हो तुषार की शिला स्वयं, पल में जल मे जाओगे गल ?
शीतल प्रकाश ही नहीं सत्य, वह बन सकता है ताप-प्रबल !
तुम बँध नियमों के कूलों मे, बहते जाओ इसमें मंगल,
तर्को के रोड़ों से टकरा, बढ़ते जाओ क्षण-फेन उगल !

यहा अब आप पन्त जी के तर्क देखे, कैसे मार्के के है। दूसरे पद्य की पहिली दो पंक्तियो की तर्क प्रणाली की पहिले दाद दे, घनत्व का अर्थ है जड़ और द्रव की गतिप्रियता चेतन का गुण है, यह कौन सा दर्शन है, किसी को ज्ञात है ? एक स्थान पर प्रसाद ने भी यही बात कही है, वे कहते है—

नीचे जल था ऊपर हिम था, एक तरल था एक सघन,
एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन !

किन्तु इन पक्तियो मे जड-चेतन पर उनका बल नही उनका सकेत केवल एक तत्व की ओर है; इसके विपरीत पन्त जी द्रव की गतिप्रियता

के घनत्व में बाँधने के भौतिकवादियों के षड्यत्र को चैलेज कर रहे है। किन्तु उन्हे समझना चाहिए कि चेतन न तो तरल ही है न गतिशील। तीसरे पद्य का न अपने आप मे कोई अर्थ है न पूर्वा पर सम्बन्ध। 'तुम' कौन हैं और वह तुषार की शिला क्यो है ? शायद भौतिकवादी को वे कह रहे हो, किन्तु तब वह गल क्यो जाएगा ? क्या चेतन बन जाएगा ? या समाप्त हो जाएगा आत्म-ज्वाला में ? इसी प्रकार शीतल प्रकाश का भी कोई अर्थ समझ में नही आता। वह सत्य या असत्य कुछ भी क्यो है ? ताप प्रबल वह क्यो बन जाएगा और कैसे ? अन्तिम पद्य मे नियमो के कूलो मे भी 'तुम' को ही बँधने को कहा है; नियम 'तुम' के स्वनिर्मित ही तो है और कौन सा नियम उसके लिए है ? वह उनमें क्यो बँधे या क्यो न बँधे ? तर्को को रोड़े ही कह दिया गया है; तो क्या श्रद्धा के समतल पर बढा जाए नूतन रहस्यवाद की ओर ?

श्रद्धा भी सम्मानीय होती है और अनेक बार तो अधिक सम्मानीय भी; जीवन के गहनतम स्तरो तक अनेक बार हम तर्क से नही पहुँच पाते, वहा श्रद्धा, स्नेह और अनुभूति ही पहुँचा सकती है। किन्तु तर्क का भी अपना स्थान है और वह भी जीवन-दर्शन का एक साधन है अथवा जीवन का अंग है। जो भी हो :—श्रद्धा या तर्क, कुछ तो हो ? उद्धृत पद्यो में तो दोनों ही नहीं हैं। यह थोथी दार्शनिकता और श्रद्धा का प्रतिपादन सम्मानीय नहीं हो सकते। वीणा के अनेक पद्यो मे ईश्वर के प्रति मधुर कुतूहल और जिज्ञासा बहुत ही आकर्षक लगती है, इसी प्रकार कामायनी का अनुभूतिमूलक दार्शनिक प्रतिपादन तर्क पर पूरा उतरे या न उतरे अपनी काव्यमयता के कारण सम्मानीय रहेगा ही। किन्तु उत्तरा इत्यादि में तो न तर्क की कोई बात है न अनुभूति का अल्पतम स्पर्श और न ही तर्क सम्मतता इसकी पुष्टि में और भी अनेकानेक उदाहरण इस या अन्य पुस्तको से दिये जा सकते है, किन्तु उनसे कोई लाभ होगा—ऐसा विश्वास नही।

उत्तरा मे एक-दो पद्य साधारण रूप से अच्छे भी है, यद्यपि उनकी सख्या इससे अधिक नही। इतनी बडी पुस्तक मे इनका कोई महत्व नही हो सकता, फिर भी हम उन्हे उद्धृत किये देते है। एक पद्य 'अनुभूति' कविता से देखे—

तुम आती हो—
नव अंगों का, शाश्वत मधु-विभव लुटाती हो!
अभिमान अश्रु बनता झर झर,
अवसाद मुखर रस का निर्झर!
तुम आती हो,
आनन्द शिखर, प्राणों का ज्वार उठाती हो!

यहाँ अभिमान का अश्रु बन झरना और अवसाद का निर्झर बन बहना काफी अच्छी कल्पना है, प्रिय सौन्दर्य से मान भी स्वाभाविक ही है और उसका अश्रु बन गल जाना कितना मधुर, कितना सुन्दर यथार्थ! और प्यार का—स्नेह का—निर्झर अवसाद-मुखर हो उठता है, हो ही उठता है! प्राणों के गान आनन्द विह्वल हो उठते है। इसी प्रकार—

मै चिर श्रद्धा लेकर आई,
वह साध बनी प्रिय परिचय में,
मै भक्ति हृदय में भर लाई,
वह प्रीति बनी उर परिणय में,
लज्जा जाने कब बनी मान,
अधिकार मिला कब अनुनय में,
पूजन-आराधन बने गान,
कैसे, कब? करती विस्मय मै!

इस कविता का शीर्षक विजय है, और प्रेम की यह विजय कितना शाश्वत सत्य है ? श्रद्धा का साध बन सकना, अनुनय मे अधिकार—प्रेम के विश्वास के अधिकार —की भावना स्वय ही उमग आना, तथा लज्जा में मान का बहाना ओर आकर्षण का अनुरोध आ जाना बहुत ही मधुर और 'शाश्वत' सत्य है। यह कविता वीणा-काल की आवृत्ति सी प्रतीत होती है।

ये दो एक पद्य ही इस पुस्तक मे अपवाद है, शेष 'आध्यात्म-तत्व' की एकरस साधना है। अनेक ऐसी कविताए, जो अच्छी हो सकती थी, जैसे प्रतीक्षा, प्रीति समर्पण, अभिलाषा, ममता, स्मृति, प्रीति तथा चन्द्रमुखी इत्यादि, वे भी उसी कोटि की है जिसकी अन्य रहस्यवादी साधनाएँ। एक पद्य स्मृति से देखें—

परित्यक्ता वैदेही सी ही, अब हृदय-कामना उठी निखर,
प्राणों की ममता, अश्रु-स्नात, कृश, शरद, शुभ्र लगती सुन्दर !
प्रेयसि की मुख-छवि मेघ-मुक्त, शशि लेखा सी उगती मन मे,
नीरव नभ में स्मृति घन सी, एकाकी स्मृति उगती क्षण मे

इन पद्यों में देखें कही स्मृति की उर-दाह है ? ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि कुछ लिखने के विचार से बैठ गया हो और 'स्मृति' पर ही कुछ तुकें मिलाने का ख्याल आ गया हो ! परित्यक्ता वैदेही से हृदय-कामना की उपमा वैसे बहुत ही मार्मिक है किन्तु पन्त जी की अनुभूति मार्मिक नही है, यह अनुभूति पर बलात्कार है। इसे शेप दो पंक्तियाँ ठोस रूप से सिद्ध कर देंगी ; प्राणो की ममता को अश्रु स्नात कहना ठीक है—किन्तु कृश और विशेषतः शरद-शुभ्र कहना किसी प्रकार का भी दृश्य साम्य या भाव-साम्य नही रखता। शरद-शुभ्र सीता को कहा जा सकता है किन्तु ममता का यह रूप वर्णन कोई स्वभाविकता नहीं रखता, उसे 'सुन्दर लगती' कह कर तो उन्होंने अपनी अनुभूतिगत स्थिति को बिल्कुल ही उघाड़ कर रख दिया

है। प्राणों की ममता शरद शुभ्र सुन्दर लगती है कुछ बात नही बनती। दूसरा पद्य भी इसी प्रकार अनुभूतिहीन है।

उत्तरा का यह दिग्दर्शन भी पिछली दोनो पुस्तको के दिग्दर्शन के समान अच्छे परिणाम नही ला सका, यह हमारी विवशता है। पन्त जी ने हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ दिया है और उनकी उस देन का हिन्दी साहित्य ने पर्याप्त आदर भी किया——ऐसा मेरा विचार है। किन्तु उनके काव्य का ठीक मूल्याकन नही किया गया। जो आलोचनाएँ की गई वे Critical appreciation से अधिक कुछ नही है, जैसा कि अगले अध्याय मे हम देखेगे।

उन्होने ग्राम्या तक जो लिखा उसमे यद्यपि बहुत अधिक महत्वहीन और थोथा है, जैसा कि हम पीछे देख ही आए है, किन्तु उसी मे प्रशंसनीय तत्व भी काफी है। इस से अधिक, जितना उन्होने अब तक दिया, अब वे नही दे सकेगे, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए नवीन सृजन इसी दिशा मे न तो आवश्यक ही है और न अभीष्ट ही। अच्छा हो कि वे लिखित के संशोधन मे और चिन्तन के क्षेत्र मे, गद्य-सृजन मे अपना समय कृतार्थ करे। तब प्रेरणा होने पर कविता भी लिखी जा सकती है और वह निश्चय ही अच्छी भी होगी। प्रतिदिन दो-दो, तीन-तीन कविताएँ लिख कर सख्या-वृद्धि करना बहुत विचित्र और दुखद सूझ है। जैसा कि युगान्तर मे और भी स्पष्टता से हम देखेगे, यही किया गया है। इससे साहित्य का और अपना,- दोनो का अपकार ही होता है।

युगान्तर

युगान्तर की अधिकाश कविताएँ महात्मा गाधी के निर्वाण के पश्चात् उनको अर्पित श्रद्धाजलियाँ है, कुछ कविताएँ रवीन्द्र, अरविन्द इत्यादि के प्रति निवेदित है और शेष उत्तरा की आवृत्ति है जो पुस्तक की कलेवर वृद्धि के लिए साथ जोड दी गई है।

'युगान्तर' नामकरण युगान्त की लय पर होते हुए भी उसी अर्थ मे नहीं है, पन्त जी अब बडी दृढता से 'नूतन रहस्यवाद' को अपना चुके है, ऐसा प्रतीत होता है। अत युगान्त मे भी ठीक वही बात है जो उत्तरा इत्यादि अन्य पुस्तको में। वही नयी चेतना, वही ऊर्ध्वचित् पन्त जी और वही शब्द; अन्तर केवल इतना है कि उनमे 'तुम' का अर्थ अज्ञात होता था, यहाँ महात्मा गाँधी हैं।

ये गीत, पन्त जी के कथनानुसार भी और कविताओं की तर्जेअदायगी के अनुसार भी, ऐसा प्रतीत होता है (प्रतीत ही होता है) कि महात्मा गांधी की स्मृति मे लिखे गए है, वैसे यदि उन्हे अरविन्द या अन्य किसी के साथ जोड दिया जाए तो भी ये उतनी ही योग्यता से काम चला देंगे। महात्मा गाधी महान् युग पुरुष थे और भारत मे सदियों के पश्चात् ऐसे महत् व्यक्तित्व का उदय हुआ था। उनकी इस हत्या ने सम्पूर्ण संसार को आघात पहुँचाया और प्रत्येक हृदय की मानवता की अनुभूति सिहर उठी। किन्तु धिक्कार है हमारे हिन्दी साहित्य को, जिसका एक भी कवि उचित श्रद्धांजलि अर्पित नही कर सका। ब्राजील की कवयित्री की एक बडी कविता जो 'आजकल' के एक अंक मे अनूदित होकर प्रकाशित हुई है हमारे देश की अनुभूति और प्रतिभा दोनो को चैलेज है। उससे ऐसा

प्रतीत होता है, जैसे महात्मा जी के निर्वाण ने उसकी मानवीय सौन्दर्य की अनुभूति को गहरी ठेस पहुचाई हो और जैसे उसके दोनो पंख कट गए हों। उसका मानवीय-महत्ता और उन्नति मे आश्वस्त हृदय आहत हो कर क्रन्दन कर उठा हो। इसके विपरीत हमारे कुछ कवियो ने तो कर्त्तव्य पालन भर कर दिया और कुछ ने परिस्थिति से लाभ उठा कर जैसे तैसे शीघ्र ही अनेक कविताएँ लिख कर पैसे भी कमाए। पन्त जी की लिखी ये कविताएँ भी इसी प्रकार अनुभूतिहीन और निर्जीव है। किराए पर रोने वाली स्त्रियों मे चाहे कभी उस अज्ञात व्यक्ति के प्रति कोई अनुभूति की सिहरण होती हो जिसका न उनसे कोई सम्बन्ध है न अपने मे महत्व, किन्तु मानवता के सबसे बड़े पुजारी की इस अमानवीय हत्या ने हमारे कवि के हृदय में एक भी सिहरण उत्पन्न नही की। शायद ऊर्ध्वचित् रहस्यवादी के लिए यह वैराग्य आवश्यक हो! हमारे इस कथन का प्रमाण युगान्तर की प्रन्येक पक्ति है, अतः उद्धरण के लिए कही से भी कोई भी पद्य लिया जा सकता है। दो पद्य देखें—

अन्तर्धान हुआ अब देव, विचर धरती पर,
स्वर्ग रुधिर से मर्त्यलोक की रज को रँग कर,
टूट गया तारा, अन्तिम आभा का दे वर,
जीर्ण जाति मन के खँडहर का अंधकार हर।
अन्तर्मुख हो गई चेतना दिव्य अनामय,
मानस लहरों पर शतदल से हँस ज्योतिर्मय,
मनुजों में मिल गया आज मनुजों का मानव,
चिर पुराण को बना आत्मबल से चिरनूतन।

इनमें देखें, यदि आपको संवेदना का कण भर भी मिलता हो। इन

पंक्तियों को खडा करने के लिए उन्होंने अपनी सम्पूर्ण दार्शनिक शब्दो की पूजी को लगा दिया है फिर भी इसका कुछ बनता नही दीखता। कुछ काव्यमय प्रतीक भी जडे गए हे, जैसे दूसरी पंक्ति तथा छठी पंक्ति काव्यमय ढंग से कही गई हे। अन्तिम दो पंक्तियाँ तो अपनी उदाहरण आप हे। इनमे पहिली पंक्ति का तो हमे अभिधार्थ ही पता नही चलता, दूसरी का लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ, अभिधेयार्थ के समझ लने पर भी, पता नही देता। 'चिर पुरातन' का अर्थ तो आप लगा सकते है अत्यधिक पुरातन, किन्तु तब चिर नवीन का भी कुछ ऐसा ही अर्थ होना चाहिए। पर उसका अर्थ शाश्वत है। अतः इसका अर्थ हुआ 'हे अनामय, तुमने शाश्वत पुरातन को शाश्वत नूतनता का वरदान दिया है।' पाठक देखे यदि वे दो विरोधी शाश्वतो की कल्पना कर सकते हो !

ये पहिली दो कविताओ के पहिले दो पद्य है। अर्थात् हमने सप्रयास इन्हे नहीं खोजा, अतः कहा जा सकता है कि ये पंक्तियाँ सम्पूर्ण पुस्तक का प्रतिनिधित्व कर सकती है। तीसरी, चौथी, पाँचवी, छठी कोई भी कविता ले ली जाए, वही बात और वही निर्जीवता ! ये दोनों पद्य ही देखे, दो भिन्न कविताओं के है किन्तु क्या एक ही कविता के दो पद्य नही प्रतीत होते या एक ही पहलू के दो कुछ भिन्न प्रदर्शन। अतः हम व्यर्थ उद्धरण देकर व्यर्थ विस्तार नही करेगे। रवीन्द्र इत्यादि के प्रति लिखी गयी कविताएँ भी इसी टाइप की है।

सम्पूर्ण नूतन रहस्यवादी कृतियों का हमारी दृष्टि में इतना ही मूल्य है और इतना ही महत्व।

आलोचना को अधिक तटस्थता और निष्पक्षता देने के विचार से हमने विचारों का आलोचन पृथक् किया है और काव्यत्व का पृथक्, जिससे गड़बडझाला न पड़े। किसी कविता की हम किस आधार पर प्रशंसा या निन्दा कर रहे है, उसे हमने पूरी तरह से स्पष्ट करने का प्रयास

किया है, केवल 'अच्छी' या 'बुरी' कह कर काम नही चला लिया गया। इससे पाठकों को हमारा दृष्टिकोण समझने में कठिनाई नही होगी—ऐसी आशा है। पन्त जी की प्राय सभी आलोचको ने प्रशंसा की है, अतः अपनी सीमाओं को स्पष्ट करने के लिए हम एक पृथक् अध्याय मे इन आलोचको के विचारो का भी दिग्दर्शन करेंगे।

उपसंहार

अपनी पुस्तक में हमने पन्त साहित्य के साथ-साथ युग-परिस्थितियो और विचार-धाराओ का भी अध्ययन करने का प्रयास किया है। मेरे विचार मे युग-परिस्थितियो को जाने बिना यह सम्भव नही कि हम किसी कवि को विचारधारा और प्रवृत्तियों का ठीक ठीक अनुमान लगा सकें। किन्तु परिस्थितियो का और विशेषत· विचारधाराओ का अध्ययन अत्यन्त आयास-साध्य तथा हिमाकत है, और इतनी छोटी पुस्तक मे तो यह और भी बड़ी बात है। तो भी जहाँ तक सम्भव था, हमने अपना दृष्टिकोण कहने का प्रयास किया ही है।

स्थापना मे हमने काव्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करते हुए सामाजिकता पर बल दिया है, किन्तु 'सामाजिकता' को जिस संकुचित अर्थ मे प्राय: प्रयोग किया जाता है, वही हमारा अर्थ वहाँ नही है, जैसा कि नूतन रहस्यवाद (२) मे स्पष्ट है। किन्तु जो लोग साहित्य मे किसी 'व्यक्तिगत' प्रतिभा की बात करते है और प्रतिभा को ईश्वरीय देन मानते है, उनसे भी हम सहमत नहीं है। नगेन्द्र जी ने अपनी पुस्तक 'विचार और अनुभूति' मे लिखा है कि काव्य में वैयक्तिक अनुभूतियाँ ही बलवती होती है और जिस लेखक का अहम् जितना ही शक्तिशाली और उद्दण्ड होता है वह उतना ही महान् साहित्यकार हो सकता है। उन्होने व्यक्तिगत प्रतिभा, जो जन्म-जन्मान्तर के सस्कारो का परिणाम होती है, पर भी बहुत बल दिया है; किन्तु यह विचार एकदम भ्रामक है। यदि किसी मनुष्य का अति-दैवी शक्ति मे आग्रह है ही तब तो उसे कुछ भी मानने से नही रोका जा सकता। प्रतिभा को अति प्राकृतिक प्राप्ति मानना तो छोटी

सी ही बात है, किन्तु यदि हम अपने वैज्ञानिको के गम्भीर और कठिन परिश्रम का कुछ भी आदर करते है और उन्हे असत्यवादी नही मानते, तो हमे उनकी यह बात भी मान ही लेनी चाहिए कि प्रतिभा मनुष्य के शारीरिक निर्माण की भौतिक परिस्थितियो और विचार-निर्माण की सामाजिक परिस्थितियो के अतिरिक्त और कुछ नही है। एक युवक का स्नायु-कम्पन और उसका उत्साह इत्यादि एकदम शारीरिक प्रक्रियाएँ है और उनकी दिशा इत्यादि सामाजिक। शारीरिक स्थिति एकदम वैयक्तिक है और शारीरिक आवश्यकता एकदम वैयक्तिक आवश्यकता, किन्तु ये अपने जन्म के लिए जिन भौतिक परिस्थितियो पर आश्रित है, मनुष्य समाज उनका बहुत दूर तक निर्धारण कर सकता है और इस प्रकार व्यक्ति के प्रतिभा-निर्माण मे हस्तक्षेप कर सकता है। जो भी हो, यह शारीरिक वैयक्तिक है, इसमे सन्देह नही और नूतन रहस्यवाद मे हम इसे पूर्णत स्वीकार कर चुके है, किन्तु यह वैयक्तिकता impulse and satisfaction प्रवृत्ति और सन्तुष्टि—तो निरापदार्थ unorganized matter है, इसे आवृति तो समाज ही देता है, नही तो व्यक्ति का यह पदार्थ रवीन्द्रपन और गोर्कीपन को प्राप्त नही कर सकता। इससे हमारा तात्पर्य यह नही कि व्यक्ति टाइप है, इसे हम स्थापना में भी स्पष्ट कर आए है, या समाज उसका बैठ कर बाकायदा निर्माण करता है। हमारा तात्पर्य केवल यही है कि व्यक्ति अपने जीवन के लिए समाज पर आश्रित है, अत समाज को तर्कसम्मत होना चाहिए, तभी व्यक्ति 'स्वतत्र' हो सकता है, और अतएव व्यक्ति को सामाजिक, नही तो समाज तर्कसम्मत नही हो सकेगा। व्यक्ति जिस सीमा तक सामाजिक नही है उस सीमा तक वह समाज विरोधी है। यह हो सकता है कि विशेष व्यक्ति अपनी इस अक्षम्य स्थिति मे अपेक्षाकृत अधिक प्रसन्न रह सके किन्तु उसका समाज समर्थन कैसे कर सकता है? यह ठीक वैसी ही बात है जैसे कोई

एक मिल मालिक के लिए कहे कि उसके मजदूर मरते हैं तो क्या हुआ वह तो ऐश करता है ? या नीरो गाँवो को आग लगवा कर यदि बाँसुरी बजाता था तो क्या हुआ, उसे तो प्रसन्नता होती थी ? किन्तु समाज किसी व्यक्ति की व्यक्तित्व-साधना को कभी स्वीकार नही कर सकता जैसे मजदूर मिल मालिक को और आग मे भस्म होने वाले लोग नीरो को क्षमा नही कर सकते यदि ये अपनी परिस्थिति की वास्तविकता के प्रति सजग है तो। समाज के तर्कसम्मत होने का अर्थ है उसकी इकाइयो का अपने समूह स्थिति के प्रति तर्कसम्मत होना और समूह का उसकी इकाइयो के प्रति तर्कसम्मत होना और इस प्रकार व्यक्ति को सुविधा और स्वतन्त्रता दे सकना। क्योंकि समाज व्यक्तियो के समझौते पर आश्रित है अत: विशेष प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने प्रतिभा-विलास से तब तक आदृत नही हो सकता जब तक उसका उचित सामाजिक उपयोग नही, जैसे कोई भी एक अच्छे लडाके डाकू को पसन्द नही कर सकता।

क्योकि व्यक्ति दुहरी स्थिति---वैयक्तिक और सामाजिक मे रहता है अत: उसकी काव्य मे भी यही स्थिति होती है। उसकी भावनाएँ मूलत: Instincts है जैसा कि हम पीछे देख भी आए है, और उनकी आवृत्ति-दिशा-क्रम इत्यादि--सामाजिक । अतः कविता मे उसकी ये प्रवृत्तिमूलक भावनाएँ---वैयक्तिक और सामाजिक---अभिव्यक्ति पाती है; केवल वैयक्तिक उछ्वास न हो सकता है न कविता में ही उसकी अभिव्यक्ति सम्भव है। इसके अतिरिक्त काव्य का एक और पक्ष भी है जो पाठको से बँधा है और जो उसके उत्तरदायित्व को और भी बढा देता है तथा उसे निर्वैयक्तिकता दे देता है।

साहित्य अपूर्त भावनाओ की सन्तुष्टि का प्रयास है या सामूहिक सम्पन्नता के उल्लास की स्फूर्ति, इसको लेकर मतभेद होने की बहुत अधिक गुंजायश है और गम्भीर मतभेद है भी, किन्तु यदि कुछ भी

गम्भीरता से हम इस प्रश्न पर दृष्टिपात करे तो विवाद को उतना स्थान नही रहता।

यह तो स्पष्ट ही है कि कविता हृदय की अनुभूतिगत आत्यन्तिकता (अधिकता) की अभिव्यक्ति है ; वह अनुभूति किसी भी प्रकार की हो सकती है—अनुपभुक्त वासनाओ के भावगत आवेग की भी और किसी सामूहिक या व्यक्तिगत प्राप्ति के उल्लास की भी । उसमें व्यक्तिगत स्वार्थपरता भी हो सकती है और समष्टिगत उदारता भी (यद्यपि अनुभूति के क्षणो मे मनुष्य सहज ही उदार होता है) और इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि एक अतर्कसम्मत समाज के व्यक्ति की असफलताओं का परिणाम होगी और दूसरी तर्कसम्मत समाज के व्यक्ति की सहज स्फूर्णाओं का । उस अवस्था मे (समाज के तर्कसम्मत होने पर) विरह-गीत भी अनुपभुक्त वासनाओं की असफलताओ का दार्शनिक करुणा म विडम्बन नही होता, जिसमें सामाजिकता से सहज पलायन होता है क्योंकि अतर्कसम्मत समाज ही व्यक्ति की आकाक्षाओ को उत्पन्न करता है किन्तु पूर्ति के साधन नही जुटाता, तर्कसम्मत समाज के सदस्य के उन गीतों में एक स्वस्थ वेदना और आकाक्षा होती है जिसमें सहज अपनाव की विह्वलता रहती है और प्रिय के दूर होने की व्यथा; प्रिय के समीप होने पर भी जो एक 'सार्वभौमिक' आकाक्षा और वेदना, जिसमें 'अनन्त-सुषुम' छायाओ की छलना में ऑखमिचौनी खेलता है, उसमें नही होती, वह तो पूजीवादी व्यवस्था का वरदान है, विशेषतः हमारे पराजित और शोषित देश को । सामूहिक स्वास्थ्य की प्रवृत्ति हम अपने ग्राम-गीतो मे सहज ही देख सकते है, सूर की गोपियों के विरह-रोदन में भी । ये ग्राम-गीत विरह के हो या मिलन के, सामूहिक उल्लास, हॉ, वेदना में भी सामूहिक उल्लास, के ये गीत होते है । इनकी विरहानुभूति महादेवी या रवीन्द्र की विरहानुभूति-सी 'परिष्कृत' नही होती।

इसका अर्थ यह नही कि सामन्तवादी युग अच्छा युग था, किन्तु सामाजिक स्वास्थ्य—अतएव वैयक्तिक स्वास्थ्य की दृष्टि से तत्कालीन ग्राम-व्यवस्था अधिक बलिष्ठ थी, जिसमे अभी तक सभ्य-पूर्व (Primitive) युग की प्रवृत्तियाँ सामन्तो के दरबारो से बच कर किसी प्रकार चली आती थी, और चली आती है। यदि उनको तर्कसम्मत समाज-व्यवस्था और सामाजिक सस्कृति की परिस्थितियाँ दी जाएँ तो उनके ज्ञान और भावना के क्षेत्र मे अभिवृद्धि होगी किन्तु स्वास्थ्य नही बिगड़ेगा। स्थापना की सामाजिकता और सामूहिक उल्लास से हमारा यही तात्पर्य है।

× × ×

'छायावाद की पृष्ठभूमि मे' हमने बहुत बड़ी पृष्ठभूमि के साथ युग को देखने का प्रयास किया है, इससे स्वभावत सक्षेप कुछ अधिक हो गया है। वास्तव मे पुस्तक की सीमाओं को देखते हुए हम और अधिक विस्तार में न जाने के लिए बाध्य भी थे।

वहाँ प्रकरण-वश 'धर्म' का अर्थ समझने का प्रयास किया गया है। आजकल धर्म शब्द को लेकर कुछ नूतन रहस्यवादियो ने उसका सर्वथा गलत प्रयोग करना प्रारम्भ किया है। अज्ञेय तथा नगेन्द्र जी ने इस शब्द का प्रयोग किसी आध्यात्मिक उद्बोधन के सर्थ मे किया है, जो अत्यन्त उपहासास्पद है। इस भ्रान्ति से साहित्य क्षेत्र में धाँधली मचने का भय हो सकता है।

धर्म (Religion) के शाब्दिक अर्थ को लेकर झगडना और उसके शाब्दिक अर्थ को वास्तविकता मानना एक बहुत बडी छलना है। जहाँ तक उसके वास्तविक रूप का सम्बन्ध है, वह जनता के भय और कुतूहल-जन्य विश्वासो का परिणाम है जो बाद में आकर अन्ध-विश्वास, संकुचित वृत्ति, सामाजिक अनैतिकता तथा अत्याचार और राजनैतिक

षड्यंत्र का कारण बना। नृतत्व शास्त्री अध्ययन, चाहे वह पूजीवादी बुद्धिजीवी ने किया हो या मार्क्सवादी ने, इसकी पहिली—सभ्यपूर्व स्थिति को स्पष्ट कर देगा और दूसरी स्थिति को रोमन कैथोलिको तथा प्रोटैस्टैटो और शैवो तथा वैष्णवो के सघर्ष, यहूदियो पर अत्याचार, शूद्रो पर अमानवीय दबाव; तथा वज्रयानियो के दुराचार और राधास्वामी मतावलम्बियो की अनैतिकता मे स्पष्ट देखा जा सकता है। बुद्ध और कबीर भी धर्म की ही देन है किन्तु वास्तव मे उनकी अनुभूति को धार्मिक नही कहा जा सकता। वह तो समाज-सुधार और काव्यगत अनुभूति के अन्तर्गत ही आएगी, क्योकि उस काल की सभी नैतिकता इत्यादि धर्म के अन्तर्गत आ जाती थी अत· समाज सुधार को भी एक सीमा तक धार्मिक कहा जा सकता है, किन्तु बुद्ध की दयार्द्रता और कबीर की अक्खडता धार्मिक अन्धविश्वास नही कही जा सकती क्योकि उनकी प्रेरणा काव्यानुभूति थी। इसके विपरीत तुलसी को बहुत दूर तक, चाहे वे मानस मे हो या विनयपत्रिका मे, धर्म के दायरे मे ही रखा जाएगा क्योकि तुलसी की प्रत्येक प्रेरणा का आधार, चाहे वह भक्ति की हो या समाज सुधार की, कुछ धार्मिक विश्वास है। 'धर्म' का प्रयोग किसी अनुभूति के अर्थ मे होना ही नही चाहिए, वह तो पूर्व-सभ्य-काल मे विस्मय था, परोक्ष शक्ति के प्रति जिज्ञासा थी और प्रत्यक्ष आपत्तियो के विरुद्ध सामाजिक सगठन। बाद के युगों मे इसका लक्षण हुआ विश्वास, अध-श्रद्धा, पराजय की छलना और स्वार्थ-साधन का अस्त्र। भारतीय समाज की इन प्रवृत्तियो का अध्ययन करने के लिए इस ओर राहुल जी की मानव समाज और डांगे की (India) पुस्तकें काफी लाभप्रद प्रमाणित हो सकती है।

छायावाद काल की बौद्धिक परिस्थितियो का अध्ययन करते हुए हमने जो लिखा है उसके स्पष्टीकरण की शायद और अधिक आवश्यकता नही है. फिर भी एक बात दुहरा देनी आवश्यक है कि छायावाद को स्थूल के

विरुद्ध सूक्ष्म का विद्रोह कहना अत्यन्त उपहासास्पद है। नगेन्द्र जी ने अहिसा, चर्खा तथा छायावाद को साथ साथ जोड कर कहा है कि ये सूक्ष्म की विजय के ही परिणाम थे, किन्तु अहिंसा को किसी ने भी (सिवाय महात्मा गाधी के) हार्दिक सत्य के रूप में ग्रहण न कर राजनैतिक शस्त्र के रूप में ही अपनाया था, इसे देखना हो तो गाधी जी की युद्ध और अहिसा पुस्तक में देख सकते है, जिसमे उन्होने कांग्रेस से त्यागपत्र देने के कारणो पर भी प्रकाश डाला है। इसी प्रकार चर्खा के मूल में भी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति नहीं, दूसरी संस्कृति के विरुद्ध सास्कृतिक सरक्षण की भावना थी जो प्रत्येक सास्कृतिक सघर्ष मे प्रत्येक पराजित जाति मे देखी जा सकती है। मान लो छायावाद स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की प्रति क्रिया थी, तो अहिसा किसके विरुद्ध प्रतिक्रिया थी ? यदि हिसा के विरुद्ध तो उसका उदय यूरोप में पहिले होना चाहिए था।

अत: छायावाद भी वास्तव में सूक्ष्म की प्रतिक्रिया नही हमारे मध्य वर्ग की पराजय की स्वीकृति तथा सामाजिक विश्रृंखलता का परिणाम था जिसने व्यक्ति को आकाक्षाओ की प्यास तो दी किन्तु तृप्ति के साधन नहीं। यही कारण है कि इस काव्य में अभुक्त वासनाओ की आध्यात्मिक चोले में अभिव्यक्ति, निराशा, दुर्बलता तथा जघन्यता है। नगेन्द्र जी इसे स्वीकार करते हैं किन्तु स्थूल-सूक्ष्म का आग्रह भी रखना चाहते है। इस से वास्तविकता का अपघात होता है। नगेन्द्र जी की इस भूल का कारण उनका परिस्थितियों के अध्ययन में भूल करना है।

पूंजीवाद के अस्तित्व के साथ ही एक नवीन मानववाद भी अस्तित्व मे आया, जिसकी चर्चा हम प्र० वा० की पृ० भू० में (१) में कर आए हैं। इसमें मानव के सुख-दुखमय जीवन, सुन्दर, कुरूप आकृति तथा उसकी निर्बलताओं इत्यादि के प्रति एक आध्यात्मिक अनुराग व्यक्त किया जाता था। पन्त जी की—

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने,

इत्यादि कविता इसी प्रेरणा का परिणाम है। रवीन्द्र ने भी ऐसा बहुत कुछ लिखा है। इस सब का कारण जहाँ प्रजातंत्रवाद की भावना थी (हाँ, भावना ही) और परोक्ष से प्रत्यक्ष की ओर आगमन था वहाँ पूंजीवाद की भीषणता के नीचे अप्रजातांत्रिक रूप से पिसते मनुष्यो को देख कर अपने असमर्थ हृदय को सहलाने का प्रयास भी था। यह इसी से स्पष्ट है कि मानव को इन मानववादियो से कोई ठोस सहानुभूति नही मिली, उन्होने केवल 'मानवता', का उसके हास-अश्रुमय आनन का ही गुण गान किया। रवीन्द्र या पन्त के काव्य मे इसी मानवता की उपासना है, यथार्थ मानव से कोई सरोकार नही। नही तो इनके आगे मजदूर या किसान तथा अन्य वचित भी थे, वे उनके यथार्थ को देख सकते थे। पन्त जी ने आगे इस ओर देखा भी किन्तु रवीन्द्र सदैव छायावादी रहे और उन्हें कृषक की तपस्विता और मजदूर की दृढता के सौन्दर्य से ही अवकाश नही मिला, जब कभी उन्होंने उस ओर देखा भी।

आज मानव की यह मानवता पूर्णतः स्पष्ट हो चुकी है और अब ऐसी कोई गुजायश नही कि उसके 'भाववाची' रूप की ही प्रशसा की जाए, प्रशस्तियाँ गाई जाएँ। तो भी जो लोग ऐसा करते हैं वे केवल इसी कारण कि इससे वे दूसरो की आँखो मे अपनी आध्यात्मिकता की धूल झोंक सके और अपने चेहरे की वास्तविकता को उघडने से बचा सके। मानववाद के प्रथम रूप को पलायन और द्वितीय को प्रवचना इसी से हमने कहा था।

छायावाद के चारों प्रमुख कवियो पर भी हमने सक्षेप में विचार किया, किन्तु वह उनके काव्य का मूल्याकन नही प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन मात्र है। प्रगतिवादियों में कोई कवि अभी तक अपना विशिष्ट स्थान नही बना सका और न उनमे कोई पृथक् विशेषता ही है, अतः प्र० वा० की पृ०.

भूमि देखते हुए जिन कवियों का नाम लिया गया है वह प्रगतिवादी काव्य के सामान्य दिग्दर्शन के लिए ही। प्रगतिवादी आलोचना के विषय मे हमें कुछ विस्तार से कहना चाहिए था, किन्तु यह मैं नही कर सका; तो भी मुझे यह तो कहना चाहिए ही कि हिन्दी साहित्य का वर्तमान आलोचना साहित्य प्राय: व्यक्तिगत राग-द्वेष या पार्टीबाजी का शिकार है और शेष निम्नकोटि के लेखकों का उच्छ्वास मात्र। प्रगतिवादी भी इस दोष से मुक्त नही हैं। इतना ही नही, हमारे मित्र प्राय: मौलिकता शून्य भी है; पहिले राम विलास जी का सम्पूर्ण प्रगतिवादी साहित्य पर एकच्छत्र राज्य था और शेष आलोचक उन्ही का मुह देख देख कर अपनी बात कहते थे (विशेषत: प्रकाश चन्द्र जी), किन्तु आज एकदम ही इन सभी के मुह से उनके खिलाफ कुछ न कुछ चला ही आता है, और ये बेचारे लेखक उन्हे ही कोसते है और 'हमने गलती की' कहकर बरी हो जाते है। राम विलास जी गलत थे या ठीक वे इस प्रकार तुच्छ नहीं थे और न आज है। प्रगतिवादी आज जो अचानक ही 'उदार' हो चले है, यह उनकी अमौलिकता का ही प्रमाण है।

× × ×

नूतन रहस्यवाद में हमने देश-काल जैसे गम्भीरतम और अनिर्णीत विषय को स्पर्श किया है, जो स्पष्टत. एक बडी हिमाकत है, किन्तु अपनी और पुस्तक की सीमाओ को पहिचानते हुए भी यह करना मुझे आवश्यक-सा प्रतीत हुआ। आज नूतन रहस्यवादी जैसे दार्शनिक शब्दों और छलनाओ का प्रयोग कर अस्पष्टता और भ्रान्ति उत्पन्न कर रहे है, उसकी अस्पष्टता, व्यर्थता और निर्धनता को स्पष्ट करने के लिए ऐसा करना अवश्यम्भावी सा हो गया था। आईंस्टाइन की नवीनतम खोजे, जो उसने १९५० मे पूरी की है और जिन्हें उसने (Generalized Theory of

Gravitation) का नाम दिया उनके है, और पुरानी स्थापनाओ के आधार पर हमे देश काल की गम्भीर उलझनो मे फॅसना यहाँ अभीष्ट नही था, इस विषय पर तो अलग एक पुस्तक ही लिखनी होगी ।

× × ×

अन्त मे मुझे पन्त जी के लिए भी दो शब्द कहने चाहिएँ ही । मैने पन्त जी के काव्य की आलोचना करते हुए काव्य के साधारण लक्षण पर ही उसे घटित करने का प्रयास किया है; उनके विचारो को हमने पृथक अध्यायो मे देखा है । निःसन्देह उनका ऐतिहासिक दृष्टि से बडा महत्व है; छायावाद और प्रगतिवाद इन दोनो को ही इनकी देन महान् है और इतनी सर्व-स्वीकृति कि उसकी चर्चा का कोई विशेष अर्थ नही रह जाता ।

आशा है, इस Finishing Touch से मेरे विचारो को समझने मे कुछ अधिक आसानी होगी ।

परिशिष्ट

पन्त के आलोचक

श्री सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य को लेकर इधर बहुत कुछ लिखा गया है, तो भी मैंने इन्ही महाकवि को अपनी आलोचना का विषय चुना। इसके दो मुख्य कारण है—प्रथम तो यह कि इन्होने तीन दिशाओ—छायावाद, प्रगतिवाद और नूतन रहस्यवाद मे काव्य निर्माण किया और जिस दिशा को छोड़ा उसे जीवन-जगत् के प्रति अपूर्ण और गलत बताया। इससे मुझे तीनो दिशाओ के आधार भूत कारणो पर प्रकाश डालने का अवसर भी मिला और साथ ही पन्त जी के एतत् सबन्धी विचारो की आलोचना से इधर फैल रही (मेरे विचार मे) भ्रान्तियो को स्पष्ट करने का सौभाग्य भी। दूसरा और प्रधान कारण था पन्त जी के आलोचको से मेरा गहरा मतभेद, इसी से इस अध्याय को भी मैंने पृथक् रखा है।

मेरे विचार मे हिन्दी-साहित्य मे कोई भी प्रामाणिक आलोचना पुस्तक नहीं है क्योंकि कहीं भी मूल्यांकन का निश्चित् मानदण्ड नही, प्रायः आलोचकों का तो यही पता नही चलता कि उनका आधार भूत दृष्टिकोण क्या है। प्रायः ही हमारा आलोचना साहित्य प्रशस्तियों से आगे नहीं बढ़ा। इधर डा० देवराज की 'छायावाद का पतन' पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसमें एक मानदण्ड है और स्पष्ट दृष्टिकोण है। मतभेद के बावजूद मै समझता हूँ वह इस ओर एक अच्छा प्रयास है।

आज हम उग्रतम संक्रान्ति के युग मे से गुजर रहे है; हमारे देश के वातावरण मे अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गई है; हमारा साहित्य भी इससे बच नही सकता। प्रगतिवाद आज कुछ इस प्रकार अप्रगति के गर्त मे जा पड़ा है कि उससे अब आशा करना दुराशा मात्र है। इसका अधिकतर उत्तरदायित्व उत्तरदायित्वहीन और अध्ययन-शून्य आलोचको पर ही है।

भारत के 'आजाद' होते ही प्रायः कवि और आलोचक सरकारी कर्मचारी हो गए—बिहार-यू० पी० और दिल्ली का शायद ही कोई लेखक हो जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पुरस्कृत न हो। शेष या तो आधीन कर्मचारी बन गए है या फिर यूनिवर्सिटियो की परीक्षाओ के लिए लिखते है। ये लेखक, प्राय. बहुत निचले स्तर के है—उनमे इससे अधिक लिखने की योग्यता भी नही। एक अभिशाप हमे और भी मिला है---वह है पार्टीबाजी। यह पार्टीबाजी अगर प्रगतिवाद-छायावाद आदि तक ही सीमित रहती तो भी गनीमत थी, किन्तु यह छोटे छोटे अखाडो के रूप में है। ऐसी अवस्था मे आप जो भी चाहे गन्दा सडा लिखे आपकी प्रशसा और निन्दा होगी ही; यही कारण है कि आज अनेकानेक अयोग्य और निकृष्ट व्यक्ति 'बडे' साहित्यिक या 'बड़े' आलोचक है।

ऐसे समय में कुछ ऐसी प्रकाशन सस्थाओं की आवश्यकता थी जो अच्छी कृतियों को प्रोत्साहित करती और निकृष्ट कृतियो को निरूत्साहित। साहित्य सम्मेलन, काशी नागरी प्रचारिणी और साहित्यकार ससद से ऐसी कुछ आशा की जा सकती थी। का० ना० प्र० के लिए मै कुछ विशेष नही जानता; सा० स० का जहाँ तक सम्बन्ध है वह अपना कार्य बहुत दूर तक सफलता और ईमानदारी से नही कर पाया; तीसरी और नवीनतम संस्था सा० का० स० ऐसा प्रतीत होता है, किसी भी हित साधन के योग्य नही। उस पर जितना रुपया सरकार ने बर्बाद किया है उतना यदि ठीक प्रकार से खर्च किया जाता तो समस्या काफी दूर

तक सुलझ जाती तो ऐसे समय मे किसी लेखक से उच्च कोटि के साहित्य की आशा ही व्यर्थ है।

पन्त सम्बन्धी आलोचना के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। पन्त काव्य पर मेरी पुस्तक के अतिरिक्त मानव की तथा नगेन्द्र जी की दो पुस्तकें और है। एक श्रीमती शचीरानी गुर्टू द्वारा सकलित की गई है। इनके अतिरिक्त किसी पुस्तक के विषय मे मै नही जानता। जहाँ तक नगेन्द्र जी की पुस्तक का सम्बन्ध है, वह बहुत पुरानी है और कहा जाता है कि तब नगेन्द्र जी अभी विद्यार्थी ही थे। सम्भव है आज वे अधिक अच्छी पुस्तक लिख पाते, किन्तु इधर के उनके निबन्ध सग्रहों से और उल्लिखित पुस्तक मे ही नये जोडे हुए अध्याय से यह आशा नही की जा सकती। इन निबन्धों का स्तर ही नहीं दृष्टिकोण भी वही है जो एक युग पूर्व 'पन्त' पुस्तक लिखने के समय था।

जहाँ तक मानव जी की पुस्तक का सम्बन्ध है, वह उन्होने बचपन में नही लिखी, जब यह लिखी गई तब वे प्रोफेसरी से भी आगे आ चुके थे। किन्तु कहा जाता है कि वह 'बाला नामृ हित बोधाय' लिखी गई है; यदि यह न भी हो तो भी इसकी यह ठीक आलोचना है। सम्भव है, यदि वे स्वतंत्र रूप से लिखते तो यह अधिक अच्छी होती, किन्तु पुस्तक को पढ कर ऐसा प्रतीत होता है जैसे लेखक का विश्वास ऊँचे स्तर में नही है; 'महादेवी की रहस्य-साधना' भी तो इसी प्रकार की है? फिर यहाँ प्रश्न स्तर का ही नहीं दृष्टिकोण का भी है। उनके 'पन्त और उनका युग', 'छायावाद', 'प्रगतिवाद', रहस्यवाद' इत्यादि अध्याय उपहासास्पद रूप से या तो दूसरों के उद्धरणो के संकलन है और या उथली बातो के सग्रह। उदाहरणार्थ प्रगतिवाद निबन्ध में उन्होंने 'वोल्गा से गगा तक' की कहानियों मे एक साथ पांच पृष्ठ रँगे है। 'छायावाद' तीन-चौथाई दूसरों के

उद्धरणो से पूरा किया गया है। इतना ही नही, उन्होने छायावाद तथा रहस्यवाद अध्यायो मे जो पद्य उदाहरणार्थ उद्धृत किए है वे न केवल वैसे ही ठीक नही उनके अपने लक्षण के अन्तर्गत भी नही आते। "पन्त का छायावादी दृष्टिकोण" मे उद्धृत दो पद्य देखे—

जग के अनादि पथ दर्शक वे, मानव पर उनकी लगी दृष्टि
'युगान्त'

मिट्टी की सौंधी सुगन्ध से, मिली सूक्ष्म सुमनों की सौरभ,
रूप, स्पर्श, रस, शब्द, गंध की, हरित धरा पर झुका नील नभ
'स्वर्णकिरण'

इन दोनो पद्यो के लिए छायावाद का सामान्यतम विद्यार्थी भी कह सकता है कि ये छायावाद के अन्तर्गत नही आ सकते, क्योकि प्रकृति मे न तो यहाँ आत्मभाव का छायाभास है और न वह लाक्षणिक और छायाभ अभिव्यक्ति जो छायावाद की विशेषता है। मानव जी ने यहाँ 'तारक की दृष्टि' देख कर और दूसरे मे शायद 'झुके नीलनभ' को देख कर इसे व्यक्तित्व का आरोपण समझ लिया और इसे छायावाद की सज्ञा दे डाली। यदि ऐसा ही छायावाद होता है तब तो केशव का पचवटी प्रसग, जिसमे वह पंचवटी को पाडवो की उपमा देता है, इससे कही बडा छायावाद है। और फिर मनुष्येतर सभी प्राणी भी तो जीवन युक्त है, उन पर तब कोई भी कविता छायावाद होनी चाहिए। इसी प्रकार उन्होने 'पन्त की रहस्य वृत्ति' मे भी जहाँ तहाँ से पद्य उठा कर उन्हे रहस्यवाद कह डाला है। जैसे—

जगजीवन में उल्लास मुझे, नव आशा नव अभिलाष मुझे
इत्यादि,

बरसो सुख बन, सुखमाबन, बरसो नव-जीवन के घन।
इत्यादि।

आज स्वप्न को सत्य, सत्य को स्वप्न बनाओ,
निखिल कर्म को ज्ञान, ज्ञान को कर्म बना भवमूर्ति सजाओ
आज विश्व को व्यक्ति, व्यक्ति को विश्व बना जग-जीवन लाओ इत्यादि
युगवाणी

नित्य कर्म-पथ पर ततपर धर, निर्मलकर अन्तर,
पर सेवा का मृदु परागभर, मेरे मधु-संचय में।
गुंजन

संघर्षों में शान्ति बनूं मैं।
युगवाणी इत्यादि

ऐसे उद्धरण जितने चाहे इस पुस्तक से दिये जा सकते है जिन्हे रहस्य वृत्ति में रखा गया है। मानव जी का रहस्यवाद का लक्षण यदि बिल्कुल ठीक और पूर्ण मान लिया जाए तो भी इन उद्धरणों को रहस्यवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। रहस्यवाद का उनका लक्षण है "आत्मा और परमात्मा की प्रणयानुभूति को रहस्यवाद कहते है।" (पृ० ११५) स्पष्ट है कि उद्धृत पद्यों मे न तो आत्मा है, न परमात्मा, न प्रणय और न अनुभूति, तब इन्हें रहस्यवाद कैसे कहा जाए ? क्या मानव जी को इन पद्यों का अर्थ समझ में नही आया या अपने ही वाक्य का ? अब उनके रहस्यवाद के इस लक्षण को भी जरा देखें। पहिले प्रश्न उठता है.— आप आत्मा और परमात्मा का क्या लक्षण मानते है ? पंचतत्र की ऐसी अनेक कहानिया उद्धृत की जा सकती है जिसमें कोई कव्वा, गीदड़ या कोई अन्य आत्मा परमात्मा से प्रेम कर रही हो, आप उसे रहस्यवाद मानेंगे ? यदि इस लक्षण की उपहासास्पद स्थिति को कुछ कम भी कर दिया जाए

तो भी इस लक्षण के अन्तर्गत सारा भक्ति-साहित्य आ जाएगा। इसी प्रकार छायावाद, प्रगतिवाद इत्यादि के लक्षणो का भी हाल है। उनके लक्षण ही अपूर्ण और गलत नही है, कोई आधारभूत दृष्टिकोण भी नही जो पुस्तक मे एक सूत्रता रख सकता। यो लक्षण उन्होने शायद सभी के दिए है, किन्तु किस आधार पर ? यह स्पष्ट नही; वास्तव में कोई आधार है ही नही।

प्रगतिवाद निबन्ध मे प्रगतिवादियों पर कुछ आपत्तिया की गई है, किन्तु यह नही बताया गया कि दूसरे क्या कर रहे है ! प्रगतिवादियों मे कुछेक ने कुछ वीभत्स कविताएँ लिखी थी अवश्य, किन्तु युग बीते जब उन्होने ऐसी कविताओ का प्रतिषोध कर दिया था; अतः आज उन पर अश्लीलता का आरोप व्यर्थ है। और यदि आपकी दृष्टि इतनी ही तीव्र है तो पन्त जी के रजस्राव से पूत रहस्यवाद को ही देखते ! इस निबन्ध मे एक भी शब्द उन्होने ऐसा नही लिखा जो इलाचन्द्र और धर्मवीर भारती सगम मे न लिख चुके हों।

'पन्त की प्रगतिशीलता' मे उन्होने पन्त जी को पूर्णत प्रगतिशील सिद्ध किया है, किन्तु प्रगतिशीलता वे किसे समझते है, यह नही बताया। यदि वे 'पुलिस की निगाहो से बचना और जेल से डरना' ही कवि कर्म मानते है, जैसे कि उन्होने लिखा है, तब तो वे पूर्णत. प्रगतिशील है, नही तो प्रगतिशीलता के लिए उनके काव्य में कम ही सम्भावनाए है। यदि मानव जी की यह बात हम मान ही ले कि 'पन्त जी प्रगतिशील है' तो भी प्रगतिवाद के बाहर वे कहा तक है और भीतर कहा तक, ये सीमाए भी तो स्पष्ट करनी चाहिए थी। एक स्थान पर वे लिखते है "साम्यवादी विचार-धारा को जो उन्होने स्वीकार किया था वह लोक-कल्याण की भावना से ही। जब उन्होने देखा कि यह विचार धारा अपने मे पूर्ण नही है, इसमे बहुत सी कमिया है तो उन्होने उसे पूर्णता देने के लिए और उन कमियो को

पूरा करने के लिए अन्य मनीषियो और चिन्तको की विचार धारा को अपनाया ।" सो तो बहुत अच्छा किया । किन्तु मानव जी इससे स्वय ही चोक भी पड़े और कहा "कोई पूछ सकता है तब पन्त जी की मौलिकता इस में कहां है ? पर कवि यही नही रुक जाता । उस की दृष्टि इससे कहीं व्यापक है । उसका कहना है कि सत्य इस समन्वय से बहुत बडा है । वह व्यक्ति-विश्व, स्थूल-सूक्ष्म से परे है ।" (पृ० २०९) अब बताइये इसका अर्थ क्या बना ! मानव जी को अपने वाक्य फिर पढने चाहिए—'सत्य इस समन्वय से बड़ा है ।' अर्थात् यह समन्वय या समन्वित सिद्धान्त सत्य नही। यदि यही बात है तो इस माया को छोड़ क्यो नही देते ? और वह बडा सत्य है क्या बला ? जो न स्थूल है और न सूक्ष्म है ?खूब कही, इसका अर्थ पन्त जी को तो भले ही पता हो मानव जो को तो बिल्कुल भी नही पता—यह दावे से कहा जा सकता है । मान लो कि मानव जी को भी इसका साक्षात्कार हो गया है, तो इसमें वे पन्त जी की मौलिक देन क्या समझते है ? जहा चाहें आप इस वाक्य को अरविन्द के उपदेशो में देख सकते है । नूतन रहस्यवाद में हमने जो अरविन्द का उद्धरण दिया है. उसमे भी यही बात कही गई है—मानव जी देख सकते हैं । यदि ऐसा हो तब तो मानव जी मानते है कि पन्त जी का कुछ मौलिक नही ?

मानव जी को यह स्वीकार करना चाहिए था कि पन्त जो ने अरविन्द के दर्शन को अपनाया है, इसमें बुराई क्या है ? सभी नया दर्शन बनायें, यही तो मौलिकता नही ? पन्त जी की मौलिकता उस दर्शन को—चाहे वह गलत है या ठीक—अनुभूति में ढालने में थी— जो वे नहीं कर सके ।

अब जरा हम मानव जी के पन्त-काव्य पर भी विचार देख लें। यहां भी वही कमी है—लेखक ने कहीं भी पन्त काव्य में कोई कमी नही दिखलाई; एक दो जगह 'अनुभूति की कुछ कमी है' कह देना कोई महत्व नही रखता । और सच पूछो तो उन्होंने प्रशसा भी बडी बेतुकी की है ।

उन्होने उनके काव्य पर लिखा ही इतना कम है कि उतने मे अच्छी प्रकार अध्ययन कर सकना कठिन है। खैर, जो भी लिखा है उसे तो हम देख सकते ही हैं। 'पन्त और प्रकृति' निबन्ध मे उन्होने लिखा है "वीणा में छाया का वर्णन चार पक्तियो मे है। पल्लव मे उसी छाया का उसी प्रकार का वर्णन सौ पक्तियो मे। नक्षत्र, वीचिविलास आदि रचनाएं सीमा से अधिक वर्णनात्मक हो गई हैं। भाव पक्ष जैसे दब गया है। भाव यदि कही झलक मारता है तो कल्पनाओ के भीतर से ही। यहा प्रकृति के सम्पर्क मे आकर बड भारी आनन्द का अनुभव कवि करता है।" इन वाक्यो को अब आप देख जाए, साथ ही अन्तविरोध भी है। स्पष्ट है कि मानव जी को स्वय नही पता कि वे क्या कह रहे है। इससे कोई भी अनुमान नही लगा सकता कि छाया मे क्या कमी है, और कोई कमी ही है या अच्छाई है ? और भी देखे—"स्वर्णकिरण मे प्रकृति के प्रति लिखी गई कविताए भिन्न प्रकार की है। वर्ण्य-विषय है—हिमालय, समुद्र, सूर्य, कौआ आदि। हिमालय पर जो रचना है उसमे व्यक्तिगत सम्पर्क, व्यक्तिगत अनुराग और व्यक्तिगत सबध की अधिक गंध झलकती है।" इसे पढ कर पाठक समझेगे यह कविता बडी सरस और महत् होगी, किन्तु यह कितनी नीरस और कही कही वीभत्स भी है, यह हम पीछे देख ही आए है। आप दो पंक्तियां जोड़ दे जिसमे आप लिखे कि "मै, ओ पर्वत, तुम्हारा बडा आदर करता हूँ, मुझे तुम से बहुत अनुराग है।" इससे आपकी वे पक्तिया सुन्दर कविता नही हो जाएगी और न उनमे व्यक्तिगत अनुराग की गध झलकेगी। पन्त जी ने यह सब कहा तो है, किन्तु उस मे उतनी अनुभूति भी नहीं जितनी हमारे हृदय में उस स्थान के प्रति होती है, जहा हम दो दिन अतिथि रहे हो। इसी प्रकार "पूषण या कौवे के प्रति कविता से उपयोगिता की भावना या उपदेश वृत्ति झलकती है।" इससे किसी भी प्रकार का अनुमान नही लगाया जा सकता कि ये कविताएं कैसी होगी।

इससे तो कुछ ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये कविताए कुछ नीरस होते हुए भी साधारणतः अच्छी हो, किन्तु हम स्वर्ण किरण की आलोचना में देख आए है कि ये कविताए न केवल कविताएं ही नही सार्थक वाक्य भी नहीं। केवल एक उद्धरण और देकर हम इस पुस्तक को यहीं छोड़ देंगे। मानव जी अब 'आज रहने दो यह गृह-काज' की आलोचना करने लगे है—

"आज रहने दो यह गृह-काज,
प्रेयसि, रहने दो यह गृह-काज,

"कवि ने आज अपनी प्रेयसी को एकान्त में पाया है। अपने घर पर पाया है या प्रेमिका के घर पर, यह नही कहा जा सकता। कवि का घर तो ऐसा रहा नही जहा नित्य कोई गृह-काज सँभालता। अत. ऐसा लगता है कि घर प्रेमिका का ही है।" इसे जरा ध्यान से पढ़े तो प्रतीत होगा कि यह बात कितनी उपहासास्पद है। यह सभी जानते है कि गुजन की ऐसी कविताए एक दम कल्पित हैं, जैसे भावी पत्नी के प्रति, तेरे नयनों का आकाश-इत्यादि। यदि कल्पना न भी हो तो भी यह वितर्कना कि घर किसका है, खूब मजेदार है, क्योंकि यह कवि ने प्रेयसी के सामने गिड़गिडाते हुए तो कहा ही नहीं, कल्पना करके ही लिखा है। उन्होंने तो यहा तक लिख डाला कि कवि का घर इस तरह का है और उसमे एसा कोई काम नही रहता। इतना ही नही, आगे मानव जी ने नवविवाहितों के क्रिया-कलाप का पूरा लेखा जोखा दिया है और उसमें पूरा आनन्द लिया है। इस कविता पर उनकी यह मधुर टिप्पणी दो पृष्ठों से भी अधिक की है। एक रसिक युवक के शब्दों में तो "ऐसी फर्स्ट-क्लास आलोचना उसने कहीं भी नहीं देखी।"

और भी "स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को लेकर ग्राम्या मे एक बड़ी मनोरंजक रचना है—नाम है द्वंद्व प्रणय। इसमें कवि न कहा है कि नर नारी

के बीच चुम्बन व्यापार वैसे ही खुलकर चलना चाहिए जैसे प्रकृति के जीवों मे होता है। पाठको और कवि के बीच मैं अधिक देर खड़ा होना नही चाहता। सुनिये तो पन्त जी क्या कह रहे है ?" इसके बाद सारी कविता उद्धृत की गई है, और फिर "यह रचना हमे जो सतोष प्रदान करती है उसका कारण यह है कि यह हमारे चिरसचित असतोष को व्यक्त करती है। × × × एक नवयुवक और एक नवयुवती एक दूसरे से प्यार करने को बढते है × × × खुल कर प्यार करना और खुले मे प्यार करना दो बातें है। पन्त जी का कहना है कि चुम्बन, आलिंगन और मैथुन आदि वैसे ही होना चाहिए जैसे पशु-पक्षियों मे होता है— अर्थात् "खुल्लम खुल्ला" इत्यादि। यह मजेदार टिप्पणी पूरे दो पृष्ठो की है किन्तु उसका अर्थ क्या है ? इस 'आनन्दानुभूति' से बाहर निकल कर मानव जी ने इसका विरोध इस आधार पर किया है कि प्यार खुला तो करना चाहिए किन्तु खुल्लमखुल्ला नही। क्योकि इससे वह आनन्द नही रहता। किन्तु प्रश्न यहा खुले या खुल्लमखुल्ले का नही यहां प्रश्न सैद्धान्तिक है। पन्त जी का अभिप्राय खुल्लमखुल्ले से नही है, वे तो प्राकृतिकवाद का समर्थन कर रहे है, अत इसका विरोध उसी स्तर से होना चाहिए— जैसा कि हमने पीछे 'प्र० वा० पन्त के विचार' अध्याय मे किया है।

इस तरह से यह स्पष्ट है कि मानव जी की यह पुस्तक बिल्कुल भी सराहनीय नही। यदि इसकी ठीक तरह से आलोचना की जाए तब तो एक छोटी-मोटी पुस्तक ही तैयार हो जाएगी, अतएव हमने विशेष विशेष स्थलो को ही देखा है, जिससे प्राय. सब प्रकार के अध्यायों की आलोचना हो सके, यद्यपि बहुत से अध्याय छूट गए है।

दूसरी पुस्तक नगेन्द्र जी की है। इस पुस्तक का स्तर तो मानव जी की पुस्तक से भी अधिक नीचा है। यदि यू कहा जाए कि मानव जी की पुस्तक एफ० ए० के विद्यार्थियों के लिए है तो नगेन्द्र जी की पुस्तक हायर

सैकण्ड्री परीक्षा में नियत की जा सकती है । छायावाद, प्रगतिवाद इत्यादि के सम्बन्ध मे भी उनके निबन्ध ठीक इसी स्तर के है ।

दूसरी बडी कमी आधारभूत दृष्टिकोण की है, जो मानव जी मे भी है । छायावाद निबन्ध मे वायवी कल्पनाओ की प्रशंसा है तो प्रगतिवाद मे ठोस यथार्थवाद की । यदि युगस्थिति की सापेक्षता का बहाना कर इसे उचित भी सिद्ध किया जाए तो भी लेखक का एक आधारभूत दृष्टिकोण तो होना ही चाहिए जिस पर वह किसी बात को गलत या ठीक या सामान्य कह सके ? गाधी जी भी प्रशसनीय है और भी मार्क्स, किन्तु जो व्यक्ति उन दोनो के सिद्धान्तों की भी एक साथ प्रशंसा करता है वह या तो उनको ठग रहा है या स्वय कुछ नही समझता । इन दोनो आलोचक पुगवो ने पन्त जी समेत यही किया है ।

दोनों ही आलोचकों ने पन्त जी के भौतिक-आध्यात्मिक (प्रगतिवाद में) तथा आध्यात्मिक भौतिक (नूतन रहस्यवाद मे) के समन्वयो की मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है, किन्तु किस आधार पर ?—यह स्वय लेखकों के दिमागो मे भी स्पष्ट नही; यदि कुछ ऐसी बात होती तो वे कभी भी इन समन्वयों के समर्थन जैसी फिजूल बातें न करते । नगेन्द्र जी ने तो सरे-आम स्याही की बूंद से लेकर सिगरेट के खाली डिब्बे तक और 'चीटी' से लेकर 'रजत जघनो मे रजस्राव' तक पन्त जी का साथ निभाया है; उन्होंने उनकी विचार धारा या भावधारा मे अन्तर्विरोधो का तथा अनुभूतिशून्यता इत्यादि का कही उल्लेख तक नही किया । जैसा कि हमने खूब अच्छी तरह से विश्लेषण करके दिखाया है पन्त के विचारों मे कही भी न तो तर्क शृंखला है और न स्पष्टता, वे केवल धारणाएं है जिनमें निरन्तर अन्तर्विरोध है । मानव जी ने भी इस ओर नगेन्द्र जी से आगे कदम नही रखा ।

नगेन्द्र जी भी मानव जी के समान ही कभी कभी इस बात तक का ज्ञान खो देते है कि उनके कथन का क्या अर्थ हो सकता है । जैसे वे कहते हैं "पन्त के व्यक्तित्व मे वह कठिनता और दृढता नही है जो मार्क्सवादी दर्शन के लिए अपेक्षित है ।" इसे पढ कर कोई भी पाठक यह नही समझेगा कि यह पन्त जी की प्रशसा है, किन्तु नगेन्द्र जी प्रशसा ही कर रहे है, कम से कम उनकी कमजोरी नही बता रहे, यदि ऐसी बात न होती तो उन्होने उनके आध्यात्मवाद की निन्दा की होती । ध्यान रहे, यह उन्होने तब नही लिखा था जब वे अभी 'बच्चे' थे, यह 'प्रौढ' आलोचक नगेन्द्र का अभी का लिखा है जो 'पन्त' पुस्तक मे नया जोड़ा गया है । तो भी उन्होंने मानव जी की तरह छायावाद या रहस्यवाद के नाम से ऐसे पद उद्धृत नही किये जिनका इन वादो से दूर का भी सम्बन्ध न हो ।

अब जरा आप उनकी पेशे अदायगी भी देखिये; यहा वे पहिले ज्योत्स्ना से एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—"जिस प्रकार यह पृथ्वी बाहर से एक है उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट् सस्कृति की आवश्यकता है ।" अब नगेन्द्र जी स्वयं आते हैं—"ये सभी विचार प्रौढ चिन्तन और अध्ययन के फल स्वरूप है और बडे ही सशक्त शब्दो मे अभिव्यक्त किये गए है ।" भला इस टिप्पणी के लिए आपकी ही क्या आवश्यकता थी ! यह तो कोई भी लिख देता ! अब पाठक जरा देखे कि पन्त जी के इस वाक्य मे अध्ययन कितना है । "जिस प्रकार पृथ्वी बाहर से एक है ।" पृथ्वी से अर्थ क्या भूगोल से है ? उसका बाहर से क्या एक है ? उसके निवासी बाहर से एक है , या उसका धरातल बाहर से एक है या उसकी प्रतीति बाहर से एक है ? इसी प्रकार 'भीतर' से क्या अभिप्राय है ? भीतर यदि चेतना के लिए है तब तो केवल मनुष्य हो के लिए पृथ्वी कथन किया गया है जो बिलकुल फिजूल है । इस वाक्य का यदि कोई अर्थ लगा भी लिया जाए तो भी इसमे अध्ययन-और मनन

की क्या बात है ? १९वी २०वी शताब्दि का शायद ही कोई शिक्षाप्राप्त मनुष्य हो जिसे बाहर-भीतर की एकता और विराट् सस्कृति की 'आवश्यकता' का पता न हो । रवीन्द्र और विवेकानन्द की शायद ही कोई उक्ति हो जिसमें इस विषय पर न कहा गया हो । इसी प्रकार वे गुजन की कविताओं के लिए कहते हैं कि "वे मनन की वस्तु हैं—निर्झर मे दार्शनिक गाभीर्य है," इत्यादि । मेरे विचार में एक एक पक्ति की ऐसी टिप्पणिया आलोचना का सब से अधिक भद्दा तरीका है । पाठकों को दर्शन का नाम लेकर ऐसे ही डरा दिया जाता है, जब कि दर्शन का वहां नाम तक नहीं होता । इस तरह से पाठक के विश्वास का अनुचित लाभ उठाया जाता है । 'मनन की वस्तु है' कहने के लिए आलोचक को पूरी बात बतानी चाहिए कि वस्तु है क्या ! इस तरह तो कोई भी उल्टी बात 'मनन' की वस्तु है !

अब जरा हम उनका पन्त के काव्य का अध्ययन भी संक्षेप में देख लें । उनके विचार में "छाया, नक्षत्र, स्याही की बूद" इत्यादि कविताए पल्लव की प्राण है । उनके शब्दो में ही लें "देखिये निम्न पक्तियो में छाया को मूर्त रूप देने के लिए कितनी सुन्दर अप्रस्तुत योजना हुई है—

'तरुवर के छायानुवासी' इत्यादि पंक्तियाँ

हम पीछे देख आए हैं कि छाया कविता एक दम कल्पना का व्यायाम है, और यह हमने इस प्रकार एक ही पक्ति में नही कह दिया, पूरे तर्क दिए हैं । किन्तु नगेन्द्र जी प्रस्तुत, अप्रस्तुत योजनाओं की 'छटा' में पाठक को छलना चाहते हैं । इसी प्रकार वे उछ्वास के लिए कहते हैं— "उछ्वास एक प्रौढ़ कृति है—हां इसमें तारतम्य की कमी बहुत खटकती है ।" तो प्रौढ़ता किस बात में है ? पाठक सच माने कि इससे अधिक एक भी शब्द उन्होंने नहीं लिखा । मान लो कि नगेन्द्र जी की बात इसी की इसी तरह ठीक ही है, किन्तु हम कैसे मानें कि यह ठीक है ? आवश्यक है कि

हम उनकी इस पंक्ति को वेद वाक्य की तरह रट ले, और बस ! हमने पीछे खूब अच्छी तरह से देखा है कि उछ्वास कविता मे तारतम्य का अभाव ही नही असगतिया भी है । नगेन्द्र जी की प्रौढ आलोचना का एक उदाहरण और ले—

"कल्पनाप्रधान रचनाओ मे हम वीचिविलास, विश्ववेणु, निर्झरगान, निर्झरी, नक्षत्र, स्याही का बूद" आदि की गणना कर सकते है । स्याही की बूद का चित्र देखिये कितना सच्चा (कहे सुहावना) उतरा है—

अर्ध निद्रित सा, विस्मृत सा,
न जागृत सा न विमूर्छित सा,
अर्ध जीवित सा औ मृत सा,
न हर्षित सा न विमर्षित सा ।
इत्यादि ।

किन्तु फिर भी छायावाद को कविता का जानी दुश्मन इसे कल्पना का अपव्यय कह सकता है ।"

यहा नगेन्द्र जी की खोझ देखने लायक है । किन्तु नगेन्द्र जी को जानना चाहिए कि इस कसौटी पर छायावाद का मित्र उनके सिवाय कोई नही निकलेगा क्योकि इस कविता को सभी ने कल्पना का अपव्यय कहा है ।

इसी प्रकार नगेन्द्र जी निम्न पद्य के लिए कहते है कि इसमे बादल का चित्र बहुत प्रभावशाली बन पडा है—

चमक झमकमय मंत्र वशीकर,
छहर घहरमय विष सीकर,
स्वर्ग सेतु से इन्द्र धनुष धर
कामरूपघनश्याम अमर ।

हमारे विचार में तो यह बादल की कल्पना भी नही देता। 'चमक झमक मय' पद न तो बिजली चमकने की चपलता लिए है, न बादल गरजने का गंभीर नाद। 'मन्त्रवशीकर' शब्द भी भयंकर काले बादलो के लिए सार्थक नही क्योकि इसमें कुछ कोमलता भी है और मंत्र से वश मे हो जाने की निर्बलता भी। यदि साप की उपमा ही देनी थी तो नाग या फनी जैसे किसी शब्द का प्रयोग होना चाहिए था। फुहार हो या भीषण वर्षा दोनो के लिए 'छहर घहरमय' प्रयोग सुन्दर नहीं लगता क्योंकि इसमें किसी भी प्रकार का न तो ध्वनि साम्य है न अर्थ सौन्दर्य—जब कि ऐसे शब्दों का प्रयोग ध्वनि साम्य को दृष्टि में रख कर किया जाता है। 'मय' शब्द तो और भी निरर्थक लगता है। इससे अपने पूर्व के शब्दों की थोडी बहुत ध्वनि भी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार विष सीकर का शीतल-मन्द फुहार के लिए प्रयोग करना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि न केवल विष का प्रभाव ही दूसरा होता है, कल्पना भी बड़ी अरुचिकर होती है। किन्तु पन्त जी ने मंत्रवशीकर को जो पकड़ लिया, इसलिये पूरा निभाएगे भी, चाहे अर्थ का कुछ भी अपघात क्यों न होता हो! इसी प्रकार घुमड़ते काले बादलों की उपमा कामरूप (रतिपति से सुन्दर) घनश्याम (कृष्ण) से देना और भी अधिक अनर्थ है। और फिर भला कृष्ण ने धनुष कब पकड़ा था?

ऐसे बादलों की उपमा तो कृष्ण-भूधर या उन्मत्त गदजल से देनी चाहिए, बांकेबिहारी से नही। मुझे तो 'अमर' शब्द की भी यहा कोई संगति नहीं दीख पडती सिवा इसके कि यह 'मंत्र-वशीकर' के साथ तुक भिड़ा देता है!

ऐसी अवस्था में न जाने किस आधार पर नगेन्द्र जी ने इसे सुन्दर चित्र कहा है। नगेन्द्र जी की पुस्तक से ऐसे उदाहरण कम से कम ५०

दिए जा सकते हैं। किन्तु विस्तारभय से हम इस पुस्तक को इसके अपने हाल पर ही छोड कर आगे बढ़ते है।

जहां तक मुझे ज्ञात है, पन्त साहित्य पर ये दो ही पुस्तके अभी तक प्रकाशित हुई है। कुछ आलोचको ने इधर उधर लेख लिखे है, जिनमे श्रीरामविलास शर्मा, नन्द दुलारे बाजपेयी, सुधाशु, इलाचन्द्र जोशी, शान्ति प्रिय द्विवेदी प्रमुख है। डा० देवराज ने 'छायावाद का पतन' मे पन्त पर यत्र तत्र कुछ लिखा है।

लेख प्रायः आलोच्य के किसी एक पहलू को लेकर ही लिखा जाता है, इसलिए उससे कुछ ठीक अनुमान नही लगाया जा सकता, फिर मेरे सम्मुख सारी सामग्री भी इस समय उपस्थित नही और शीघ्रता के कारण मै उपस्थित कर भी नही सकता। इसलिए इन लेखको के सामान्य दृष्टिकोण की चर्चा भर की जा सकती है।

उल्लिखित लेखकों में एक और डा० रामबिलास शर्मा हैं और दूसरी ओर अन्य सभी। वैसे डा० रामविलास ने भी पहिले पन्त जी की काफी प्रशंसा की है और उनके पल्लव, ग्राम्या, इत्यादि को महान् काव्य कहा है। किन्तु नवीन पुस्तको की उनकी आलोचना दूसरी ही प्रकार की है।

पल्लव की सराहना उन्होने कला और भाव दोनो ही दृष्टियों से की है, किन्तु वह छायावाद इत्यादि पर लिखते लिखते इधर उधर ही थोड़ा सा लिखा है। जहा तक ग्राम्या युगवाणी का संबन्ध है, उन्होंने इन्हें युग का नेतृत्व करने वाली कृतियां तक कहा है। मेरे विचार मे काव्य के प्रति उनका दृष्टिकोण एक विशेष आर्थिक या राजनैतिक सिद्धान्तो से अच्छादित रहता है, इसलिए उन्हे वह सब अच्छा लगता रहा है जो उस सिद्धान्त पर उनके विचार मे पूरा उतरता रहा हो। मै स्वयं उस सिद्धान्त का समर्थक हूँ किन्तु यह नही समझता कि काव्य की कसौटी उस सिद्धान्त की अमौलिक आनुवादिकता है। इस विषय पर मै अपने विचार स्थापना में

काफी विस्तार से स्पष्ट कर आयाहूँ। खैर, युग वाणीऔर ग्राम्या काव्य की दृष्टि से कैसी है इसे हम पीछे देख ही आए है, किन्तु यह सभी जानते हैं कि रामविलास जी ने उनकी प्रशसा चाहे किसी भी दृष्टि से की हो, उसे काव्य-पारखी दृष्टि नहीं कहा जा सकता।

इधर उन्होने स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि पर भी एक लम्बा-चौडा लेख हंस मे लिखा था। निश्चय ही वहां उनकी पैठ बडी गहरी, पकड़ मजबूत और शैली ओजपूर्ण है; मेरे विचार में पहिले पहिल उन्होने ही इन काव्यो पर आलोचना लिखी और उसमे इन दोनों पु स्तको की शव परीक्षा कर के रख दी। इन 'रहस्यवादी' काव्यो मे जो वीभत्स कामतृप्ति की प्रवृत्ति है, जो प्रवचनामूलक आध्यात्मवाद है, वह पहिले पहिल उन्ही के द्वारा सामने लाया गया। इसके साथ साथ यह कह देना भी अनिवार्य है कि उन्होंने अनेक स्थानो पर ज्यादती भी की है और खींचातानी भी। तीन-चार स्थानो पर तो पन्त जी का व्यर्थ न अपमा करने के लिए उन्होंने इधर उधर से पंक्तियां उठा कर ऐसे जोडी हैं कि उनका अर्थ ही बदल गया है या बदला गया है। जैसे 'हृदय दहनरे हृदय दहन' इत्यादि कविता काफी अच्छी है, (जैसा कि हम पीछे देख आए है) किन्तु उन्होने केवल इस पंक्ति को कविता से अलग कर इस प्रकार रखा है कि उसका अर्थ ही बदल गया है, वहा तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे पन्त जी ने वासना-वेग से जलते हुए यह पंक्ति लिखी हो, जब कि ऐसी बात नहीं है। वास्तव में उनके ऐसे किसी निर्णय को ठीक नहीं माना जा सकता। और न उस पर गम्भीरता से सोचना उचित ही है।

शेष आलोचको में प्रायः सभी ने पन्त जी के छायावादी काव्य की सराहना ही की है। कुछेक ने प्रगतिवादी काव्य को पन्त जी की आन्तर-कालिक दिग्भ्रान्ति कह कर छोड़ दिया है। डा० देवराज ने ग्राम्या को शायद उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति माना है, कम से कम उन्होने आचार्य शुक्ल

के इस कथन का कुछ समर्थन तो किया ही है । तो भी वे उनके प्रगतिवादी काव्य के लिए चुप से रहे है । क्रमश द्विवेदी, जोशी और सुधाशु तो पन्त जी के कुछ ऐसे समर्थक है कि उनसे किसी प्रकार की ठीक आलोचना की आशा ही व्यर्थ है । द्विवेदी जी, ऐसा लगता है, सदैव एक आध्यात्मिक पुलकन मे रहते है—अत्यन्त मधुर मधुर, और उन्हे पन्त-काव्य मे वह सब मिल जाता है जो वे चाहते है । वे कहते है कि पन्त जी की कला मे माधुर्य है, भावो में सौकुमार्य है और अनुभूति मे आध्यात्मिकता है—किन्तु एक आलोचक के समान नही, एक भक्त के समान । पन्त काव्य मे भी वे ज्योत्स्ना तक ही रहते है, अब शायद वे नवीन काव्य में भी रम रहे हो ।

इलाचन्द्र जी की शैली तूफानी है, किन्तु जो वे कहते है उसे जरा-सा ध्यान से देखे तो सब टाय टाय फिस । पहिली बात तो यह है कि वे जो कुछ कहते है उसमे कोई तर्क नही होता, या तो आदेश होते है या जोरदार समर्थन या विरोध । उन्होने आज तक जो भी लिखा है वह एक दम एक पक्षीय भावुकता है । वे जिसका समर्थन करेंगे—करेंगे ही, और जिसका विरोध करेगे उसके साथ किसी भी शर्त पर न्याय नही करेगे ।

पन्त जी के साथ उनका अच्छा खासा गठबधन रहा है और इसका उन्होने पूरा हक दिया है । उछ्वास की उन्होने खूब प्रशसा की है—सगम के पन्त जयती अक मे , किन्तु उसमे क्या प्रशसनीय है—यह आप नही बता सकते । स्वर्ण किरण इत्यादि को उन्होंने उपचेतन का विस्फोट कहा है, किन्तु इसमे उपचेतन की क्या बात है ? यह नही आप वहा पाएगे । उन्होने अपनी तरह का एक दर्शन भी चलाया है किन्तु उसके आधार-मे क्या तर्क है यह वहा पाना असम्भव है । 'नूतन रहस्यवाद' अध्याय मे हमने उनके 'साबुन का बुल्ला' लेख से कई उद्धरण देकर यह अच्छी तरह से दिखाया है । वे मनोवैज्ञानिक भी है और उनका दावा है कि उपचेतन का विस्फोट हमारे सामने नयी ही ज्ञानग्रथी खोलेगा और तब नवीन

चेतना का जागरण होगा। वैसे यह सिद्धान्त एक शताब्दि पुराना है किन्तु हिन्दी में इसके प्रवर्तन का श्रेय जोशी जी को ही है। इन्ही से प्रकाशकण लेकर पन्त, अज्ञेय आदि ने नूतन रहस्यवाद का प्रकाश विकीर्ण करना प्रारम्भ किया है।

सुधाशु जी के पन्त जी विषयक विचार मुझे 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' पुस्तक के 'अन्तदर्शन' मे ही पढने को मिले है, जो बहुत संक्षिप्त और थोड़े है। इतने थोडे मे कोई भी लेखक कुछ विशेष नही बता सकता।

इस निबन्ध में सुधाशु जी ने पन्त के छायावादी काव्य पर ही लिखा है। इतने में भी उन्होने पन्त के प्रकृति-काव्य पर ही अधिक समय दिया है और इस ओर उन्हें पूर्व सफल माना है। उन्होने पन्त काव्य मे अनुभूति की कमी की कुछ शिकायत भी की है अवश्य, किन्तु बहुत धीरेसे।

सुधांशु जी से सहमत या असहमत होने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता क्योंकि उन्होंने कुछ भी तो नहीं लिखा! तो भी उनका जितना जोर पन्त-काव्य की उत्कृष्टता पर है उससे मैं सहमत नही हूँ। करीब करीब यही बात श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के लिए भी कही जा सकती है।

डा० देवराज ने अपनी पुस्तक में छायावाद के कला पक्ष और भाव-पक्ष पर काफी तैयारी से लिखा है। उन्होंने पन्त जी की अन्य छायावादी कवियों के समान ही आलोचना की है, तो भी उन्हें ही सर्वोत्कृष्ट छाया-वादी कवि माना है। वे वास्तव में अन्य कवियों की अधिक सूक्ष्म और दुरूह कल्पना से इतने सहम गए कि पन्त जी की अपेक्षाकृत कम सूक्ष्म कल्पनाओं ने उन्हें आकृष्ट कर लिया। साधारणतः उन्होंने छायावाद सम्बन्धी कुछ विचित्र ही निष्कर्ष निकाले हैं—जैसे कामायिनी प्रसाद काव्य में भी सर्वोत्कृष्ट नहीं, और प्रसाद का स्थान भी वे काफी नीचे रखते हैं। और भी ऐसी ही अनेक बातें। सच बात तो यह है कि मुझे उस पुस्तक के मूल्यांकन का आधार ठीक तरह से समझ ही नही आया। उन्होंने बहुत

से पद्य पन्त जी की काव्य गत कमियां दिखाने के लिए उद्धृत किये है, और मै उनसे वहा प्रायः प्राय. सहमत ही हूँ, किन्तु अन्य कवियों को लेकर कही-कही मेरा उनसे मतभेद है। मेरा ख्याल है कि छायावाद की कमिया दिखाने के लिए उन्होने सब से अधिक पद्य पन्त से ही उद्धृत किये है तो भी उनका निष्कर्ष न जाने क्यों दूसरा है।

इस प्रकार हमने देखा कि पन्त के काव्य को लेकर प्रायः सभी आलोचकों ने उनकी काफी प्रशंसा की है। जहां तक विचारो का सम्बन्ध है—इस पर किसी ने ठीक तरह से लिखा ही नही। यदि लिखा भी होता, तो भी शायद प्रशसा ही की होती, जैसे कि नगेन्द्र और मानव ने की है। इसका क्या कारण है—मै नही कह सकता; मैने तो जो ठीक समझा उसे ठीक तरह से कह दिया है—उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, इसकी चिन्ता मै नही करता। जिस दिन कोई अन्य लेखक अधिक प्रमाण और तर्क देकर मुझे समझा सकेगा—मै अपना दृष्टिकोण बदलने मे देर नही लगाऊंगा। अब तक तो मुझे यही ठीक प्रतीत होता है। अस्तु।

नामानुक्रमणिका

अज्ञेय—१०, १८८, १८६, १८७, २७२, २७३
अंचल—३७, ४८, २३०
अरविन्द (योगी) २४६
अल्बर्ट आईस्टीन (Einstein) २५३
इलाचन्द्र—१३, ९७, १८०, २६०, २६८, २७५, ३४९
इलियट (टी. एस) ७, ४८, ४९
एक उर्दू कवि—११८
काडवैल (Caudwell) ४, ३१,
कीट्स (Keats) ३५, ८०, २३१,
कालिज—३८,
कालिदास—२३१, २९४,
कुमार सम्भव—३०४,
केनोपनिषत्—१३०
कामायिनी—३०६
गेटे (Goethe)—३५
गिरजाकुमार माथुर—१८१
गुलाबराय—३०१
गिरिधर कविराय—३०१
ग़ालिब—११२
गंगा प्रसाद पाण्डेय—१९४
चार्ल्स बोदेलेयर—३६
छोटे लाल भारद्वाज—१८२ २०१
जय प्रकाश नारायण—१६८,
जेम्स जींस (James Jeans) २४१
जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त—१५,
जैनेन्द्र कुमार—१७९
टेनीसन (Tennyson) १३०
त्रिशंकु—२, ११
दी यूनिवर्स एंड डा. आईस्टीन (The Universe and Dr. Einstein)—२९०
निराला—५३, ५६, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६७, ९९, १०५
डा. नगेन्द्र—८१, ९७, १२८, १९५, ३०१, ३४९, ३६६
नन्द दुलारे बाजपेयी—८१, ९७, १२२,
(आचार्य) नरेन्द्र देव—१६७, १७१,
नागार्जुन—१९०, १९१, १९३
नरेन्द्र शर्मा—१९२, १९३,
पन्त—४०, ५३, २७५

प्रसाद—४०, ५३, ५६, ५९, ६०, १०३, १०४, १२९, १४४, १५०, ३५७
प्रेमचन्द्र—२१४,
प्रकाश चन्द्रगुप्त—१९३,
प्रेमसागर शास्त्री—१९८,
फ्रायड—१३, १४, २७५
पहाड़ी—१९०
ब्राउनिग—(Browning) ११४
बर्कले— ३४,
बायरन—(Byron) ३५, ४९
बच्चन—४८, ९४
ब. रस्सल—(Russell) २४०
बर्गसा—(Burgson)२०५
डा. भगवान दास—५
महादेवी—७, ८, १०, १९, २०, ५४, ५६, ५९, ६२, ६४, ८२, २३०, २३२
मेघदूत—११, १०१, १४५, १४६, ३०४
मिल्टन—(Milton) ३८, ४०
मैक्समूलर—३९,
मार्क्स—(Marx) १६४, २०५, २३८,
माओत्सेतुग—१९२
मेरियन मो—१९८
मैलिनोवस्की (Malinowaski)' २८, ३०, ३१,
रामविलास शर्मा—२२, ९७,
रामकुमार वर्मा—८१,
राममनोहर लोहिया—१६८
डी० एच० लारेंस—६, ३६, ४८, ४९,
रवीन्द्रनाथ ठाकुर—३९, ५२, ५३, ५४, ५५, ७१, १०३, १४८, १५०, १५२, २३१
विद्यारव्य स्वामी—१५,
वर्डस्वर्थ—(Wordsworth) ३५,
विवेकानन्द—३९, ६९,
वाल्मीकि—२३१
व्यास—२३१
शकुन्तला—७, १०, २२७
शेली—(Shelley) ३५, ३६, ३८, ४०, ४९, ५३, ७०, ७३, १०५, २३१
शेक्सपीयर—३८, ४७
शकराचार्य—४५
शान्तिप्रिय द्विवेदी—९७, २३०
शभुनाथ सिंह—१८१
सुधाशु—५, ८१
स्पिनोजा (Spinoza) ३४,
सोवियत रूस—४१
सोसायटी (Society) ४२, १७८
समाजवादी—१६६
ह्विटमैन—(W) ३५,
हेगल (Hegel)
हजारी प्रसाद—५२, ५८, ७१,

शुद्धि-पत्र

पक्ति-सख्या मे गद्य-पद्य पृथक् रखे गए हैं।

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	९	रूपमात्रा	रूपमात्र
१४	३	अर्ध चतन	अर्ध चेतन
१४	२१	काममेवायम्	काम एवायम्
१६	९	विचारो संघर्ष	विचारो के संघर्ष
१९	१०	प्रति	अपना
२१	१	लक्ष्य	लक्ष
२१	८	अचेतनत्व	अचेतन तत्व
२१	१८	पदार्थो	यथार्थो
४३	११	विव्हल	विह्वल
४३	१९	चित्त	चित्
६८	३ (प्र० पद्य)	सी	सा
८७	४ (प्र० पद्य)	आने दो	जाने दो
८८	शीर्षक	असंगत दोष	असंगति दोष
९३	१९	ग्रथि	ग्रंथि
९८	१	जैसे पद्य मे	जैसे निम्न पद्य मे
९८	६ (प्र० प०)	झाग रे निर्झर	झाग भरे निर्झर
१०१	२ (प्र० श्लोक)	तर्क येस्तिर्यगम्न:	तर्कयेस्तिर्यगम्भः
१०१	१ (अं पद्य)	पत्तों	पत्रों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०३	२०	प्रतोत	प्रतीति
१२३	९	प्राकर्रणिक	प्राकर्णिक
१२५	९	अनहद वाद	अनहद नाद
१३४	६ (प्र० पद्य)	भरी	मरी
१३४	६ (अं प०)	धट	पट
१३६	१ (प्र० प०)	का	कर
१३८	३ (अ० प०)	सिरिसि	सिरिस
१३९	१४	प्रतिबिम्ब ताराकित नभ	प्रतिबिम्बित तार-कित नभ
१४०	१ (अ० प०)	पानो	पालो
१४३	२ (प्र० प०)	जिह्व क्षोण	जिह्व क्षोण
१४४	१० (प्र० प०)	धेसुध	बेसुध
१४५	१६	बर्तित	प्रवर्तित
१५४	२	निरर्णक	निरर्थक
१५४	१ (अं० प०)	मोर	भोर
१६२	१	मुकदो	मुकरी
२०८	३	विकऐसित	विकसित
२०८	६	सामजिक	सामाजिक
२३६	७	भावि	भावीं
२४५	७	धर्ममानो	वर्तमानो
२५०	१०	अन्तरति	आन्तरिक
२५४	१	ही	वही
२५७	७	वृत्ति	वृत्त
१६०	१६	अन्तर्विरोधियो	अन्तर्विरोधों

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६७	१	का भी	कामी
२९४	५	केन्द्रित की कामुक दृष्टि ओर	केन्द्रित कामुक दृष्टि की ओर
२९९	२ (अं० प०)	मोटे	पोटे
३१०	७	काव्य चेतना की संस्कृति-शब्द	काव्य-चेतना को संस्कृत शब्दों की
३१२	४ (पद्य)	शिखाएँ	शिराएँ
३१६	३ (पद्य)	पसिशावक	पक्षि-शावक
३२५	१ (पद्य)	फलों	फूलों
३२७	३ (पद्य)	लगते	सूने लगते
३२८	४ (२ पद्य)	गंधव्य जन	गन्ध-व्यजन
३३०	१४	ही	नही
३३५	९	क्षण जीवौ	क्षण जीवी
३३५	१२	चित्रांकरण	चित्राकित
३३७	१ (पद्य)	गोपना	गोपन
३५२	१३	निबन्ध न	निबन्धन
३५४	३ (पद्य)	भाव संगीत	मानस गीत
३५४	१	भौतिक	मौलिक
३६७	१५	आवृत्ति.	आकृति